CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

2.2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

परामर्श

(हिन्दी)

वर्ष २ . अंक २

मार्च १९८१

संपादक

र्लिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

※ पुणे विद्यापीठ के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका

※ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान–मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ✦ राजेन्द्र प्रसाद ✦ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ⌑ रमाकान्त सिनारी ⌑ विजय भारद्वाज ⌑ शारदा जैन
रमाकान्त त्रिपाठी ⌑ संगमलाल पांडे ⌑ आर्. बालसुब्रमणियन्
अशोक रा. केळकर ※ के. जे.शहा ※ नारायणशास्त्री द्रविड ※ के. सच्चिदानंद मूर्ति ※ जी. सी. नायक ※ ग. ना. जोशी ※ मोहनलाल मेहता ※ जे. फाईस ※ सुमन गुप्ता ※ रा. स्व भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ※ चन्द्रकान्त बांदिबडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : तत्त्वज्ञान विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :

संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६–००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२–००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८–००
	एक प्रति	रु. ०५–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–००
व्यक्तियों के लिए रु. २००–००

※ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रमाण और सैद्धान्तिक मतभेद

भारतीय दर्शनशास्त्रियों ने 'ज्ञान' और 'प्रमाण' अथवा 'मान' के बारे में अनेकानेक प्रश्न उठाये हैं और अपनी-अपनी दृष्टि से समाधान भी उन्होंने पेश किया है। इस लेख में मेरा उद्देश्य 'प्रमाण' अर्थात् 'मान' के प्रश्न का विवेचन करना है और इससे सम्बद्ध मान-विधान और सैद्धान्तिक मतभेद का भी। प्रमा और प्रामाण्य की बात जहाँ तक इस विषय से सीधे सम्बन्धित है वहीं तक करूँगा। अन्यथा नहीं।

जिन दार्शनिकों ने प्रमाण का प्रश्न उठाया है उन्होंने प्रमाण को या तो सम्यक् ज्ञान माना है अथवा उसे यथार्थ ज्ञान अर्थात् प्रमाण का साधन माना है। प्रायः जाने अनजाने प्रमाण को ज्ञान का साधन समझने में भी उन्हें कोई भूल नहीं दिखाई नहीं दी। कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि प्रमाण को (१) ज्ञान का साधन अथवा (२) यथार्थ ज्ञान का साधन, अथवा सम्यक् ज्ञान मान लेना प्रमाण के विषय में अलग-अलग मान्यताओं को प्रकट करना है। 'प्रमाण' का पहला, दूसरा, और तीसरा विश्लेषण एक ही बात नहीं है। यह इस प्रकार है।

यदि प्रमाण को ज्ञान का साधन मान लें और साथ ही यह भी मान लें कि अनुमान एक प्रमाण है तो उस स्थिति में अनुमान से उपलब्ध ज्ञान की प्रमा, यथार्थता, अथवा सम्यक्ता का प्रश्न बना ही रहेगा। क्योंकि ज्ञान मात्र को यथार्थ मान लेना तो सरासर भूल होगी। उस स्थिति में ज्ञान की यथार्थता अथवा सम्यक्ता को स्पष्ट करने के लिए हमें प्रमाण स्तर किसी अन्य मान (दण्ड) की आवश्यकता रहेगी। वह कहाँ से आयेगा ? किसी दूसरे प्रमाण से ? मान लीजिये प्रत्यक्ष प्रमाण से। तो उस स्थिति में भी प्रत्यक्ष से उपलब्ध ज्ञान यथार्थ अथवा सम्यक् है कि नहीं इस बात को तय करने के लिये किसी न किसी मान (दण्ड) की आवश्यकता रहती है। चाहे हम कितना ही आगे बढ़ते चले, प्रश्न बना ही रहेगा कि तो इस यथार्थता [illegible] ज्ञान का, दूसरे ज्ञान की सम्यक्ता का, मान क्या है ? इत्यादि। इस प्रकार, प्रमाण को ज्ञान का साधन समझ लेने की स्थिति में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपलब्ध ज्ञान की यथार्थता के मान के प्रश्न का अन्त कहीं भी दिखाई नहीं देता। इस से स्पष्ट होता है कि 'प्रमाण' को' ज्ञान के समानार्थक अथवा समतुल्य नहीं माना जा सकता। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि 'प्रमाण' की धारणा 'ज्ञान' की धारणा से अलग है; अतः प्रमाण का प्रश्न ज्ञान के प्रश्न से अलग है। यदि ऐसा है तो प्रमाण के प्रश्न का समाधान ज्ञान के प्रश्न का समाधान नहीं हो सकता।

यह कहने का मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि इन दो प्रकार के प्रश्नों में किसी तरह का सम्बन्ध ही नहीं। बहुत है। यदि ज्ञान नहीं है तो उस स्थिति में उपलब्ध ज्ञान के प्रमाण का प्रश्न ही नहीं उठता। भिन्नता यह है कि ज्ञान के प्रश्न का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक होगा, क्योंकि किसी वस्तु का ज्ञान हमें कैसे उपलब्ध होता है यह मनोविज्ञान का विषय है। उदाहरणतः बौद्धों ने इस प्रकार का विश्लेपण दिया है जब वे प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान के उपार्जन में चार प्रत्ययों– (१) आलम्बन प्रत्यय, (२) सहकारी प्रत्यय, (३) अधिपति प्रत्यय, और (४) समनन्तर प्रत्यय–का विवरण देते हैं। परन्तु, 'प्रमाण' के प्रश्न का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक नहीं है। वह तर्कशास्त्रीय अर्थात् प्रमाणशास्त्रीय प्रश्नों के विश्लेषण की परिधि में आता है। सच तो यह है कि वह नितान्ततः विज्ञान-दर्शन का प्रश्न है। अतः जिन भारतीय दर्शनशास्त्रियों ने 'प्रमाण' के प्रश्न का मनोविज्ञान के आधार पर विश्लेषण किया है, उन्होंने प्रमाण के स्वरूप को पहचानने में भूल की है ऐसी मेरी मान्यता है।

प्रमाण को ज्ञान का साधन नहीं माना जा सकता ऐसा मैंने ऊपर स्पष्ट किया है। क्या प्रमाण को यथार्थ अर्थात् प्रमा का साधन माना जा सकता है? यह प्रश्न उतना स्पष्ट नहीं है जितना यह ऊपर से लगता है। 'प्रमा' क्या है? यथार्थ ज्ञान। यथार्थ ज्ञान क्या है? जो तद्वति तत्प्रकारक अनुभव है वह यथार्थ ज्ञान है। यह मेरे नैयायिक दोस्त कहेंगे। मान लिजिए कि स्थिति यही है। तो प्रश्न उठता है कि प्रमा अर्थात यथार्थ ज्ञान का मान (दण्ड) क्या है? तद्वति तत्प्रकारकत्वम्? अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान आदि? यदि मीयतेऽनेनेति मानम् यह प्रमाण का लक्षण लें तो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि ही को प्रमा अथवा यथार्थज्ञान का मान कहना होगा। यही बात प्रमायाः करणं प्रमाणम् इस प्रमाण के लक्षण से भी सिद्ध होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रमायाः करणं प्रमाणम् तथा मीयतेऽनेनेति प्रमाणम् इन 'प्रमाण' अथवा 'मान' के दोनों लक्षणों से यही सिद्ध होता है कि प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान के मान (दण्ड) प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण ही हैं; तद्वति तत्प्रकारकत्वम् इत्यादि नहीं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तद्वति तत्प्रकारकत्वम् ही क्यों नहीं ? वह इसलिये कि किसी ज्ञान को तद्वति तत्प्रकारक कहने से उस ज्ञान की यथार्थता को लक्षित करना है। यह बताना है कि उस उपलब्ध ज्ञान में यह लक्षण प्राप्त होता है। किन्तु यह तो तभी सम्भव है जब हम उस लक्षण को जानते हों, जब हमें उसका ज्ञान हो। उस ज्ञान की प्रमा हम कैसे स्पष्ट करेंगे ? प्रत्यक्ष, अनुमान आदि मानों से ? अथवा किसी अन्य मान से ? उस ज्ञान की प्रमा यदि हम किसी अन्य मान से सिद्ध करते हैं तो या उस अन्य मान को—प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के अतिरिक्त—प्रमाण मानना पड़ेगा; अथवा उस अन्य मान के ज्ञान की प्रमा को—उसकी यथार्थता अर्थात् तद्वति तत्प्रकारकता को—किस मान से सिद्ध अथवा स्पष्ट करें ? यह प्रश्न बना ही रहेगा। इस बात से स्पष्ट होता कि तद्वति तत्प्रकारकत्वम् नहीं, अपितु प्रत्यक्ष, अनुमान आदि ही प्रमा अथवा यथार्थज्ञान के मान अर्थात् प्रमाण हैं। वे उसके साधन नहीं।

अब प्रमाण के दूसरे लक्षण प्रमायाः करणं प्रमाणम् पर विचार करें। इस में थोड़ी कठिनाई है। संस्कृत में तो नैयायिक 'करण' को व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम् कहेंगे। यह उनके कहने का ढंग है। यदि हम 'करण' को 'साधन' का समानार्थक मान लेते हैं—बहुतेरे दर्शन शास्त्रियों ने ऐसा ही किया है—तो मेरे सामने वही प्रश्न उठ खड़े होते हैं जिनका वर्णन मैंने थोड़ी देर पहले किया है। अतः मैं 'प्रमाण' के इस लक्षण प्रमायाः करणं प्रमाणम् को भी मीयतेऽनेनेति मानम् के समतुल्य समझने में ही स्पष्टता देखता हूँ। यदि मेरा इस प्रकार सोचना सही है तो कहना ही होगा कि 'प्रमाण' प्रत्यय को प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान के 'साधन' के प्रत्यय से स्पष्ट नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाण प्रमा अथवा यथार्थज्ञान के 'साधन' नहीं हैं; वे किसी उपलब्ध ज्ञान को प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान कहने के मान (दण्ड) ही हैं।

बहुत से दर्शन शास्त्रियों ने, उदाहरणतः शेरबास्की ने, धर्मकीर्ति के मत की व्याख्या करते हुए, 'प्रमाण' और 'ज्ञान' इन दो प्रत्ययों को अलग-अलग प्रत्यय माना है। ऐसा करना ठीक भी है। यह हम ऊपर कह आए हैं। धर्मकीर्ति केवल दो ही मान स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष और अनुमान। जो भी ज्ञान प्रत्यक्ष की शर्तें पूरी करता है, वह सम्यक् ज्ञान है। और कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो इन दोनों, प्रत्यक्ष और अनुमान, की शर्तों को एकदम इकट्ठे ही पूरा करता है। यही प्रमाण-व्यवस्था है। इस विषय में धर्मकीर्ति के सिद्धांत की व्याख्या करना मेरा उद्देश्य नहीं है। मेरी रुचि उसकी धारणा के विश्लेषण में है जिसके अनुसार 'प्रमाण' ही 'सम्यक् ज्ञान' है। वास्तव में यह धारणा शेरबास्की ने धर्मकीर्ति पर आरोपित की है। इसे शेरबास्कि की अपनी धारणा कहना अधिक उपयुक्त होगा,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसा मैं मानता हूँ। धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष और अनुमान को प्रमाण कहता है। प्रत्यक्ष अथवा अनुमान को तभी प्रमाण कहा जायेगा जब वह निर्दिष्ट शर्तों, उदाहरणत: प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए निर्दिष्ट शर्तें हैं—कल्पनापोढ़म् तथा अभ्रान्तम्, को पूरा करेगा। जब प्रत्यक्ष इन शर्तों को पूरा करता है तभी वह सम्यक् ज्ञान है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान सम्यक्ज्ञान है, क्योंकि वह मान्य प्रमाण के अनुसार है। वह निर्धारित मानों को पूरा करता है। प्रत्यक्ष मान है; प्रत्यक्ष ज्ञान सम्यक्ज्ञान है। मान अपने आप में सम्यक् ज्ञान नहीं है। शेरबास्की की भूल इसमें है कि वह प्रमाण ही को सम्यक् ज्ञान मान लेता है। और यह भूल दोहरी हो जाती है जब वह अपनी इस धारणा को धर्मकीर्ति पर आरोपित करता है।

कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाण सम्यक् ज्ञान के, ज्ञान की सम्यक्ता के, मान हैं; वे स्वयम् में सम्यक् ज्ञान नहीं हैं। वे सम्यक् ज्ञान के प्रमाण हैं जिन्हें हमने अपने लक्ष्यों और प्रयोजनों, अपनी आवश्यकताओं और मान्यताओं तथा सुबोधता इत्यादि को ध्यान में रख कर बनाया और अपनाया है। हम उस ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहते हैं जो ज्ञान हमारे मानों को पूरा करता है। जो ज्ञान हमारे मानों को पूरा नहीं करता उसे हम सम्यक् ज्ञान नहीं कहते। दूसरे शब्दों में, ज्ञान की सम्यक्ता अथवा असम्यक्ता का प्रश्न तदोचित मान अर्थात् प्रमाण के आधार पर तय किया जाता है। और इस प्रकार के प्रश्न किसी निर्दिष्ट मान-विधान के आधीन ही तय किये जा सकते हैं; उसकी निरपेक्षता में नहीं। यदि ज्ञान की सम्यक्ता के प्रश्न किसी भी मान-विधान के निरपेक्ष उठाये जाते हैं तो हम उन प्रश्नों को कैसे तय करें? यह सवाल मुँहबाये खड़ा हो जाता है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के प्रश्नों को अपृच्छनीय प्रश्न कहना ही उपयुक्त होगा। यही कहना उपयुक्त होगा कि उनको पूछनेवाला व्यक्ति यह नहीं जानता कि वह क्या पूछ रहा है। इस से स्पष्ट होता है कि ज्ञान की सम्यक्ता के प्रश्न की पृच्छनीयता निर्दिष्ट मान-विधान से पूर्णतया प्रतिवन्धित होती है; और उसके बाहर उस प्रश्न का पूछना व्यर्थ होता है।

किसी मान-विधान में निर्दिष्ट मान क्यों अपनाये गये हैं? यह प्रश्न उस स्तर का नहीं है जिस स्तर का यह प्रश्न है कि किसी निर्दिष्ट मान-विधान के आधीन अमुक ज्ञान की सम्यक्ता-असम्यक्ता कैसे तय की जाये? पहला प्रश्न किसी मान-विधान को अपनाने, स्वीकार करने का प्रश्न है। इसका निर्णय अपनाये गये मान-विधान के अंतर्गत नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत, दूसरे प्रश्न को तय करने के लिए तदोचित मान-विधान का निर्देश अनिवार्य है। क्यों कि इस प्रकार का प्रश्न किसी निर्दिष्ट मान-विधान के अंतर्गत ही पूछा और तय किया जा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकता है। इस प्रकार के प्रश्न के निर्णय को प्रमाणात्मक कहा जायेगा; जब कि पहले प्रकार के प्रश्न के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। उसको तय करने के लिए हमें अपनी आवश्यकताओं और मान्यताओं, अपने लक्ष्यों और प्रयोजनों की ओर ध्यान देना होता है। साधारणतया यदि कोई मान-विधान हमारी आवश्यकताओं और मान्यताओं, हमारे लक्ष्यों और प्रयोजनों को समीचीन रूप से पूरा नहीं करता, अथवा उसमें तर्कतः अंर्तविरोध है, अथवा उससे अधिक सुबोध अथवा व्यापक मान-विधान हमें उपलब्ध है, तो उस स्थिति में इन्हीं आधारों के बल पर हम उस मान-विधान को अस्वीकार करेंगे; क्योंकि यही वे आधार हैं जिनके बल पर (उनके विधानात्मक रूप में) हम किसी भी मान-विधान को अपनाते हैं। इन्हें हम किसी मान-विधान को स्वीकार्य करने की शर्तें मानेंगे।

अपनी इस बात को स्पष्ट करने के लिये एक-दो उदाहरण ध्यान में आते हैं। धर्मकीर्ति केवल दो ही मान अपनाता है। उस के मान-विधान के अंतर्गत यह प्रश्न पूछा और तय भी किया जा सकता है कि अमुक ज्ञान सम्यक् ज्ञान है कि नहीं। इस प्रश्न का निर्णय प्रमाणात्मक होगा, क्योंकि इसे प्रत्यक्ष अथवा अनुमान इन दो मानों में से किसी एक के आधार पर ही तय किया जायेगा। किन्तु यह पूछना कि धर्मकीर्ति ने ये ही दो मान क्यों अपनाए हैं? उसके मान-विधान का अन्तर्गतीय प्रश्न नहीं है। आप प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के बल पर इसे तय नहीं कर सकते। इसे तय करने के लिए हमें उसकी आवश्यकताएँ और मान्यताएँ देखनी होंगी। धर्मकीर्ति में वे स्पष्ट भी हैं। वह केवल दो ही मेयों को मानता है। दो से कम या अधिक नहीं। क्यों नहीं? क्योंकि उसे वे सारे लक्ष्य और प्रयोजन साध्य नहीं हैं जो लक्ष्य और प्रयोजन, उदाहरणतः कुमारिल भट्ट को साध्य हैं। तभी तो कुमारिल दो से अधिक प्रमाणों को अपनाता है और इसके अलावा वह प्रमाण-व्यवस्था का कायल भी नहीं है।

इसी प्रकार विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक वाक्यों में विवेक कैसे किया जाये? इस प्रश्न का निर्णय करने के लिए हमें पहले यह बताना होगा कि यह प्रश्न किस मान-विधान के सन्दर्भ में अथवा किस सैद्धान्तिक प्रसंग में, पूछा जा रहा है। मान का निर्देश करते ही निश्चित रूप से बताया जा सकता है कि अमुक वाक्य विश्लेषणात्मक है और अमुक वाक्य नहीं। यदि मान का निर्देश नहीं किया जाता तो उस स्थिति में यह वाक्य कि

१. 'भौतिक वस्तुओं की सत्ता है'

किसी को विश्लेषणात्मक लगेगा और किसी को नहीं। वह व्यक्ति जो यह कहता है कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२. 'मेज़ और कुरसियाँ भौतिक वस्तुएँ हैं'

विश्लेषणात्मक वाक्य है, क्योंकि इसकी विश्लेषणात्मकता भाषा के साधारण प्रयोग से उपलब्ध होती है, वह कहेगा कि पहला वाक्य

१. 'भौतिक वस्तुओं की सत्ता है'

दूसरे वाक्य

२. 'मेज़ और कुरसियाँ भौतिक वस्तुएँ हैं'

से आपादित होता है। और, क्योंकि विश्लेषणात्मक वाक्य तर्कतः वैध होते हैं और वे केवल वैध वाक्यों को ही आपादित करते हैं, अतः पहला वाक्य कि

१. 'भौतिक वस्तुओं की सत्ता है'

भी विश्लेषणात्मक वाक्य है। जो व्यक्ति इस मान-विधान को नहीं मानता, वह पहले वाक्य

१. 'भौतिक वस्तुओं की सत्ता है'

को सत्तासूचक वाक्य ही मानेगा।

मान लीजिये कि किन्ही दो व्यक्तियों 'क' और 'ख' में थीसिस 'त' पर मतभेद हो जाता है। 'क' और 'ख' दोनों अलग-अलग मान-विधानों को मानते हैं। तो उस स्थिति में उनके मत-भेद को कैसे दूर किया जायेगा? भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास इस प्रकार के मतभेदों से भरा पड़ा है। प्रायः ऐसा भी हुआ है कि यदि 'क', 'ख' से मात खा गया तो 'क' को 'ख' का मान-विधान अथवा धर्म-सम्प्रदाय स्वीकार करना पड़ा, और अपना छोड़ना पड़ा। इस संबंध में एक कहानी है। एक बार धर्मकीर्ति और कुमारिल भट्ट में शास्त्रार्थ हुआ। "कुमारिल ने प्रस्ताव किया कि शास्त्रार्थ में जो पराजित हो वह मार डाला जाए। किन्तु धर्मकीर्ति ने, जो कुमारिल की मृत्यु नहीं चाहता था, आग्रह किया कि पराजित व्यक्ति विजेता के धर्म को स्वीकार कर ले। इस प्रकार धर्म को पारितोषिक के रूप में रखकर दोनों शास्त्रार्थ में भिड़ गये। किन्तु विजयश्री अन्त में धर्मकीर्ति के ही हाथ रही। कुमारिल और उसके ५०० अनुगामी बौद्ध हो गए।" यह कहानी बताने का मेरा उद्देश्य यह नहीं है कि 'क' और 'ख' के थीसिस 'त' विषयक मत-भेद को धर्मकीर्ति और कुमारिल में शास्त्रार्थ के उदाहरण को अपना कर प्रमाणात्मक ढंग से दूर किया जा सकता है। कदापि नहीं। शास्त्रार्थ रूपी बौद्धिक युद्ध में विजयी हो जाने से, रिश्वत आदि प्रलोभन देने से, और दण्ड अथवा भय दिलाने से 'क' 'ख' को अपना मान-विधान स्वीकार करा सकता है; और इस प्रकार, उन में पारस्परिक मतभेद दूर हो जायेगा। किन्तु इस प्रकार से मतभेद को दूर करना प्रमाणात्मक नहीं कहा जायेगा। उसे प्रमाणात्मक तभी कहा जायेगा जब तदोचित मान-विधान का निर्देश किया गया हो। ऐसा मान-विधान यदि इतना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यापक है कि 'क' और 'ख' के दोनों मान-विधान उस में उपवर्गों के रूप में समाविष्ट हो जाते हैं तो निर्दिष्ट मतभेद को प्रमाणात्मक ढंग से दूर किया जा सकता है। यदि ऐसा व्यापक मान-विधान उपलब्ध नहीं होता तो उस स्थिति में बात दूसरी हो जाती है। वह यह कि 'क' और 'ख' के अलग-अलग मान-विधानों के परिप्रेक्ष्य में थीसिस 'त' एक ही थीसिस नहीं अपितु दो अलग-अलग थीसिस हैं। हम 'क' के मान-विधान के अन्तर्गत थीसिस 'त' को थीसिस तक कहेंगे; और 'ख' के मान-विधान में तख। और साथ में यह भी कहेंगे कि 'क' और 'ख' में वास्तविक मतभेद है ही नहीं। वे विवाद इस लिये कर रहे हैं क्योंकि वे यह नहीं जानते कि वे दो विभिन्न थीसिस को एक ही थीसिस समझ रहे हैं। उन्हें यह बात समझा देने से उनके विवाद को दूर किया जा सकता है। यह ढंग भी प्रमाणात्मक नहीं है। क्योंकि यह तो 'क' और 'ख' के अज्ञान अथवा भ्रान्तियों को दूर करके, उन्हें उनका सैद्धान्तिक मतभेद बता कर, उनके पारस्परिक विवाद को दूर करने की बात है। उन सैद्धान्तिक मतभेद को दूर करने की बात नहीं। कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि दो अलग-अलग मान-विधानों के समर्थकों में यदि किसी निर्दिष्ट थीसिस विषयक मत-भेद होता है तो वह तभी प्रमाणात्मक ढंग से दूर किया जा सकता है जब उनके मान-विधानों से कोई अधिक व्यापक मान-विधान उपलब्ध हो ताकि उन दोनों के मान-विधान उसमें उपवर्गों के रूप में समाविष्ट किये जा सकें। दूसरे शब्दों में, प्रमाणात्मक ढंग से पारस्परिक मतभेद भी तभी दूर किया जा सकता है जब वह किसी मान-विधान के अन्तर्गत हो। यदि ऐसा नहीं होता तो मतभेद सैद्धान्तिक होने के कारण विवादी व्यक्तियों को प्रलोभन इत्यादि देकर ही उनका पारस्परिक मतभेद दूर किया जा सकता है। एतदेतर किसी मान-विधान सम्बन्धी सैद्धान्तिक मत-भेद को दूर करने का कोई भी पार्थिक साधन मुझे दिखाई नहीं देता।

दर्शन विभाग, विजयकुमार भारद्वाज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ईसाई दर्शन की दृष्टि से धार्मिक स्वतन्त्रता

प्रस्तुत लेख " ईसाई दर्शनः इतिहास और सिद्धान्त " नामक पुस्तक का अंश है, जिसे निकट भविष्य में "राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी" द्वारा प्रकाशित किया जायेगा। जैसे पुस्तक के शीर्षक से स्पष्ट है उसमें दो भाग मिलते हैं। प्रथम भाग में ईसाई विचारधारा का ऐतिहासिक विकास वर्णित किया जाता है, बाइबिल की रचना-काल से लेकर तेयार दि शार्द जैसे समकालीन विचारकों तक। द्वितीय भाग में ईसाई दृष्टिकोण से क्रमशः मानव-दर्शन, ईश-दर्शन, नीतिशास्त्र और धर्म-दर्शन को प्रतिपादित किया जाता है। धर्म-दर्शन विषयक अन्तिम अध्याय में तीन परिच्छेद मिलते हैं: पहले में ईसाई धार्मिक समुदाय या कलीसिया[1] का वर्णन आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टि से किया जाता है; दूसरे में (प्रस्तुत लेख का संदर्भ) ईसाई धर्म का अन्य विश्व धर्मों से सम्बन्ध, तीसरे में ईसाई परम्परा में प्रचलित साधना का आदर्श मिलता है। किसी भी धर्म के विवेचन के लिए उसी धर्म की सही जानकारी आवश्यक है। अब अमुक धर्म अन्यों से बढ़कर स्वयं ही अपना परिचय अच्छी तरह से करा सकता है। अतः धार्मिक स्वतन्त्रता की ईसाई धारणा द्वितीय वैटिकन महासभा द्वारा रचित विभिन्न प्रामाणिक घोषण-पत्रों के आधार पर यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत की गई है। संपूर्ण पुस्तक का दृष्टिकोण रुढ़िवाद से मुक्त है, यह धार्मिक स्वतन्त्रता जैसे विवादास्पद समस्या के वर्तमान प्रतिपादन से स्पष्ट होगा।

पहले प्रकरण में हमने कलीसिया का उसके प्रामाणिक आत्मप्रतिपादन के आधार पर वर्णन किया है। प्रस्तुत प्रकरण में हम फिर दो ऐसे लेखों का उपयोग करेंगे जिनमें कलीसिया दूसरे धर्मों से अपना सम्बन्ध निर्धारित करती है और " धार्मिक स्वतन्त्रता " का आदर्श प्रतिपादित करती है[1]। इन बातों के विषय में हम कलीसिया का कथन सच्चा मानेंगे, क्योंकि किसी की सत्यवादिता पर सन्देह करना अनुचित होता। प्रारम्भ से ही उसके दृष्टिकोण की उदारता इस से स्पष्ट दिखायी पड़ती है कि वैटिकन विश्वसभा उन बातों की अपेक्षा, जो विविध धर्मों में भिन्न प्रतीत होती हैं, उन्हीं पर ध्यान देना चाहती है जो सबों को सामान्य ही हैं। धर्मप्रभेद के बावजूद मानव समाज की मूलभूत एकता बनी रहती है। उत्पत्ति की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दृष्टि से सब जातियाँ एक ही सृष्टि कर्ता परमेश्वर से उद्भूत हुईं, अन्तिम उद्देश्य की दृष्टि से उन सबों की प्रारम्भिक एकता का पुनर्निर्माण परमेश्वर पर ही आधारित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त बाइबिल ग्रन्थ के अनुसार मुक्ति किसी एक वर्ग तक सीमित नहीं है, बल्कि उसके विपरीत परमेश्वर "चाहता है कि सभी मनुष्य मुक्ति प्राप्त करें और सत्य जान जायें।[3] अन्य धर्मों में जो कुछ पावन है, उसे ईसाई धर्म उदारतापूर्वक अपनाना चाहता है। वह उनमें प्रचलित धर्मसिद्धान्तों और धर्मशास्त्रों का आदर भी करता है। कारण, यद्यपि उनमें प्रस्तुत धार्मिक दृष्टिकोण उसके अपने दर्शन से भिन्न हो सकता है, तथापि भिन्न-भिन्न धर्मों में एक ही सत्य का आविर्भाव मिलता है। फिर भी, उस उदारता के बावजूद काथलिक कलीसिया समन्वयवाद और सर्व धर्मसमतावाद से दूर रहना चाहती है।

उपर्युक्त लेखों में से पहला सांस्कृतिक धर्मों के प्रसंग में भारतीय धर्मों का भी उल्लेख करता है। हिन्दू धर्म की इसलिए प्रशंसा की जाती है क्योंकि वह दिव्य रहस्य पर गम्भीर चिन्तन करते हुए पौराणिक कथाओं की विविधता या दर्शनों के गूढ़ विवेचन से उसे अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। इसके अतिरिक्त हिन्दू या तो कर्ममार्ग, या ज्ञान और भक्तिमार्ग द्वारा संसार में मुक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा करते हैं। बौद्ध धर्म की भी प्रशंसात्मक रीति से चर्चा की जाती है, विशेषकर इसलिए क्योंकि वह क्षणभङ्गुर तत्वों की अपेक्षा मुक्तिदायक प्रबोधन की प्राप्ति करना चाहता है। इस्लाम के विषय में ईसाई धर्म यह स्वीकार करता है कि वे दोनों अनेक दृष्टिकोणों से मेल खाते हैं, जैसे एकेश्वरवाद की स्वीकृति और बाइबिल-परंपरा से उनका सम्बन्ध। उस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि काथलिक कलीसिया में दूसरे धर्मों के प्रति प्रामाणिक दृष्टिकोण पूर्णरूपेण भावात्मक है।[4]

काथलिक कलीसिया की उदारता का एक और प्रमाण यह है कि वह औपचारिक रूप से 'धार्मिक स्वतन्त्रता' का समर्थन करती है। इससे तात्पर्य क्या? निषेधात्मक अर्थ में मानव को धार्मिक बातों के विषय में सब प्रकार की विवशता या बाध्यता से उन्मुख होना चाहिए। भावात्मक अर्थ में प्रत्येक को इन बातों में अपने अन्तर्विवेक के अनुकूल ही व्यवहार करना चाहिए। उक्त धार्मिक स्वतन्त्रता का आदर्श ईसाई दर्शन के मूल सिद्धान्तों पर आधारित है। पहले, मानव व्यक्ति की श्रेष्ठता इतनी ऊंची है कि स्वयं व्यक्ति के अतिरिक्त और दूसरा कोई भाग्य के विषय में निर्णय नहीं कर सकता है। ऊपर, नीति-शास्त्र विषयक अध्याय में हमने यह कहा है कि नैतिक, और फलतः धार्मिक मूल्यों के विषय में व्यक्ति अपना अन्तर्विवेक ही अन्तिम मानदण्ड है। लेकिन उस सिद्धान्त का निष्कर्ष सापेक्षवाद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं है। जिस प्रकार नीतिशास्त्र का विषयनिष्ठ पहलू 'स्वभावगत धर्म'[५] है, उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में सत्य की प्रधानता माननी पड़ती है। अतः धार्मिक स्वतन्त्रता में कर्तव्य और उत्तरदायित्व भी निहित है। सत्य वास्तव में क्या है, उसी को ढूंढ़ निकलना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है। सत्य के प्रति अन्तर्विवेक का निर्णय वैकल्पिक नहीं, वरन् सत्य की स्वीकृति अनिवार्य है। सत्य ही अपनी प्रामाणिकता से मानव को विवश कर सकता है। लेकिन, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के अतिरिक्त सत्य की खोज में सामाजिक पहलू को भी देखना पड़ता है। संवाद के शान्तिपूर्ण वातावरण में मानव को सहव्यक्तियों से शिक्षा प्राप्त करने के लिए तत्पर होना चाहिए। अंत में व्यक्ति की श्रेष्ठता और सत्य की प्रधानता के समान स्वयं धर्म का स्वभाव भी धार्मिक स्वतन्त्रता की ओर सङ्केत करता है। व्यष्टि की दृष्टि से धर्म का मर्म इसमें है कि मानव अपने आपको परमेश्वर की सेवा में समर्पित करता है। उस आन्तरिक अभिवृत्ति में किसी भी का हस्तक्षेप नहीं हो सकता है, वह स्वयं व्यक्ति के स्वतन्त्र निर्णय से ही उत्पन्न हो सकती है।

उपर्युक्त सैद्धान्तिक विवरण के बाद अब यह विशेष प्रश्न उठता है कि धार्मिक स्वतन्त्रता में कौन-कौन अधिकार निहित हैं?। परिवार की दृष्टि से माता-पिता ही अपनी सन्तान के लिए यह निर्धारित कर सकते हैं कि उन्हें कौन-सी धर्म-शिक्षा मिलनी चाहिए। जिस राज्य में केवल एक धर्म-शिक्षा को प्राप्त करने का अवसर मिलता है, या किसी प्रकार की धर्मशिक्षा उपलब्ध नहीं है, वहाँ उस अधिकार का उल्लङ्घन किया जाता है। धार्मिक समुदाय की दृष्टि से उसके अधिकार निम्नलिखित हैं––अपने धर्माधिकारियों को नियुक्त करना; अपनी धार्मिक संस्थाओं की स्थापना और उनका सञ्चालन करना; इस उद्देश्य से उपयुक्त धन-सम्पत्ति पर स्वामित्व रखना। प्रत्येक धर्म को धर्मप्रचार करने का अधिकार भी प्राप्त है। विशेष रूप से ईसाई धर्म में धर्मप्रचार की कौन धारणा प्रचलित है, उसे अगले प्रकरण में समझाया जाएगा। स्पष्ट रूप से धार्मिक स्वतन्त्रता के बल पर की गयी धर्मप्रचार करने की मांग ऊपर वर्णित व्यक्तिगत धार्मिक स्वतन्त्रताका विरोध नहीं कर सकती है। इस प्रसङ्ग में उक्त लेख में उध्दृत करने योग्य एक वाक्य मिलता है: "सबों को ऐसे किसी भी कार्य से दूर रहना है, जिसमें बाध्यता का आभास तक या किसी भी प्रकार का प्रत्यायन प्रतीत होता है, विशेषकर दरिद्र या अशिक्षित लोगों के साथ व्यवहार करते समय"[६]। मानव अधिकार होने के कारण धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा करना सरकार का कर्तव्य है। दूसरी ओर ऐहिक तत्वों तक सीमित होकर सरकार धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं कर सकती है। उदाहरणार्थ, जब कि उसे धर्मप्रचार में सब प्रकार की बाध्यता का विरोध करना है, साथ ही वह किसी को स्वतः किसी धार्मिक समुदाय में सम्मिलित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होने से नहीं रोक सकती है। पारिभाषिक शब्द का प्रयोग न करते हुए भी वैटिकन विश्वसभा वास्तव में धर्मनिरपेक्ष राज्य का आदर्श प्रस्तुत करती है। काथलिक कलीसिया अपने को अपने व्यवसाय की दृष्टि से किसी भी राष्ट्र की सरकार से स्वाधीन मानती है। साथ ही वह अपने समुदाय के सदस्यों को राष्ट्रीय बातों में राज्याधिकारियों से अधीनता स्वीकार करने का आदेश देती है। संत पौलुस ने तीतुस नामक धर्माध्यक्ष को इस प्रकार लिखा : "सबों को याद दिलाओ कि शासकों तथा अधिकारियों के अधीन रहना और उनकी आज्ञाओं का पालन करना उनका कर्तव्य है"।[७]

अब तक हमने विश्व-सभा के उक्त घोषणा-पत्र के आधार पर धार्मिक स्वतन्त्रता को दार्शनिक दृष्टि से प्रमाणित की है; अब हम उसे ईसाई धर्म की दृष्टि से भी सिद्ध करें। अपने को पुत्रेश्वर से ही स्थापित धर्म मानकर कलीसिया यह समझती है कि वह ईश-सन्देश का ही प्रचार करती है। अब ईश-सन्देश की स्वीकृति आन्तरिक स्वतन्त्र निर्णय के फलस्वरूप उत्पन्न होने पर ही सच्ची और यथार्थ हो सकती है। मन परिवर्तन के अभाव में धर्म परिवर्तन निरर्थक है। अतः सार्थक धर्मप्रचार की आवश्यक शर्त धार्मिक स्वतन्त्रता ही है : उसी के वातावरण में मानव धर्म के विषय में अपनी व्यक्ति-श्रेष्ठता के अनुकूल स्वतन्त्र निर्णय कर सकता है। विश्व भर में ईश-राज्य स्थापित करने में कलीसिया को अपने प्रवर्तक का यह कथन याद रखना है, अर्थात् कि 'मेरा राज्य इस संसार का नहीं है।"[८] प्रेरितों ने भी कोई बलप्रयोग नहीं किया, वरन् ईश-शब्द के बल पर ही साहस-पूर्वक ईसा-सन्देश को घोषित किया। "प्रेरित-चरित" के साक्ष के अनुसार वे "निर्भीकता के साथ ईश्वर का वचन सुनाते रहे"।[९] औपचारिक रूप से धार्मिक स्वतन्त्रता का समर्थन करने से आधुनिक कलीसिया अखण्ड परम्परा से अपनी अनु-रूपता अभिव्यक्त करती है। साथ ही वह इस सन्दर्भ में स्वालोचना करने से भी नहीं हिचकती है। वह व्यक्त रूप से स्वीकार करती है कि "समय-समय पर उसका व्यवहार पूर्ण रूप से ईसा-भाव के अनुकूल नहीं हुआ, या उसके प्रतिकूल भी हुआ; इसपर भी कलीसिया का यह सिद्धांत, अर्थात कि किसी को धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए, सर्वदा निर्विकार बना रहा"[१०] कलीसिया का दावा इसलिए अधिक सत्य सुनाई पड़ता है, क्योंकि वह अपना दोष भी स्वीकार करती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. " कलीसिया " यूनानी ekklesia (अर्थात् Church) के अनुरूप गढ़ा हुआ फारसी शब्द है ।

२. " Declaration on the Relation of the Church to Non-Christian Religions " in : A. Feannery (ed.), Vatican Council II, 1975, pp. 738-742. " Declaration on Religious Freedom ", in Flannery, pp. 799-812.

३. तिमथी के नाम संत पौलुस का पहला पत्र 2.4

४. देखें Flannery, pp 739-40

५. Natural law

६. देखें Flannery, p.803

७. तीतुस के नाम पत्र ३.१

८. सन्त योहन द्वारा रचित ईसा मसीह का जीवनचरित, १८.३६१

९. प्रेरित-चरित4.31

१०. Flannery, p. 809.

सन्त अल्बर्ट महाविद्यालय
रांची (बिहार)

—जे. फाईस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन में अस्तिकाय की अवधारणा

जैन दर्शन में 'द्रव्य' के वर्गीकरण का एक आधार अस्तिकाय और अनस्तिकाय की अवधारणा भी है। षट् द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये पाँच अस्तिकाय माने गये हैं, जब कि काल को अनस्तिकाय माना गया है। अधिकांश जैन दार्शनिकों के अनुसार काल का अस्तित्व तो है किन्तु उसमें कायत्व नहीं है, अतः उसे अस्तिकाय के वर्ग में नहीं रखा जा सकता है। यद्यपि कुछ श्वे. आचार्यों ने काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने के सम्बन्ध में भी आपत्ति उठाई है, किन्तु यह एक भिन्न विषय है, जिसकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है।

सर्वप्रथम तो हमारे सामने मूल प्रश्न यह है कि अस्तिकाय की इस अवधारणा का तात्पर्य क्या है ? व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'अस्तिकाय' दो शब्दों के मेल से बना है। अस्ति+काय। 'अस्ति' का अर्थ सत्ता या अस्तित्व और 'काय' का अर्थ है शरीर अर्थात् जो शरीर रूप से अस्तित्ववान है वह अस्तिकाय है। किन्तु यहाँ 'काय' या शरीर शब्द भौतिक शरीर के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, जैसा कि जन-साधारण समझता है। क्योंकि पञ्च अस्तिकायों में पुद्गल को छोड़कर शेष चार तो अमूर्त है। अतः यह मानना होगा, कि यहाँ काय शब्द का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में ही हुआ है। पञ्चास्तिकाय की टीका में कायत्व शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है—"कायत्वमाख्यं सावयवत्वम्" अर्थात् कायत्व का तात्पर्य सावयवत्व है। जो अवयवी द्रव्य हैं, वे अस्तिकाय है और जो निरवयवी द्रव्य है वह अनस्तिकाय है। अवयवी का अर्थ है अङ्गों से युक्त। दूसरे शब्दों में जिसमें विभिन्न अङ्ग अंश या हिस्से (Parts) हैं, वह अस्तिकाय है। यद्यपि यहाँ यह शंका उठाई जा सकती है कि अखण्ड द्रव्यों में अंश या अवयव की कल्पना कहाँ तक युक्ति सङ्गत होगी ? जैन दर्शन में पञ्च अस्तिकायों में से धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन एक अविभाज्य एवं अखण्ड द्रव्य हैं अतः उनके सावयवी होने क्या तात्पर्य है ? पुनश्च कायत्व का अर्थ सावयत्व मानने में एक कठिनाई यह भी है कि परमाणु जो अविभाज्य,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निरंश और निरवयवी है तो क्या वह अस्तिकाय नहीं है ? जब कि जैन दर्शन के अनुसार परमाणु पुद्गल का ही एक रूप है और पुद्गल अस्तिकाय माना गया है। इन प्रश्नों के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों का प्रत्युत्तर यह होगा कि यद्यपि धर्म, अधर्म और आकाश अविभाज्य एवं अखण्ड द्रव्य है, किन्तु क्षेत्र की अपेक्षा से ये लोकव्यापी है अतः क्षेत्र की दृष्टि से इनमें सावयवत्व की अवधारणा या विभाग की कल्पना की जा सकती है, यद्यपि यह केवल वैचारिक स्तर पर की गई है कल्पना या विभाजन ही है। दूसरे प्रश्न का प्रत्युत्तर यह होगा कि यद्यपि परमाणु स्वयं में निरंश, अविभाज्य और निरवयव है, अतः स्वयं तो कायरूप नहीं है किन्तु वे ही परमाणु स्कन्ध बनकर कायत्व या सावयवत्व को धारण कर लेते हैं अतः उनमें कायत्व का सद्भाव मानना चाहिए। पुनः परमाणु में अवगाहन शक्ति है, अतः उसमें कायत्व का सद्भाव है। जैन दार्शनिकों ने अस्तिकाय और अनस्तिकाय के वर्गीकरण का एक आधार बहुप्रदेशत्व भी माना है। जो बहुप्रदेशीय द्रव्य हैं वे अस्तिकाय हैं और जो एक प्रदेशीय द्रव्य है, वह अनस्तिकाय है। अस्तिकाय और अनस्तिकाय की अवधारणा में इस आधार को स्वीकार कर लेने पर पूर्वोक्त कठिनाईयाँ बनी रहती हैं। प्रथम तो धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों स्वद्रव्य अपेक्षा से तो एक प्रदेशी हैं क्योंकि अखण्ड है पुनः परमाणु पुद्गल भी एक प्रदेशी है। व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र में तो उसे अप्रदेशी भी कहा गया है, क्या इन्हें अस्तिकाय नहीं कहा जाएगा ? यहाँ भी जैन दार्शनिकों का सम्भावित प्रत्युत्तर नहीं होगा जो कि पूर्व प्रसङ्ग में दिया गया है। धर्म, अधर्म और आकाश में बहुप्रदेशत्व द्रव्यापेक्षा से नहीं अपितु क्षेत्र अपेक्षा से है। द्रव्य सङ्ग्रह में कहा गया है—

> यावन्मात्रं आकाशं अविभागि पुद्गलाण्ववष्टकम्
> तं खलु प्रदेशं जानीहि सर्वाणुस्थान दानार्हम् ॥ २७ (संस्कृत छाया)

प्रो. जी. आर. जैन भी लिखते हैं 'Pradesh is the unit of space occupied by one indevisible atom of matter' अर्थात प्रदेश आकाश की वह सबसे छोटी ईकाई है जो एक पुद्गल परमाणु घेरता है। विस्तारवान् होने का अर्थ क्षेत्र में प्रसारित होना है। क्षेत्र अपेक्षा से ही धर्म और अधर्म को असंख्य प्रदेशी और आकाश को अनन्त प्रदेशी कहा गया है अतः उनमें उपचार से कायत्व की अवधारणा की जा सकती है। पुद्गल का जो बहुप्रदेशीपना है वह परमाणु की अपेक्षा से न होकर स्कन्ध की अपेक्षा से है इसीलिए पुद्गल को अस्तिकाय कहा गया है न कि परमाणु को। परमाणु तो स्वयं पुद्गल का एक अंश या प्रकार मात्र है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वस्तुतः इस प्रसङ्ग में कायत्व का अर्थ विस्तारयुक्त होना ही है जो द्रव्य विस्तार रहित हैं वे अनस्तिकाय हैं। विस्तार की यह अवधारणा क्षेत्र की अवधारणा पर आश्रित है। वस्तुतः कायत्व के अर्थ के स्पष्टीकरण में सावयवत्व एवं सप्रदेशत्व की जो अवधारणायें प्रस्तुत की गई है वे सभी क्षेत्र के अवगाहन की संकल्पना से सम्बन्धित है। विस्तार का तात्पर्य है क्षेत्र का अवगाहन। जो द्रव्य जितने क्षेत्र का अवगाहन करता है वही उसका विस्तार (Extension), प्रदेश-प्रचयत्व या कायत्व है। विस्तार या प्रचय दो प्रकार माना गया है, उर्ध्व प्रचय और तिर्यक् प्रचय। आधुनिक शब्दावली में इन्हें क्रमशः उर्ध्व एक रेखीय विस्तार (Longitudinal Extension) और बहुआयामी विस्तार (Multi-dimensional Extension) कहा जा सकता है। अस्तिकाय की अवधारणा में प्रचय या विस्तार को जिस अर्थ में ग्रहण किया जाता है, वह बहु आयामी विस्तार है न कि उर्ध्व एक रेखीय विस्तार। जैन दार्शनिकों ने केवल इन्हीं द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है, जिनका तिर्यक प्रचय या बहु आयामी विस्तार है काल में केवल उर्ध्व प्रचय या आयामी विस्तार है अतः उसे अस्तिकाय नहीं माना गया है। यद्यपि प्रो. जी. आर. जैन ने काल को एक आयामी (Mono-dimensional) और शेष को द्वि–आयामी (Two–dimensional) माना है किन्तु मेरी दृष्टि में शेष द्रव्य त्रि–आयामी हैं, क्योंकि वे स्कन्ध रूप है अतः उनमें लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई तीनों ही है। स्कन्ध में लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई के रूप में तीन आयाम होते हैं। अतः कहा जा सकता है कि जिन द्रव्यों में त्रि–आयामी विस्तार है वे अस्तिकाय द्रव्य हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि काल भी लोकव्यापी है फिर उसे अस्तिकाय क्यों नहीं माना गया। इसका प्रत्युत्तर यह है कि यद्यपि लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर कालाणु स्थित है किन्तु प्रत्येक कालाणु (Time–grain) अपने आपमें एक स्वतंत्र द्रव्य है, वे परस्पर निरपेक्ष है, स्निग्ध एवं रुक्ष गुण के अभाव के कारण उनमें बन्ध नहीं होता है, अर्थात उनके स्कन्ध नहीं बनते हैं, स्कन्ध के अभाव में उनमें प्रदेश प्रचयत्व की कल्पना संभव नहीं है अतः वे अस्तिकाय द्रव्य नहीं हैं। काल द्रव्य को अस्तिकाय इसलिए नहीं कहा गया कि उसमें स्वरूपतः और उपचारतः दोनों ही प्रकार से प्रदेश प्रचय की कल्पना का अभाव है।

यद्यपि पाश्चात्य दार्शनिक देकार्त ने पुद्गल (Matter) का गुण विस्तार (Extension) माना है किन्तु जैन दर्शन की विशेषता तो यह है कि वह आत्मा धर्म, अधर्म और आकाश जैसे अमूर्त द्रव्यों में भी विस्तार की अवधारणा करता है। इनके विस्तारवान् (कायत्व से युक्त) होने का अर्थ है वे दिक् (Space)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में प्रसारित या व्याप्त है। धर्म एवं अधर्म तो एक महास्कन्ध के रूप में सम्पूर्ण लोकाकाश के एक सीमित असंख्य प्रदेशी क्षेत्र में प्रसारित या पर्याप्त है। आकाश तो स्वतः ही अनन्त (लोक एवं अलोक) में विस्तारित है अतः इनमें कायत्व की अवधारणा सम्भव है। जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है देकार्त उसमें 'विस्तार' को स्वीकार नहीं करता है,किन्तु जैन दर्शन उसे विस्तार युक्त मानता है क्योंकि आत्मा जिस शरीर को अपना आवास बनाता है उसमें समग्रतः व्याप्त हो जाता है। हम यह नहीं कह सकते हैं कि शरीर के अमुक भाग में आत्मा है और अमुक भाग में नहीं है, वह अपने चेतना लक्षण से सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करता है अतः उसमें विस्तार है, वह अस्तिकाय है। हमें इस भ्रान्ति को निकाल देना चाहिए कि केवल मूर्त द्रव्य का विस्तार होता है और अमूर्त का नहीं। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अमूर्त द्रव्य का भी विस्तार होता है वस्तुतः अमूर्त द्रव्य के विस्तार की कल्पना उसके लक्षणों या कार्यों (Function) के आधार पर की जा सकती है जैसे धर्म द्रव्य का कार्य गति को सम्भव बनाना है, वह गति का माध्यम माना गया है अतः जहाँ जहाँ गति है या गति सम्भव है, वहीं वहीं धर्म द्रव्य की उपस्थिति एवं विस्तार है यह माना जा सकता है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि किसी द्रव्य को अस्तिकाय कहने का तात्पर्य यह है कि वह द्रव्य दिक् में प्रसारित है या प्रसारण की क्षमता से युक्त है। विस्तार या प्रसार (Extention) ही कायत्व है क्योंकि विस्तार या प्रसार की उपस्थिति में ही प्रदेश प्रचयत्व तथा सावयवता की सिद्धि होती है। अतः जिन द्रव्यों में विस्तार या प्रसार का लक्षण है वे अस्तिकाय हैं।

(२)

हमारे सामने दूसरा प्रश्न यह है कि जैन दर्शन में जिन द्रव्यों को अस्तिकाय माना गया हैं, उनमें प्रसार (कायत्व) नहीं मानने पर क्या कठिनाई आवेगी और इसी प्रकार काल को, जिसे अनस्तिकाय माना गया है, अस्तिकाय या प्रसार लक्षण युक्त मानने पर क्या कठिनाई आवेगी ?

सर्वप्रथम यदि आकाश को प्रसारित नहीं माना जावेगा तो उसके मूल लक्षण या कार्य की ही सिद्धि नहीं होगी। आकाश का कार्य अन्य द्रव्यों को स्थान देना है। द्रव्य-संग्रह में कहा गया है "अवगास दाण जोग्गं जीवादीणं विषाण आयास" अर्थात जो जीवादि द्रव्यों को स्थान देता है वहीं आकाश है। प्रसार या विस्तार तो आकाश का स्वरूप लक्षण है उसके अभाव में उसकी सत्ता ही सम्भव नहीं होगी। यदि आकाश विस्तारित न होगा तो अन्य द्रव्यों का स्थान कैसे दे पावेगा, अतः आकाश को विस्तारयुक्त अथवा अस्तिकाय मानना आवश्यक है। विस्तार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की सम्भावना आकाश में ही सम्भव है। यदि आकाश स्वयं विस्तारित न होगा तो उसमें अन्य द्रव्यों का अवगाहन या विस्तरण कैसे होगा ? अब स्थिति, विस्तार, गति आदि किसी प्रसारित या विस्तरित द्रव्य में ही संभव है अतः आकाश को विस्तारयुक्त (अस्तिकाय) मानना आवश्यक है। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि आकाश विस्तरित है तो उसका विस्तार या प्रसार किसमें है ? वस्तुतः आकाश स्वतः ही विस्तीर्ण है। अन्य द्रव्य उसमें अवगाहन करते हैं, विस्तरित होते हैं और गति करते हैं। विस्तार तो उसका स्वलक्षण है। वह अन्य किसी में विस्तरित नहीं होता। यदि उसके विस्तार या अवगाहन के लिए हम किसी अन्य द्रव्य की कल्पना करेंगे तो अनन्तता के दुश्चक्र (fallacy of infinite regress) में फंस आवेंगे अतः उसे स्वरूपतः ही विस्तारवान् या अस्तिकाय मान लिया गया है।

धर्म द्रव्य गति का माध्यम है (गमण णिमितं धम्मं–नियमसार) गति विस्तीर्ण तत्त्व में ही संभव है, यदि धर्म द्रव्य गति का माध्यम है तो उसे उतने क्षेत्र में विस्तीर्ण या व्याप्त होना चाहिए जिसमें गति सम्भव है। यदि गति का माध्यम स्वयं विस्तीर्ण या प्रसारित नहीं होगा तो गति सम्भव ही नहीं होगी। जैसे जल का प्रसार जितने क्षेत्र में होगा उतने ही क्षेत्र में मछली की गति सम्भव होगी। उसी प्रकार धर्म द्रव्य का प्रसार जिस क्षेत्र में होगा उसी क्षेत्र में पुद्गल और जीवों की गति सम्भव होगी। अतः धर्म द्रव्य को विस्तारयुक्त या अस्तिकाय मानना आवश्यक है। गति लोक (universe) में ही सम्भव है क्योंकि धर्म द्रव्य का विस्तार लोक तक सीमित है। अधर्म द्रव्य स्थिति का माध्यम है (अधम्मं ठिदि जीव पुग्गलाणं च–नियमसार) जिसके कारण परमाणु स्कन्ध की रचना करते हैं और स्कन्ध रूप में संगठित रहते हैं, जो आत्मा प्रदेशों को शरीर तक सीमित रखता है और विश्व को एक व्यवस्था में बांध कर रखता है वही अधर्म द्रव्य है– विश्व की एक व्यवस्थित रचना बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि अधर्म द्रव्य का प्रसार लोक व्यापी माना जावे, अन्यथा विश्व के मूल घटक परमाणु अनन्त आकाश में छितर जावेंगे और कोई रचना सम्भव नहीं होगी। अतः जहाँ-जहाँ गति का माध्यम है वहाँ-वहाँ उसका विरोधी स्थिति का माध्यम भी होना चाहिए अन्यथा उस गति का नियंत्रण कैसे होगा ? विश्व में गति के सन्तुलन को और इस रूप में विश्व के सन्तुलन को बनाये रखने के लिए अधर्म द्रव्य को लोक व्यापी एवं विस्तार लक्षण युक्त अर्थात् अस्तिकाय मानना आवश्यक है।

पुद्गल द्रव्य में विस्तार है यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है क्योंकि जिन्न पुद्गल

प...२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्कन्धों का हमें प्रत्यक्ष होता है वे सब विस्तार युक्त है, स्कन्ध की रचना ही परमाणुओं के तिर्यक् प्रचय से होती है अतः वे काय रूप हैं ही। यद्यपि पुद्गल द्रव्य के अन्तिम अविभाज्य घटक वे परमाणु जो स्वयं तो स्कन्ध रूप नहीं है किन्तु उनमें भी स्निग्ध और रूक्ष गुणों (Positive and Negative Charges) की उपस्थिति के कारण स्कन्ध रचना की सम्भावना है, अतः उनमें भी उपचार से कायत्व माना जा सकता है। पुनः उनमें अवगाहन शक्ति भी मानी गई है, अतः उनमें कायत्व या विस्तार है। यदि पुद्गल को अस्तिकाय नहीं माना जावेगा तो एक मूर्त विश्व की सम्भावना ही निरस्त हो जावेगी।

जीव द्रव्य में यदि हम विस्तार की सम्भावना को अस्वीकार करेंगे तो कठिनाई यह होगी कि जीव अपने स्वलक्षण चैतन्य गुण से अपने शरीर को व्याप्त नहीं कर सकेगा। शरीर में चैतन्यता का संकोच एवं विस्तार देखा जाता है। अतः उस चैतन्य गुण के धारक आत्मा विस्तारयुक्त या अस्तिकाय मानना आवश्यक है। शरीर का विस्तार तो बाल्यकाल से युवावस्था तक प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है। यदि हम शरीर को विस्तारयुक्त और आत्मा को विस्तार रहित मानेंगे तो दोनों में जो सहचार भाव है वह नहीं बन पावेगा। इसीलिए वेदान्त ने आत्मा को सर्वव्यापी मान लिया। यद्यपि आत्मा को सर्वव्यापी मानने के सिद्धांत में भी अनेक तार्किक असंगतियाँ हैं किन्तु प्रस्तुत लेख के सन्दर्भ से अलग होने के कारण उनकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है। जैन दर्शन में आत्मा शरीर व्यापी है अतः वह अस्तिकाय है।

अब एक प्रश्न यह शेष रहता है कि काल को अस्तिकाय क्यों नहीं माना जा सकता? यद्यपि अनादि भूत से लेकर अनन्त भविष्य तक काल के विस्तार का अनुभव किया जा सकता है किन्तु फिर भी उसमें कायत्व का आरोपण सम्भव नहीं है क्योंकि काल का प्रत्येक घटक अपनी स्वतंत्र एवं पृथक् सत्ता रखता है। कालाणुओं में स्निग्ध एवं रुक्ष गुण के अभाव हैं अतः उनका कोई स्कन्ध या संघात नहीं बन सकता है, यदि उनके स्कन्ध की परिकल्पना भी कर ली जाए तो पर्याय समय की सिद्धि नहीं होती है। पुनः काल के वर्तना लक्षण की सिद्धि केवल वर्तमान में ही है, और वर्तमान अत्यन्त सूक्ष्म है अतः काल में विस्तार या प्रदेश प्रचय नहीं माना जा सकता और इसलिए वह अस्तिकाय भी नहीं है।

(३)

सभी अस्तिकाय द्रव्यों का विस्तार क्षेत्र समान नहीं है उसमें भिन्नतायें हैं। जहाँ आकाश का विस्तार क्षेत्र लोक और अलोक दोनों है वहाँ धर्म

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्रव्य और अधर्म द्रव्य केवल लोक तक ही सीमित हैं । पुद्गल के प्रत्येक स्कन्ध और प्रत्येक जीव का विस्तार क्षेत्र भी भिन्न है । पुद्गल पिण्डों का विस्तार क्षेत्र उनके आकार पर निर्भर करता है, जब कि प्रत्येक जीवात्मा का विस्तार क्षेत्र उसके द्वारा गृहीत शरीर के आकार पर निर्भर करता है । इस प्रकार धर्म, अधर्म आकाश, पुद्गल और जीव अस्तिकाय होते हुए भी उनका विस्तार क्षेत्र या कायत्व समान नहीं हैं । जैन दार्शनिकों ने उनमें प्रदेश दृष्टि से भिन्नता स्पष्ट की है । भगवती सूत्र में बताया गया है धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य के प्रदेश अन्य द्रव्यों की अपेक्षा सबसे कम हैं वे लोकाकाश तक (Within the Universe) सीमित हैं अतः असंख्य प्रदेशी हैं । धर्म द्रव्य एवं अधर्म द्रव्य की अपेक्षा जीव द्रव्य के प्रदेश अनन्त गुणा अधिक हैं क्योंकि प्रथम तो जहाँ धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य एक-एक है वहाँ जीव द्रव्य अनन्त है; पुनः प्रत्येक जीव द्रव्य के असंख्य प्रदेश हैं । जीव द्रव्य के प्रदेशों की अपेक्षा भी पुद्गल द्रव्य के प्रदेश अनन्त गुणा अधिक हैं क्योंकि प्रत्येक जीव के साथ अनन्त कर्म पुद्गल संयोजित है । काल की प्रदेश संख्या पुद्गल की अपेक्षा भी अनन्त गुणा मानी गई क्योंकि प्रत्येक जीव और पुद्गल की वर्तमान अनादि भूत और अनन्त भविष्य की दृष्टि से अनन्त पर्याएँ हैं । यद्यपि इन सभी की अपेक्षा आकाश द्रव्य के प्रदेशों की संख्या ही सर्वाधिक मानी गई है क्योंकि धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल और काल सभी सीमित लोक में ही स्थित (Within the finite universe) है जबकि आकाश अनन्त अलोक में भी स्थित है ।

यद्यपि यहाँ यह समस्या बनी हुई है असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु कैसे समाहित हो सकते है ? क्योंकि जैन दर्शन यह मानता है कि एक आकाश प्रदेश दिक् (स्पेस) की वह सबसे छोटी इकाई है जिसे एक पुद्गल परमाणु घेरता है । किन्तु इस धारणा के अनुसार तो असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में असंख्यात पुद्गल परमाणु ही समाहित होंगे अनन्तानन्त नहीं । इस समस्या का उत्तर निम्न रूप में दिया जा सकता है –

१. एक अमूर्त सत्ता उसी स्थान में दूसरी अमूर्त सत्ता को रहने में बाधक नहीं बनती है चूंकि परमाणु भी परमाणु रूप में अमूर्त है अतः एक ही आकाश प्रदेश में अनन्त परमाणु एक साथ रह सकते हैं, यह मानने में कोई बाधा नहीं आती है ।

२. परमाणु और परमाणुपिण्ड (स्कन्ध) में अवगाहन शक्ति है, अर्थात् वे दूसरों को स्थान दे सकते हैं । जिस प्रकार आकाश अपने अवगाहन गुण के कारण दूसरे द्रव्यों को स्थान देता है उसी प्रकार परमाणु और स्कन्ध भी अपनी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अवगाहन शक्ति के आधार दूसरे पुरमाणुओं और स्कंधों को स्थान देते रहेंगे। यहाँ हमें इस भ्रान्ति को दूर कर लेना चाहिए कि अवगाहन शक्ति का अर्थ सङ्कोच विस्तार है। यद्यपि जीव और पुद्गल में संकोच विस्तार की शक्ति भी है किन्तु यह उनके प्रसार गुण (कायत्व) के कारण है। अवगाहन शक्ति का अर्थ तो दूसरों को समाहित करने की क्षमता है। जैसे एक कमरे में एक बल्व का प्रकाश फैल रहा है यदि हम उसी कमरे में हजार दूसरे बल्व भी जला दें तो उनका प्रकाश भी उन्हीं आकाश प्रदेशों में समाहित हो जाएगा। इसी का दूसरा उदाहरण ध्वनि का है। यह बात विज्ञान सम्मत है कि विश्व में अनादि भूत एवं वर्तमान में जो कुछ ध्वनि हुई है वह सब ध्वनि तरङ्ग के रूप में विश्व और विश्व के प्रत्येक सूक्ष्मतम भाग में उपस्थित है। जैन दर्शन की भाषा में कहे तो एक आकाश प्रदेश में अनन्तानन्त ध्वनियाँ उपस्थित हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए – प्रकाश और ध्वनि पौद्गलिक ही नहीं बल्कि मूर्त भी हैं। अतः मूर्त में भी अवगाहन शक्ति होने से एक ही आकाश प्रदेश में अनन्त परमाणुओं एवं मूर्त स्कन्धों की उपस्थिति को सम्भव माना जा सकता है।

३. जैन दर्शन के अनुसार लोकाकाश के प्रदेश लोक के प्रत्येक भाग में हैं जिस स्थान में विश्व का सर्वाधिक घनीभूत पुद्गलपिण्ड उपस्थित है, उसी स्थान में आकाश प्रदेश भी है इसका अर्थ यह हुआ कि वहाँ, दूसरे स्थिर एवं गतिमान् पुद्गलपिण्डों के समाहित होने की सम्भावना बनी ही रहती है क्योंकि विश्व का कोई भी भाग किसी भी स्थिती में आकाशशून्य नहीं रहता है अतः उसी स्थान (आकाश प्रदेश) में अनन्तानन्त पुद्गलपिण्डों का समाहित होना सम्भव है। कोई घनीभूत से पुद्गलपिण्ड भी आकाश रहित नहीं हो तो है, अर्थात् उसमें सदैव ही अवगाहन शक्ति बनी रहती है और इसलिए वह दूसरे अनन्त परमाणुओं एवं पुद्गलपिण्डों को अपने में समाहित कर सकता है और यह सम्भावना कभी समाप्त नहीं होती है।

४. यह भी सम्भव है लोकाकाश को असंख्य प्रदेशीय केवल इसीलिए कहा गया हो कि लोक की सीमा (limit) बतानी थी यदि अनन्त प्रदेशी कहते तो लोक असीम (infinite) हो जाता। वस्तुतः तो वह अनन्त प्रदेशी ही है।

५. यह भी सम्भव है कि परमाणु के उत्कृष्ट आकार को लेकर यह माप बताया गया हो कि एक आकाश प्रदेश एक परमाणु का आकार है जैसे समय का माप परमाणु की जघन्य गति के आधार पर किया है अर्थात् जघन्य गति से एक परमाणु जितने काल में एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पहुँचता है वही एक समय (काल का सबसे छोटा भाग) का माप है। उत्कृष्ट गति से तो एक परमाणु एक ही समय में विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक (अर्थात् १४ राजू) यात्रा कर लेता है।

अस्तिकाय विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में : जैन दर्शन में स्वीकृत पंच अस्तिकाय एवं काल की अवधारणा का आधुनिक विज्ञान से कहाँ तक तालमेल है यह प्रश्न भी विचारणीय है। सर्व प्रथम तो हमें यह देखना है कि जैन दर्शन के षट् द्रव्यों की धारणा विश्व की व्याख्या के लिए क्यों आवश्यक है? दिक् (स्पेस), काल (टाइम) और पुद्गल (मेटर) ये तीन तत्व तो विश्व के मूल आधार हैं। इनके बिना विश्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। दिक् और काल तो विश्व की प्राथमिक शर्तें हैं, क्योंकि विश्व के कारण भूतपुदगल द्रव्य का अस्तित्व किसी काल और किसी स्थान में ही संभव है। चाहे आइन्स्टीन के सापेक्षतावाद ने यह सिद्ध कर दिया हो कि दिक् और काल की अवधारणायें गति सापेक्ष हैं किन्तु यह सापेक्षता दिक् और काल के सम्बन्ध में ज्ञान की सापेक्षता है और उनके अस्तित्व की नहीं है क्योंकि इन अमूर्त सत्ताओं को मानवीय ज्ञान किसी ऐन्द्रिक अनुभूति के तथ्य के सन्दर्भ में ही समझ सकता है और वह तथ्य गति है। गति उन्हें समझने का माध्यम है। किन्तु इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि गति की अवधारणा स्वयं दिक् (आकाश) और काल की अवधारणा पर आधारित है। गति दिक् एवं काल सापेक्ष है। जैन दार्शनिकों के अनुसार दिक् (आकाश) और काल के कार्य (फंक्शन) अलग-अलग है। दिक् (स्पेस) स्थान प्रदान करता है तो काल द्रव्यों में परिवर्तन को सम्भव बनाता है। अतः दोनों स्वतंत्र द्रव्य है। पुद्गल (मेटर) तो विश्व का मूल उपादान है अतः उसकी सत्ता तो निर्विवाद रूप से स्वीकार करनी होगी, विश्व में जीवन की उपस्थिति भी अनुभव सिद्ध है अतः जीवास्तिकाय का अस्तित्व भी स्वीकार करना ही होगा। चाहे वैज्ञानिक जीवन का विकास पुद्गल से मानते हैं। और उसे स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते हो किन्तु वे भी अभी तक इसे विज्ञान से सिद्ध नहीं कर पाया है कि किस प्रकार पुद्गल से जीवन का विकास हो जाता है। पुद्गल जीवन को अभिव्यक्त होने के लिए अवसर प्रदान करता हो, किन्तु आवश्यक नहीं है कि वह जीवन की रचना भी करता हो। किन्तु क्या दिक् (आकाश), काल, पुद्गल और जीव केवल इन चार की सत्ता मानकर विश्व की व्याख्या सम्भव हो सकेगी। जैन दार्शनिकों का प्रत्युत्तर होगा, नहीं। प्रथम तो हमें इनसे पृथक् ऐसे तत्व की कल्पना होगी जो विश्व को एक व्यवस्था में बाँधकर रखता है, पुद्गल-पिण्डों एवं परमाणुओं को अनन्त आकाश में छितर जाने से रोकता है, वैज्ञानिक इसे "गुरुत्वाकर्षण" (ग्रेवीटेशन) के नाम से जानते हैं। जैन दर्शन में इसे हम अधर्म

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्रव्य कहते हैं यद्यपि जैन दर्शन का अधर्म द्रव्य गुरुत्वाकर्षण से थोड़ा भिन्न अवश्य है। पुनश्च विश्व में केवल स्थिति नहीं है, उसमें गति भी है। यद्यपि गति पुद्गल एवं जीव की अपनी क्रियाशक्ति से ही सम्भव है, फिर भी यदि गति के लिए कोई माध्यम नहीं होगा तो गति सम्भव नहीं होगी। जैन दार्शनिकों ने इस हेतु धर्मद्रव्य की अवधारणा को प्रस्तुत किया तो विज्ञान ने "ईथर" की खोज की। यद्यपि आधुनिक खोज़ों के परिणाम स्वरूप विज्ञान में ईथर का स्वरूप बहुत कुछ बदल गया है। आज ईथर भौतिक नहीं अपितु अभौतिक बन गया है और इस रूप में वह धर्म द्रव्य की अवधारणा के अधिक निकट आ गया है। इस प्रकार जैन दर्शन के षट् द्रव्य विज्ञान सम्मत ही हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि विज्ञान की नवीन खोज़ों के प्रकाश में जैन दर्शन की इन अवधारणाओं को परखा जावे। आज जैन दर्शन और विज्ञान दोनों ही इस स्थिति में है कि वे एक दूसरे का सहयोग लेकर अपनी गुत्थियों को अधिक सफलतापूर्वक सुलझा सकते हैं।[1]

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–५

–सागरमल जैन

टिप्पणियाँ

१. पुणे विश्वविद्यालय द्वारा जनवरी, १९७७ में आयोजित जैन संगोष्ठि में पठित निबन्ध।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

औदात्य : स्वरूप मीमांसा

'औदात्य' शब्द 'उदात्त' से व्युत्पन्न है। हिन्दी के शब्दकोशों में "उदात्त" के अनेक अर्थ दिये गये हैं,[1] यथा—उच्च, महान्, श्रेष्ठ, उदार, प्रसिद्ध आदि। "उदात्त" का आंग्ल पर्याय 'सब्लाइम' (Sublime) है, जिसके अर्थ हैं—ऊँचा, उन्नत उठा हुआ, महान् इत्यादि।[2] अतः हिन्दी और अंग्रेजी दोनों की ही दृष्टि से 'उदात्त' का अर्थ हुआ—उच्च महान्, उन्नत आदि। 'औदात्य' उदात्त का भावात्मक रूप है, अतः संक्षेप में इसका आशय ऐसे तत्त्व या गुण से लिया जा सकता है जो उच्चता, महत्ता एवं उत्कृष्टता का द्योतक हो।

पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में विभिन्न विद्वानों ने औदात्य को कला के एक विशिष्ट तत्त्व के रूप में मान्यता देते हुए इसका विस्तार से विवेचन किया है। सर्वप्रथम यूनानी आचार्य लौंजाइनस ने अपने औदात्य सम्बन्धी ग्रंथ में इसके महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है··· "सच्चे औदात्य से हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठकर गर्व के उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है, मानों जो कुछ हमने सुना है वह हमारी अपनी ही कृति हो।"[3] इस प्रकार उन्होंने काव्यजन्य आनन्द का मूलाधार औदात्य को ही माना है। लौंजाइनस ने औदात्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए एक ओर तो इसे कवि या साहित्यकार की महान् आत्मा का प्रतिबिम्ब माना है तो दूसरी ओर इसे भाषा की उत्कृष्टता एवं उच्चता पर आधारित बताया है। साथ ही उन्होंने इसके पाँच स्रोतों की भी व्याख्या की है जो ये हैं—

१. विचारों की महत्ता, २. भावों की उद्दाम अभिव्यक्ति, ३. समुचित अलंकार योजना, ४. अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता और ५. गरिमामय रचना-विधान[4]

इस प्रकार लौंजाइनस ने औदात्य को एक अत्यन्त व्यापक रूप में ग्रहण करते हुए इसका सम्बन्ध काव्यगत विचार, भाव, शैली एवं शिल्प आदि सभी की उत्कृष्टता से स्थापित किया है। यहाँ तक कि उन्होंने अलंकार-सौंदर्य का भी समावेश औदात्य में कर लिया है। जब कि परवर्ती आचार्यों ने औदात्य को सौंदर्य से पृथक् मानते हुए उसे अपेक्षाकृत अधिक संकुचित अर्थ में ग्रहण किया है। प्रसिद्ध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जर्मन विचारक इमैनुअल काण्ट (Immanuel Kant, 1724-1803 A.D.) ने सौन्दर्य और औदात्य पर पृथक्-पृथक् रूप एवं शैली से सम्बन्धित किया है, वहाँ औदात्य को विचार से सम्बन्धित माना है। उनके विचारानुसार औदात्य वह है जो पूर्णतः महान् हो। पूर्णतः महान् से तात्पर्य है–जो अतुलनीय महान् हो जिसके समक्ष प्रत्येक वस्तु तुच्छ प्रतीत हो। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि काण्ट के विचारानुसार पूर्ण या अद्वितीय महान् ही औदात्य है।[५] औदात्य के अन्य लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने बताया कि उसका सम्बन्ध विकर्षक तत्त्वों से होता है अतः वह प्रवृत्तिमूलक न होकर निवृत्तिमूलक होता है। उससे प्राप्त आनन्द भी निषेधात्मक आनन्द होता है।[६]

एडमंड बर्क (Edmund Burke, 1729-97 A. D.) ने औदात्य का सम्बन्ध पीड़ा एवं भय से स्थापित करते हुए स्पष्ट किया है कि व्यवहारिक जीवन में इनकी अनुभूति कष्टदायक होती है किन्तु कला में हम उनके कटु प्रभाव से बचे रहते हैं। क्योंकि हम जानते है कि कला के माध्यम से प्रस्तुत पीड़ा एवं भय की स्थितियों से हमारा प्रत्यक्ष से सम्बन्ध नहीं होता तथा इसीलिए हमें प्रसन्नता की अनुभूति होती है। इस प्रकार पीड़ा एवं भय के भावों से प्राप्त होनेवाली अनुभूति ही औदात्य की अनुभूति है।[७]

औदात्य की अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए बर्क महोदय ने शक्ति, विस्तार, गम्भीरता, उच्चता, अनन्तता, विपुलता आदि तत्त्वों की भी चर्चा की है।[८] हीगल (Hegel, 1770-1831A.D.) ने औदात्य का सम्बन्ध परमात्मा से स्थापित करते हुए आध्यात्मिक तत्वों को ही उसके आधार के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने पूर्ववर्ती विचारों की इस धारणा का खण्डन किया है कि औदात्य प्राकृतिक एवं लौकिक पदार्थों के रूपाकार की व्यापकता या विशालता पर आधृत होता है। हीगल के विचारानुसार भौतिक जगत् की प्रत्येक वस्तु चाहे वह कितनी ही व्यापक एवं विशाल क्यों न हो, प्रभु की दिव्य सत्ता के सम्मुख अत्यन्त तुच्छ एवं गौण सिद्ध होती है, उस दिव्य सत्ता को छोड़कर अन्य पदार्थों में औदात्य को खोजना भूल है।[९] इस प्रकार हीगल महोदय के विचारानुसार औदात्य आध्यात्मिकता का ही पर्याय सिद्ध होता है।

ब्रेडले (Bradley) ने औदात्य को सौन्दर्य का ही प्रभेद मानते हुए उसे महानता से सम्बन्धित किया है। ऐसा सौन्दर्य जो कि असाधारण उच्चता एवं महानता से युक्त हो, औदात्य कहा जा सकता है। उन्होंने औदात्य की अनुभूति का विश्लेषण करते हुए यह भी स्पष्ट किया है कि जिन निषेधात्मक या विकर्षण-मूलक प्रवृत्तियों को पहले हम (व्यावहारिक जीवन में) नियन्त्रित एवं कुण्ठित रखते हैं, वे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही कलागत औदात्य की अनुभूति से उन्मुक्त एवं उल्लसित हो उठती हैं। इसी से हमें आनन्द की अनुभूति होती है।[10]

सेन्तायना (Santayana) ने औदात्य के विभिन्न लक्षणों पर पुनर्विचार करते हुए इसकी अनेक विशेषताओं का उद्‌घाटन किया है।[11] एक तो उन्होंने इस धारणा का खण्डन किया है कि औदात्य के मूल में भय या त्रास की भावना रहती है। उनके विचारानुसार औदात्य की अनुभूति में भय या त्रास की भावना को तो नियन्त्रित या दमित करना होता है, अन्यथा उसके आनन्द की अनुभूति नहीं होगी। वस्तुतः औदात्य की अनुभूति के मूल में भय या त्रास न होकर निर्वेद या मुक्ति का बोध रहता है। दूसरे, उनके विचारानुसार औदात्य का आलम्बन वस्तु-विशेष न होकर कर्म-विशेष होता है। वह कर्म ऐसा होता है जिसे देखकर (पाठकों या दर्शकों के मन में) निर्वेद की भावना संचरित होती है। वह हमें राग की ओर अग्रसर न करके विराग या वैराग्य की ओर अग्रेसर करता है। सामान्यतः हम बाह्य वस्तुओं से प्राप्त सुख एवं आनन्द में लीन हो जाते हैं किन्तु कई बार ऐसी भी परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं कि हमें अपनी रागात्मक प्रवृत्तियों को कुण्ठित करके भिन्न मार्ग से आनन्द खोजने के लिये विवश होना पड़ता हैं। उस समय हमें उन सब वस्तुओं से उदासीन हो जाना पड़ता है जो कि हमारे सामने उपस्थित होती हैं। उस स्थिति में हम बाह्य जगत् से पृथक्ता के अनुभव करते हैं और यहीं औदात्य की उपलब्धि होती है।[12] अस्तु, सैन्तायना के विचारानुसार औदात्य का सम्बन्ध रागात्मकता के स्थान पर विरक्ति, पृथक्ता का मुक्ति के बोध से है, जिसे दूसरे शब्दों में निर्वेद की अनुभूति भी कह सकते हैं।

औदात्यजन्य आनन्द को सेन्तायना ने तत्वबोधजन्य आनन्द भी माना है। उन्होंने स्वीकार किया है कि वस्तुतः यह एक ऐसा चिन्तनजन्य आनन्द है जो इतना गम्भीर हो जाता है कि उसमें आलम्बन का आलम्बनत्व न रहकर वह आत्मा के साथ एकाकार हो जाता है।[13]

औदात्य की अनुभूति को एक आध्यात्मिक अनुभूति के तुल्य बताते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि सौन्दर्य में जहाँ हम बाह्य जगत् में हम अपने आपको लीन करते हुए जीवन की पूर्णता का बोध करते हैं, वहाँ औदात्य में हम उससे पूर्णतः विरक्त होते हुए अपेक्षाकृत अधिक पवित्र एवं गम्भीर पूर्णता को प्राप्त कर लेते हैं। हमारी दृष्टि एकाएक विकसित हो जाती है, जीवन के सामान्य स्वार्थों से एकाएक छुटकारा मिल जाता है और किसी चिरन्तन एवं लोकातीत सत्ता से हमारा तादात्म्य स्थापित हो जाता है—इन सब के कारण हम प्रत्यक्ष भौतिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पदार्थों से विरक्त हो जाते हैं और एक विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते हैं। [१४]

बीसवीं शती के प्रसिद्ध सौन्दर्यशास्त्री ई. एफ. कैरिट ने औदात्य को अत्यधिक आदर्शवादी, आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी दृष्टि से विवेचित करने की परंपरागत प्रवृत्ति का विरोध करते हुए उसे सीमित अर्थ में ग्रहण करने की चेष्टा की। उनके विचारानुसार औदात्य का सम्बन्ध ऐसी वस्तुओं के कलात्मक पक्ष से है जो कि मूलतः मानवता के लिये प्रतिकूल या अग्राह्य है किन्तु जो हमारी उच्च या आदर्श धारणाओं के साथ जुड़ गई है। मृत्यु, पीड़ा, त्रास, निराशा आदि जो कि औदात्य के आधार माने जाते हैं कभी भी मनुष्य जाति के लिए स्पृहणीय बन सकेंगे, इसकी संभावना कम ही है, फिर भी ये अपनी रहस्यात्मकता या विचित्रता के कारण युग-विशेष में सौन्दर्यानुभूति के मूलाधार रहे हैं। वस्तुतः इस अनुभूति के मूल में इन्द्रियातीत तर्क न होकर चिन्तनशक्ति का ही चमत्कार रहता है जिसके कारण बीभत्स भी सुन्दर में परिणत हो जाता है। अन्ततः औदात्य की अनुभूति भी रागात्मक बन जाती है [१५]

इसप्रकार हम देखते हैं कि औदात्य के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न अवधारणाएं व्यक्त की हैं, जिन्हें निष्कर्ष रूप में नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

१. औदात्य साहित्यकार की महानता का प्रतिबिम्ब है।
२. काव्यानन्द का मूलाधार औदात्य ही है।
३. औदात्य भाषा की उत्कृष्टता एवं उच्चता पर आधारित है।
४. औदात्य के पाँच स्रोत हैं—विचार, भाव, अलङ्कार, अभिव्यंजनाशैली और रचना-विधान।
५. औदात्य विचार या चिन्तन से सम्बन्धित है।
६. औदात्य पूर्णतः अद्वितीय या अतुलनीय महान् है।
७. औदात्य का सम्बन्ध विकर्षक तत्त्वों से होता है।
८. औदात्य निवृत्तिमूलक होता है।
९. औदात्य का सम्बन्ध पीड़ा एवं भय के भावों से है।
१०. औदात्य का सम्बन्ध गंभीरता, विस्तार, उच्चता, अनन्तता, विपुलता से है।
११. औदात्य का सम्बन्ध दिव्य सत्ता (परमात्मा) एवं आध्यात्मिक तत्त्वों से है।
१२. औदात्य का आलम्बन वस्तु-विशेष न होकर कर्म-विशेष होता है।
१३. औदात्य की अनुभूति में निवृत्ति, विरक्ति या मुक्ति के बोध का आनन्द होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपर्युक्त अवधारणाओं में से कतिपय परस्पर-विरोधी हैं। लौंजाइनस ने एक ओर तो भाषा-शैली की उत्कृष्टता को ही औदात्य का पर्याय माना है, तो दूसरी ओर विचार, भाव आदि को भी औदात्य के स्रोत के रूप में स्वीकार किया है जो संगत प्रतीत नहीं होता। जैसा कि परवर्ती विद्वानों के विवेचन से स्पष्ट है कि औदात्य का सम्बन्ध मूलतः विचार से ही है, भाषा एवं शैली की उत्कृष्टता को औदात्य न कहकर "सौन्दर्य" कहना उचित होगा। वस्तुतः लौंजाइनस ने औदात्य की प्रतिष्ठा इतने व्यापक रूप में करने की चेष्टा की जिससे उसके अन्तर्गत काव्य के सभी पक्षों, अंगों एवं गुणों का समाहार हो जाय, किन्तु इसे परवर्ती विद्वानों की मान्यता प्राप्त नहीं हुई।

जहाँ विभिन्न विद्वानों ने औदात्य को अद्वितीय महान् से सम्बन्धित माना है वहाँ हीगल ने उसे केवल दिव्य सत्ता या अध्यात्म तक ही सीमित कर देने का प्रयास करते हुए उसे एक अलौकिक तत्त्व बता दिया जो उचित प्रतीत नहीं होता। अद्वितीय महान् या अतुलनीय महान् में परमात्मा का भी समावेश हो जाता है किन्तु साथ ही उसमें अन्य उदात्त तत्वों, गुणों एवं भावनाओं को भी स्थान देना आवश्यक है, अन्यथा उदात्त की व्यंजना केवल रहस्यवादी काव्य में ही सम्भव हो सकेगी।

कला में असुन्दर, मुख्य एवं भयानक को भी उदात्त विचारों से सम्बद्ध करके आकर्षक बना दिया जाता है– इसीलिए व्यावहारिक जीवन के कटु भाव... घृणा, भय शोक आदि– भी कला के आल्हादजनक बन जाते हैं। अतः औदात्य का कटु भावों से सम्बन्ध मानना तो उचित है किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि औदात्य सदा इन पर ही निर्भर रहे।

औदात्य, उच्चता, महत्ता या अतुलनीय महान् से सम्बन्धित होता है–इस तथ्य को प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। उच्चता या महत्ता का निर्णय प्रायः बुद्धि के द्वारा होता है, तथा उसके मूल में भाव की अपेक्षा विचार की प्रमुखता रहती है, अतः औदात्य को बौद्धिक तत्व मानना उचित है। बौद्धिक तत्वों की अनुभूति प्रवृत्तिमूलक कम और निवृत्तिमूलक अधिक होती है। अतः औदात्य का सम्बन्ध निवृत्ति, विरक्ति, मुक्ति आदि से भी माना जाय तो अनुचित नहीं होगा।

इस प्रकार औदात्य के विभिन्न लक्षणों के अन्तर्गत साहित्यकार (रचयिता) के आत्मतत्व की महत्ता, विषयवस्तु की उच्चता एवं गम्भीरता, बौद्धिक तत्वों की प्रमखता एवं गम्भीरता, कटु भावों का योग तथा उसकी अनुभूति में विरक्तिमूलक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तत्वों की प्रमुखता को लिया जा सकता है। यदि और भी संक्षेप में कहें तो कला के माध्यम से जहाँ भी "महत्" का बोध होता है, वहाँ औदात्य की सत्ता स्वीकार की जा सकती है...यह महत्तत्त्व लौकिक क्षेत्र का हो या अलौकिक का, इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

सौन्दर्य और औदात्य :–

जैसा कि पीछे सङ्केत किया जा चुका है कि प्रारम्भ में लौंजाइनस ने औदात्य की प्रतिष्ठा इतने व्यापक रूप में की कि जिससे सौन्दर्य का भी समावेश उसके अन्तर्गत हो जाता है किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार नहीं किया। कांट, ब्रेडले, सान्तायना प्रभृति विद्वानों ने सौन्दर्य और औदात्य को कला के दो पृथक्-पृथक् तत्त्वों के रूप में ग्रहण करते हुए दोनों की आधारभूत भिन्नताओं पर प्रकाश डाला है।

सौन्दर्य और औदात्य में सबसे बड़ा अन्तर तो इस बात का है कि सौन्दर्य ऐन्द्रियक है, उसकी अनुभूति हम विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा करते हैं जब कि औदात्य अतीन्द्रिय है। सौन्दर्य ससीम एवं निश्चित आकारयुक्त होता है, जबकि उदात्त असीम होता है। सौन्दर्य बाह्य रूपाकार से सम्बद्ध है जब कि उदात्त आन्तरिक चेतना से सम्बद्ध है। सौन्दर्य से हमारी प्रवृत्तियाँ भड़कती हैं, उत्तेजित होती हैं जब कि उदात्त से उनका शमन होता है। सौन्दर्य की प्रकृति रागात्मक (Positive) होती है जब कि उदात्त विरागात्मक (Negative) होता है। सुन्दर का सम्बन्ध वस्तु से है जब कि उदात्त का क्रिया या कार्य से होता है। सौंदर्य में प्रत्यक्षतः आनन्द एवं विकर्षण की भावना रहती है जब कि उदात्त प्रत्यक्षतः अनाकर्षक एवं त्रासदायक हो सकता है। इसी प्रकार सौन्दर्य प्रायः लौकिक धरातल पर अवस्थित होता है जबकि उदात्त अलौकिक स्तर पर संस्पर्श करता है। अस्तु, उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सौन्दर्य एवं औदात्य में पर्याप्त विषमताएँ हैं।

हिन्दी विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय,
सिमला –५

– चन्द्रकला गुप्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. बृहत् हिन्दी कोश–पृ. १९१

२. The Shorter Oxford English Dictionary, Vol. II, p. 2059

३. डॉ. नगेन्द्र; काव्य में उदात्त तत्त्व– पृ. ५२

४. डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त; साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन–पृ. ५०

5. " We call that sublime which is absolutely great ...what is great beyond all comparison...the sublime is that in comparison with which everything is small "

Kant; Critique of Judgement; pp. 86, 88

6. " Hence it is incompatible with (physical) charm; and as the mind is not merely attracted by the object but is ever being alternately repelled, the satisfaction in the sublime does not so much involve a positive pleasure as admiration or respect which rather deserved to be called negative pleasure "– Ibid p 83

7. " When we have an idea of pain and danger coupled with the consciousness of freedom from dangerous circumstances we feel delighted. This experience is distinct from positive pleasure, because it rests upon the idea of pain and danger. The object that arouses this delight is sublime "

– K. C. Pandey; Aesthetics; p. 270

8. " Power is sublime, for, generally speaking, everything that is sublime, is some modification of power, greatness; it's dimension is sublime . ...infinite is sublime. Magnitude in building is sublime. Magnificence; a great profusion of splendid things, starry heaven for instance, is sublime " – Ibid p. 271

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

9. " Hegel further subdivides the concept into a positive, immortal sublime, found in the pathetic presentation of a universal good......and a negative or transcendant one (sublimity) which alone properly deserves the name."

– E F. Carritt; Theory of Beauty

10 " The pleasure we take in sublimity is conditioned by previous negative stages of reputation in which we feel cheeked, baffeed, menaced. This, however, is followed by a feeling of expression or uplifting and the last stage is always positive, for even when the sublime thing is terrible or forbidding we end in a consciousness of union with it." Ibid.

11. " The vivid conception of great evils and that self-assertion of the soul which gives the emotion of the sublime... sublime...depends upon the terror..terror makes us withdraw into ourselves, indifference comes as a rebound and we have that emotion of detachment and liberation in which the sublime really consists." George Santayana; Sense of Beauty; p. 181

12. Ibid; p. 181

13. Ibid; p. 180

14. Ibid; p. 181

15. " Many such things—death, pain, despised love--are hardly liked by any freak of fashion to become agreeable to the mass of mankind. But many objects that strike one age mainly by their mystery and strangeness, their contempt and cruelty for our comfotable uses, become to the next such familiar objects of aesthetic pleasure."

E. F. Carritt; The Theory of Beauty, p. 175

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चमत्कार एवं बौद्धिकता

चमत्कार की बौद्धिक व्याख्या की समस्या इस दृष्टि से अत्यन्त रोचक है कि वह हमें बौद्धिकता की सीमा के विषय में सोचने के लिए बाध्य करती है। समझ का समस्त व्यापार किन्हीं बौद्धिक अभ्युपगमों के क्षेत्र में ही सार्थकता रखता है। व्याख्या तथा समझ में अन्तर बतलाकर कदाचित् यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि बौद्धिक अभ्युपगमों का क्षेत्र केवल व्याख्या के सन्दर्भ में ही कोई अर्थ रखता है, समझ की दृष्टि से उसका अतिक्रमण भी संभव है। परतु यह अंतर समझ के आरम्भिक स्तर तक ही बनाया जा सकता है। समझ के परिपक्व स्तर पर व्याख्या का समावेश आवश्यक प्रतीत होता है। घटनाओं के अनुभव को समझने में व्यक्तिभेद की दृष्टि से, विभिन्न स्तरों पर सन्तोष प्राप्त होने की बात की जा सकती है। परन्तु इन स्तर भेदों के आधार पर ही सही समझ के उस स्तर की बात भी की जा सकती है, जहाँ न केवल घटनाओं का स्वरूप उनका पूर्वापर सम्बन्ध, अथवा परस्पर सम्बन्ध ही स्पष्ट होते हैं, अपितु यह भी पता चलता है कि जो होता है, वह क्यों होता है, अन्यथा क्यों नहीं होता। इस प्रकार की जिज्ञासा का शमन वस्तुतः व्याख्या की उपलब्धि ही माननी चाहिए। परन्तु किसी भी वर्णन को व्याख्या नहीं कहा जा सकता, और जिस प्रकार की जिज्ञासा का शमन अभिप्रेत है, वह किसी प्रकार के वर्णन से संभव हो ऐसा नहीं होता। जिज्ञासा का जो बौद्धिक उत्स है, वही उसके शमन की शर्तों को भी निर्धारित करता है। अन्य शब्दों में बिना किन्हीं बौद्धिक अभ्युपगमों के व्याख्या उपयुक्त व्याख्या नहीं हो सकती। इस परिप्रेक्ष्य में चमत्कार का प्रश्न हमें इन अभ्युपगमों के विषय में सोचने के लिए बाध्य करता है।

चमत्कार की अवधारणा में विशिष्टता यह है कि उस में बौद्धिक अतिक्रमण की धारणा का अन्तरंग समावेश जान पड़ता है। चमत्कार शब्द का प्रयोग साधारण तया ऐसे अवसरों पर ही होता है जब घटना साधारण बौद्धिक व्याख्या को चुनौती देने वाली हो। जिस घटना की व्याख्या बौद्धिकता के सन्दर्भ में संभव हो, उसे हम चमत्कार शब्द से अभिहित नहीं करते। ऐसी स्थिति में यह कहा जा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकता कि जब पहले ही यह मान लिया गया है कि चमत्कार की बौद्धिक व्याख्या संभव नहीं है, तब चमत्कार की बौद्धिक व्याख्या का प्रश्न क्या अर्थ रखता है ? यह प्रश्न प्रथम दृष्टि में सशक्त जान पड़ता है, तथा चमत्कार के विषय में बौद्धिक जिज्ञासा का मूल से ही निराकरण कर डालता लगता है। परन्तु स्वयं बौद्धिकता की मांग इतनी सरलता से शान्त नहीं होती। समस्त ज्ञानव्यापार का एक बौद्धिक अभ्युपगम यह है कि संसार में जो कुछ है, एवं जो कुछ घटता है, वह अन्ततः बौद्धिक रूप में व्याख्येय है। प्रत्येक घटना के आधार में किसी सामान्य नियम को खोजा जा सकता है, उस नियम के अन्तर्गत रख कर ही उस घटना विशेष की व्याख्या संभव होती है। स्वयं इन नियमों का तन्त्र, विश्व के विभिन्न व्यापारों तथा घटनाओं की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस तन्त्र का स्वरूप क्या है, इसके अन्तर्गत कौन से सामान्य नियम आते हैं, विभिन्न घटनाओं की व्याख्या वे किस प्रकार प्रस्तुत करते हैं, तथा भविष्य में घटने वाली घटनाओं के विषय में किस प्रकार की पूर्वोक्तियां की जा सकती हैं, ये प्रश्न किसी काल विशेष में विवाद का विषय हो सकते हैं, परन्तु समस्त वैज्ञानिक प्रवृत्ति इन्हीं प्रश्नों के समाधान में रत है, तथा इनके सफल समाधान में विज्ञान की प्रगति निहित है, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं विज्ञान के अर्थक्रियाकारित्व से किसी सीमा में यह पुष्ट भी होता है, कि बड़ी सीमा में वैज्ञानिक चेष्टाएँ सार्थक चेष्टाएँ हैं, यद्यपि एक दार्शनिक प्रवृत्ति विज्ञान को गौण स्थान देने के पक्ष में क्रियाशील रही है, तथापि वे दार्शनिक विज्ञान को नितान्त अनदेखी करते हों ऐसा नहीं लगता। इसके विपरीत उनकी चेष्टाएँ प्रच्छन्न अथवा व्यक्त रूप में एक ऐसे तन्त्र की तलाश में व्यस्त दीखती हैं, जो विज्ञान से संगति रखता हो।

यहाँ यह स्मरण रखना सुविधाजनक होगा कि ह्यूम, जिसने आनुभविक जगत् में पूर्ण सार्वभौमिक तथा पूर्ण अनिवार्य सिद्धान्तों का निश्चित किया जाना तर्कतः असंभव माना, ऐसी किसी भी व्याख्या को अस्वीकार करता है जो नितान्त अबौद्धिक हो मात्र आकस्मिक हो, अथवा किसी परा-सिद्धान्त पर आश्रित हो। उसकी दृष्टि में किसी घटना को चमत्कार कहना, घटना के नियमों को न समझ पाना ही है। तथा जिन घटनाओं की चमत्कार के रूप में लोग बात करते हैं वे वस्तुतः साक्ष्य अथवा अन्वीक्षण के अभाव का परिचायक है, या उन लोगों में विश्वास सुलभता की द्योतक हैं। अन्य शब्दों में बुद्धि की यह माँग है की जो कुछ घटता है, वह किसी नियम के अन्तर्गत घटता है, उस नियम को हम जानते हैं या नहीं यह अलग प्रश्न है; और इस सन्दर्भ में चमत्कार की बात करना ज्ञान की अपरिपक्व अवस्था की ओर संकेत करना है। इस प्रकार आनुभविक ज्ञान के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समग्र क्षेत्र के मात्र संभाव्य होने पर भी चमत्कार की अवधारणा को अज्ञान का ही द्योतक कहा जा सकता है। इस संक्षिप्त विवेचन से हमें इस दृष्टि का बोध होता है कि बोध के व्यापक क्षेत्र में, जो अबौद्धिक तथा अव्याख्येय हैं, उसके लिए कोई स्थान नहीं है। या यह कहिए कि अज्ञेय, विस्मयकारी, अथवा जो अव्याख्येय है, वह बुद्धि के लिए एक ऐसी चुनौती उपस्थित करता है, कि या तो उसकी अर्थवत्ता की पूर्णतया उपेक्षा की जाय या उसे बौद्धिकता के क्षेत्र में घसीट लाया जाय, दोनों अवस्थाओं में चमत्कार को हम उसके मर्म से वंचित कर देते हैं।

प्रश्न यह है कि चमत्कार के, तथा बौद्धिकता के विषय में क्या यह स्थिति मान्य है? इस प्रश्न के संदर्भ में दो महत्त्वपूर्ण बिंदू हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। प्रथम तो यह कि चमत्कार शब्द का संकेत किसी ऐसी घटना से भी लिया जाता है जो घटी नहीं है अपितु जिसके घटने की हम कामना करते हैं। इस में एक ओर हम अपनी मानवीय क्षमताओं की (ज्ञान तथा कर्म दोनों के संदर्भ में) सीमाओं को स्वीकार करते हैं, तथा किसी परम अपरिमित शक्ति की अपरिमित सामर्थ्य को भी स्वीकार करते हैं। दूसरी बात यह है कि बौद्धिकता के संदर्भ में एक विचित्र विरोधाभास का लक्ष्य करते हैं : एक ओर सर्वग्राही बौद्धिकता के परे हम कुछ मानना नहीं चाहते, परंतु दूसरी ओर बौद्धिकता का प्रत्यय अबौद्धिक की अवधारणा के बिना निष्प्राण एवं निष्क्रिय प्रतीत होता है। और ये दोनों बिन्दु अन्ततः एक ही कठिनाई समस्या के परिचायक प्रतीत होते हैं। निबंध के शेष अंश में इन्हीं बिंदुओं पर विचार अभिप्रेत है।

प्रथम बिन्दु के सन्दर्भ में चमत्कार शब्द से सामान्यतया जो आशय लिया जाता है, उसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है। धर्मगाथाओं में तथा पुराणों में ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं, जिन्हें चमत्कार की संज्ञा दी जाती है। इन सभी में कुछ विशेषताओं को लक्ष्य किया जा सकता है। पहले तो यह कि इस प्रकार की घटनाएँ या कृत्य विलक्षण तथा अद्वितीय होते हैं, वे साधारण अनुभव से अलग कोटि के जान पड़ते हैं। दूसरी बात यह है, कि मनुष्य साधारणतया जो कर सकता है तथा करता है, उससे चमत्कारी कृत्य इस रूप में भिन्न होते हैं, कि वे न तो साधारण अवस्था में संभव प्रतीत होते हैं और न साधारण मनुष्य उन्हें संपन्न कर सकता है। सम्बन्धित तीसरा तथ्य यह है कि जो हमारा साधारण ज्ञान है तथा जो उसकी अपेक्षाएँ हैं, उन सब की दृष्टि से चमत्कारी घटना अव्याख्येय प्रतीत होती है। यही नहीं जो ज्ञान-सिद्धांत हैं, उनका वह अतिक्रमण करते हुए प्रतीत होती है। इसी में उसकी विस्मयकारिता सन्निहित है। धर्मगाथाओं तथा पौराणिक कथाओं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में वर्णित घटनाएँ लौकिक विश्वास की दृष्टि से वास्तविक घटनाएँ हैं, यद्यपि इतिहास के लिए वे समस्यामूलक हैं। उन्हें साधारण बौद्धिक अन्वीक्षण में ग्राह्य बनाने के लिए या तो प्रतीकों के रूप ग्रहण करना आवश्यक होता है, या कल्पना की उड़ान मान कर केवल लोक रंजन के लिए छोड़ देना होता हैं, अथवा धार्मिक विश्वास का अंग मानकर बौद्धिक दृष्टि से उदासीनता अपनानी पड़ती है। परंतु चमत्कार शब्द का प्रयोग केवल भूत में घटी एक विशेष प्रकार की घटनाओं तक ही सीमित नहीं मानना चाहिए। इस से पहले एक और भेद को समझ लेना सुविधाजनक होगा। चमत्कार जादू नहीं है, यद्यपि विस्मय दोनों में विद्यमान है। जादू की व्याख्या ज्ञात सिद्धान्तों के आधार पर सम्भव है। वस्तुतः जादू के कौशल सम्भवतया व्याख्येय सिद्धान्तों पर ही आधारित होते हैं,यह बात दूसरी है कि जादूगर स्वयं, तथा उसके दर्शन उन सिद्धांतों से परिचित न हों। इसके अतिरिक्त जादू शुद्ध मनोरंजन के निमित्त होता हैं,अथवा सम्भवतः किन्हीं सरल ग्राही व्यक्तियों को किसी दुरुद्देश्य का शिकार भी, उसके माध्यम से बनाया जा सकता है। चमत्कार इन दोनों ही अवस्थाओं में जादू से भिन्न है।

इस सम्बन्ध में मैक्ग्रिगॅर ने एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव रखा है।[1] वह यह है कि चमत्कार के रूप में सामान्यतया हम जो यह समझते हैं कि ईश्वर अपनी ही व्यवस्था में कभी-कभी और कहीं-कहीं हस्तक्षेप करता है, उसे इस रूप में नहीं लेना चाहिए कि वह ऐसा केवल मनोविनोद के लिए करता है। वस्तुतः नैतिक दृष्टि से, तथा शिव की दृष्टि से ही वह इस प्रकार का हस्तक्षेप करता है। इस विचार के सहारे इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है कि वस्तुतः चमत्कार की कामना, न्याय की व्यवस्था में व्यवधान पड़ने पर अथवा उसके स्खलन की अवस्था में पुनः स्थापित करने में दैवी हस्तक्षेप की आवश्यकता की अनुभूति की सूचक है। स्पष्ट है कि यह अनुभूति तभी होती है जब समस्त मानवीय प्रयास पूर्णतया विफल हो जाते हैं तथा कोई आशा नहीं रह जाती।

और इसी सन्दर्भ को यदि अधिक व्यापक धरातल पर लें तो कदाचित् यह बात कम प्रसंग की रह जाती है कि वस्तुतः कभी ऐसी घटनाएँ घटी भी है तथा जो तथाकथित घटनाएँ घटी हैं तथा जिन्हें चमत्कार से अभिहित किया जाता है, वे वास्तविक थीं अथवा नहीं। यदि इतना ही स्वीकार किया जाए कि मनुष्य एक ऐसी अवस्था की तीव्र कामना करता है जो किसी बिगडी हुई स्थिति में सुधार ले आये अथवा किसी वांछित स्थिति को पुनः स्थापित कर दे, और यह अवस्था लाना स्वयं मनुष्य की क्षमता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के परे हो, एवं इसके सम्पादन में दैवी हस्तक्षेप की अपेक्षा हो तब भी 'चमत्कार' की मानवीय अनुभव नें एक आवश्यक भूमिका देखी जा सकती है। वस्तुतः इस प्रकार की आशा मनुष्य के इस विश्वास पर आधारित मानी जा सकती है, कि कोई न्यायिक अवस्था है, तथा उस व्यवस्था का कोई रक्षक है, तथा उस पर आँच आने पर वह रक्षक उसकी रक्षा के निमित्त अपनी अपरिमित शक्ति का प्रयोग करता है। ऐसा वह किसी व्यक्ति अथवा घटना के माध्यम से भी कर सकता है।

विशिष्टतया मानवीय सन्दर्भ में सामाजिक विघटन, अनाचार, त्रास, तथा घोर अन्याय की अवस्था में, जब किन्हीं कर्मठ, साहसी तथा श्रेष्ठ व्यक्तियों ने इन अवस्थाओं के विरुद्ध अपने जीवन कि आहुति दी है, तब तब बहुधा उन्हें चमत्कार की उपर्युक्त भावना है। यही नहीं नितान्त साधारण व्यक्ति जब दुःख के भार से अपने को लगभग पूर्णतया दबा हुआ पाता है, तब उसे कभी कभी इसी भावना से शक्ति और सम्बल प्राप्त होता है। यहाँ यह बात ध्यान में आती है, कि अन्ततः चमत्कार की आशा करना केवल एक दुराशा करना ही है। स्पष्ट ही हम किसी ऐसी स्थिति या अवस्था की आशा कर रहे हैं, जिसके विषय में हम जानते हैं कि कोई बौद्धिक या भौतिक आधार नहीं है। और बहुधा, शायद सर्वदा ही इन बौद्धिक या भौतिक आधारों के बाहर कुछ घडता भी नहीं। यह बात अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है, परन्तु इस से वस्तुतः मानवीय अनुभव में चमत्कार की जो वास्तविक भूमिका रही है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह सही है कि इस आपत्ति का होना वस्तुतः मानवीय विश्वास की आन्दोलित अवस्था का सूचक है। घोरतम त्रास की रात्रि में प्रकाश की किसी किरण की आशा की जा सकती है क्या ? किस आधार विश्वास की भूमि यहाँ डोलने लगती है परन्तु यह अन्ततः मानवीय परिमितता का ही सूचक है–परिमितता का यह तीव्रतम बोध ही मनुष्य के आत्मातिक्रमण की प्रेरणा बनता है,–क्या यह स्वयं एक चमत्कार नहीं हैं ?

यह मामला केवल भावोद्रेक तक ही सीमित नहीं है। देखने की बात यह है कि इस स्थिति में बौद्धिकता का क्या महत्त्व है इस सम्बन्ध में दो बातों पर ध्यान देना होगा। प्रथम तो बौद्धिकता के अभ्युपगमों के स्वरूप के विलय में यह स्मरणीय प्रतीत होता है कि यह बौद्धिकता का स्वरूप स्वयं समस्यामूलक है। इन अभ्युपगमों को या तो विशिष्ट रूप में ग्रहण किया जा सकता है अथवा अत्यन्त सामान्य रूप में। विशिष्ट रूप सन्दर्भाधीन होगा। तथा अत्यन्त सामान्य रूप समस्त सन्दर्भों में बौद्धिकता के विशिष्ट रूपों का अधिष्ठान कहा जा सकता है। यदि केवल विज्ञान के इतिहास को सामने रखें तो तालेमेवी, न्यूटोनीय, तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आईन्स्टीनयनी व्याख्याएं बौद्धिकता के विशिष्ट रूपों के उदाहरण स्वरूप ग्रहण की जा सकती हैं। दूसरी ओर जब इन विभिन्न विशिष्ट सन्दर्भों को एक अविरल क्रम के विभिन्न स्तरों के रूप में देखें तो बौद्धिकता के एक सामान्य रूप का संकेत मिलता है। दूसरी ओर यदि समाज सम्बन्धी विज्ञानों के सन्दर्भ में बौद्धिकता के स्वरूप को लें तो वह प्राकृतिक विज्ञानों से किंचित् भिन्न होगा। स्थूल रूप में कहें तो एक की सन्दर्भ में हेतु की धारणा प्रधान है, तो दूसरे सन्दर्भ में कारण की धारणा प्रमुख है। परन्तु हेतु एवं कारण को अवधारणाओं के सम्बन्ध में विवाद की स्थिति तथा प्राकृतिक एवं समाज सम्बन्धी विज्ञानों के बीच कठोर विभाजन की समस्या इस प्रश्न की ओर संकेत करती हैं कि क्या इन विवादों के सन्दर्भ ने बौद्धिकता के अधिक मूलभूत तथा सामान्य रूप के निरूपण की खोज आवश्यक नहीं है। इसी सम्बन्ध में तथ्य तथा मूल्य के बीच भेद के प्रश्न की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। इस ओर ध्यान आकृष्ट करने का एक प्रयोजन यह कहना है कि बौद्धिकता के मौलिक स्वरूप की समस्यामूलकता चमत्कार तथा बौछिदकता के सम्बन्ध को अभी भी सार्थक अन्वीक्षण का विषय बना रहने देती है।

दूसरी बात मूल्यों के सन्दर्भ तथा बौद्धिकता के सम्बन्धित प्रत्यय से जुड़ी है। मानवीय सन्दर्भ में, विशिष्टतया मानवीय कर्म के सन्दर्भ में बौद्धिकता का प्रश्न या तो साध्यों एवं लक्ष्यों को लेकर उठाया जाता है, या किसी साध्य की उपलब्धि की दृष्टि से साधन के औचित्य के सम्बन्ध में। दोनों ही अवस्थाओं में परस्पर मानवीय सम्बन्धों के बीच न्यायिक व्यवस्था की भूमिका आधारभूत परिप्रेक्ष्य रखती है। उपर्युक्त न्यायिक व्यवस्था का प्रश्न सदैव ही दार्शनिक चिन्तन के लिए प्रेरणा रहेगा। यहाँ सम्बन्धित मतों का विश्लेषण प्रासंगिक नहीं है। केवल उस सन्दर्भ को स्पष्ट करना ही लक्ष्य है, जिस में चमत्कार की अवधारणा को अधिक सन्तोषजनक रूप में समझा जा सके। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए कह सकते हैं कि न्यायिक व्यवस्था में विश्वास तथा उसकी क्षतिपूर्ति की आशा, तथा इसी परिप्रेक्ष्य में मूल्यों एवं आदर्शों की तलाश, तथा उनकी प्रेरणा के अनुकूल जीवन को ढालने का सतत प्रयास, तथा इस प्रयास के लिए सम्बल के स्त्रोत के रूप में, वांछित अनहोनी के होने की कामना सार्थकता ग्रहण कर लेती है। इसी बात पर थोड़ी भिन्न प्रकार से सोचे। क्या चमत्कार की आशा अथवा अपेक्षा किसी भी सन्दर्भ में अर्थवत्ता ग्रहण करती है या नहीं ? हमारा अधिक आधारभूत प्रश्न है कि किस अथवा किन अवस्थाओं में हमारी आशाएँ एवं अपेक्षाएँ उपयुक्त अथवा बुद्धिसंगत मानी जा सकती हैं ? हम इस प्रकार भी प्रश्न उठा सकते हैं कि कब हमारी अपेक्षाएँ बुद्धिसंगत या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपयुक्त नहीं होती ? यदि हम ऐसी अपेक्षा करें कि पृथ्वी पर हम कुछ ऊँचाई पर मिनिट दो मिनिट आकाश में बिना किसी सहारे के स्थिर हो जाएँ, तो सम्भवतः इसे दुराशा माना जायगा। यदि हम किसी भारतीय नारी से यह अपेक्षा रखें कि वह पति को विदा देने स्टेशन पर पहुँचे, तथा उसे गाड़ी में चढ़ने के पूर्व आलिंगन से अपने प्रेम का प्रदर्शन करे तो इस अपेक्षा को अनुपयुक्त तथा अबौद्धिक समझा जायगा। इस से यह निष्कर्ष लिया जा सकता है कि यदि अपेक्षाएँ, प्राकृतिक घटनाओं के विषय में उपलब्ध एवं स्वीकृत ज्ञान, तथा स्वीकृत सामाजिक परम्परा तथा मूल्यों के अनुरूप हों तो हम उन्हें अनुपयुक्त अथवा अबौद्धिक नहीं कहते। अन्य शब्दों में अपेक्षाओं की उपयुक्तता एवं बुद्धिसंगति बौद्धिकता के (युग, देश में) स्वीकृत मानदण्डों पर आश्रित मानी जा सकती है। अब यदि यह दिखाया जा सके कि मानवीय समाज की कोई व्यवस्था मानवीय बौद्धिकता की माँगों के अनुरूप है तथा उस व्यवस्था की स्थापना की सम्भावना, वर्तमान स्थिति के विषय में जो कुछ भी जाना जाता है, उसे देखते हुए मानवीय प्रयास के परे दीखती है, तब उस व्यवस्था की स्थापना की अपेक्षा एक चमत्कार की ही अपेक्षा होगी। यह अपेक्षा इसलिए अनुपयुक्त एवं अबौद्धिक नहीं होगी क्योंकि परिमित सामर्थ्य के परे तथा अपरिमित की सामर्थ्य के अन्तर्गत साधारणतया जिसे अनहोनी समझते हैं, उसका होना असम्भाव्य नहीं है। यह परिप्रेक्ष्य चमत्कार की अवधारणा तथा बौद्धिकता की अवधारणा के बीच अनुलंघनीय खाई को पाट देता है।

दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर—४

रा. स्व. भटनागर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियां

1. "The essential qnality to be expected in all miracles is that they should have a purpose worthy of God..... To warrant a miracle by any God worth worshipping, there would have to bc, by any reckoning, an extraordinarily important and good purpose. Even then, surely one would expect miracles to be performed as economically as possible."

McGregore, G; "Philosophical Issues in Religious Thought p. 379

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सार्त्र के साहित्य सम्बन्धित विचार (३)

सार्त्र का खयाल है: 'बेशक, लिखा तो सब के लिए ही जाता है। लेखक की माँगें, जरूरतें अपील—सभी कुछ—सब के लिए ही होता है। लेखक यह जानता है कि वह अन्य सब की आज़ादी और स्वच्छंदताओं के लिए ही लेखन के द्वारा अपनी आवाज़ बुलन्द करता है क्योंकि लोग या तो अपनी आज़ादी और स्वच्छंदताएँ खो बैठते हैं (दूसरे लोग उन्हें निगल या हज़म कर जाते हैं) और या उन पर तरह-तरह के चेहरे चढ़ा दिए जाते हैं, वे उन्हें ठीक मिल नहीं पातीं। वह यह भी जानता है कि वह खुद भी उतनी खालिस आज़ादी नहीं हासिल कर पाता; उसे अपनी स्वच्छन्दता भी दिन-प्रति-दिन निखारनी पड़ती है।

यह बहुत ही 'खतरनाक आसान' काम है कि हम शाश्वत मूल्यों के बारे में बोलते रहें; चूंकि उनमें हाड़—माँस तो होता नहीं। आज़ादी का भी सागर की तरह अन्त नहीं मिलता। यह और कुछ नहीं एक तरह की हरकत और हल-चल, गति एवं आन्दोलन है, जिससे आदमी अपने को मूलतः उखाड़ता है और मुक्त करता है।

आज़ादी किसी के द्वारा भेंट नहीं की जाती, यह कोई प्रदत्त वस्तु या कुदरत की देन नहीं है। हमें अपनी कामनाओं पर अंदरुनी जीत के साथ ही अपनी जाति (नस्ल), श्रेणी या वर्ग, अपना राष्ट्र और अपने साथ ही दूसरे व्यक्तियों पर भी विजय पानी पड़ती है, तब हासिल होती है आज़ादी। इसमें अहमियत तो इस बात की होती है कि अपने किस ख़ास किस्म की रुकावटों को अपने रास्ते से हटाया और सारी विघ्न-बाधाएँ पार करके आखिरी मंजिल तक पहुँच ही गये। जो भी हो, लेखक को यह हमेशा ख़याल रखना पड़ता है कि वह अपनी नस्ल और वर्ग के हम-वक्त लोगों से अपनी बात कह रहा है।

यह तो सभी जानते हैं कि लेखकों को बौद्धिक और मानसिक कार्यों के सन्दर्भ तलाशने पड़ते हैं क्योंकि कोई भी कृतिकार अपनी सारी ज्ञान-गरिमा

परामर्श (हिन्दी) वर्ष २:अङ्क २, मार्च, १९८१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपनी कृति में नहीं ला पाता। वह जितना कह पाता है, उससे कहीं ज्यादा उसके पास कहने के लिए होता है। यह इसलिए भी अनिवार्य है कि भाषा स्वयं ही अत्यंत दुरूह, संक्षिप्त और द्व्यर्थक हो जाती है। सन्दर्भों के बिना तो उसे समझा ही नहीं जा सकता।

एक ही युग और समाज के लोग, जो एक साथ ही युग की घटनाओं से गुज़रे होते हैं, जिसकी समस्याएँ और समाधान बहुत-कुछ एक-से ही रहे हैं, उनकी अपनी पसन्दें भी बहुत-कुछ एक-सी होती हैं। उनके लिए ज़्यादा नहीं लिखना पड़ता, कुछ ख़ास शब्दों को कुंजियों की तरह इस्तेमाल करने से ही काम चल जाता है। लेखक को उन्हें सिर्फ वही बताना पड़ता है, जो वे नहीं जानते। स्वयं लेखकीय जानकारी अवश्य ही क्षण-प्रतिक्षण बदलती है, और वह अपनी ऐतिहासिक स्थितियों से बन्धा होता है। अतः एक दृष्टि से देखें तो लिखना और पढ़ना एक ही ऐतिहासिक सन्दर्भ के दो पहलू प्रस्तुत करते हैं। लेखक पाठकों को जिस स्वातन्त्र्य-स्वाच्छंद्य का अनुभव कराना चाहता है, वह कोई अमूर्त या वायवीय बात नहीं होती। अतः लेखक को संस्थाओं, प्रथाओं, शोषण और संघर्ष के विशेष रूपों, युगीन बुद्धिमानियों और बेवक़ूफ़ियों, लरजती कामनाओं, ज़िदों, अन्ध-विश्वासों और लोगों की सहज सूझ-बूझ की जीतों, वहम–मुबाहसों के खास तरीकों और मोड़ों और विज्ञान के द्वारा फैशन में लायी उन्हीं युक्तियों का सहारा लेना पड़ता है, जिन्हें लोग अपनी आशाओं, आशंकाओं, आदतों, कल्पनाओं और अनुभूतियों में इस्तेमाल करते हैं। लेखक अपनी आज़ादी से इस सुपरिचित विश्व में घुसता है और गुलामी के हालात में तबदीली का नज़रिया पेश करता है। इसीलिए पाठक भी अपनी मुक्ति, अलगाव, स्थिति और इतिहास से प्रतिबद्धता का अनुभव करता है। अपनी इसी दुनिया की तो हम रक्षा या उसमें परिवर्तन करना चाहते हैं, आज़ादी का एक अहम पहलू यदि यह नकारने की शक्ति है तो वह बहुत ही वास्तविक है और उसमें वह निहित रहता है (और वह उससे प्रभावित भी होती है) जिसे वह नकारती रहती है। स्पष्ट है कि लेखक दुनिया की जिन बातों या पक्षों पर अपनी क़लम चलाता है, उनका चुनाव पाठक को, और पाठक उस चुनाव को, प्रभावित करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कि लेखक अपना पाठक चुनते वक्त अपना आलेख्य विषय भी चुन लेता है।

इस प्रकार मन के सारे काम अपने उद्दिष्ट पाठक (या श्रोता, अनुभविता भोक्ता, सहभागी) के बिम्ब को भी छिपाए रहते हैं। उनका असली और पूरा आस्वाद तभी मिलता है जब वे तैयार होते ही अनुभव में आयें।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हर शख्स को दूसरों की जरूरत पड़ती है। लेखक की यह जरूरत पाठक पूरता है। वही उसके गिर्द खाली पन को भरता है। उसी के माध्यम से उसकी महत्त्वाकांक्षा पूरी होती है। इसी से तो लेखन-कार्य प्रायः अपनी मानवीय समूची परिस्थिति का अतिक्रमण कर जाता है।

यों तो हर व्यक्ति अधिकांशतः अपनी प्रतिबद्धता को अपने से ही छिपाने की कोशिश करता है लेकिन इसका यह मतलब भी नहीं कि लोग यह पलायन झूठ बोलकर या कृत्रिम स्वर्ग (मसनूई, बहिश्त) गढ़कर और मिथ्या विश्वासों की नींव (बिनाह) पर करते हैं। उनके लिए तो इतना ही काफी होता है कि वे अपनी लालटेन की रोशनी धीमी करके अगली जमीन देखें, पृष्ठ-भूमि को नजर-अन्दाज कर दें, मतलब केवल लक्ष्यों पर नजर रखें, साधनों पर या तरीकों पर नहीं। लोग प्रायः अपनी बिरादी का भी साथ नहीं देते; आदमियत ताक पर रख दी जाती है। किसी मृत व्यक्ति के दृष्टिकोण के सहारे वे सारे मूल्यों को जीवन से खदेड़ डालते हैं। यदि वे शोषक हुए तो ऐसा मान करते हैं कि उनकी भावनाएँ कितनी ऊँची हैं। और यदि वे शोषित हुए तो अपनी अन्याय सहिष्णुता को यह जामा पहना लेते हैं कि गुलामी की जंजीरे अपने आन्तरिक जीवन के प्रति जीवन्त उनकी अभिरुचि को तो कभी नष्ट नहीं कर पायेंगी। कुछ लेखक भी यही करते हैं, और उनकी रचनाएँ इसी काम आती हैं कि लोग उन्हें पढ़ते-पढ़ते चैन से सो जायें, क्योंकि उनमें सोचने-समझने या पुनर्विचार करने के लिए कुछ नहीं होता।

अतः मैं तो यही कहूँगा कि लेखक की असली प्रतिबद्धता तो यह है कि वह पाठकों में प्रगति के प्रति स्वतःस्फूर्त विचारशीलता जगाये। लेखकीय श्रेष्ठता उसकी इस मध्यस्थता में ही हैं। क्योंकि हम में कुछ गुण दूसरों के न्याय और निर्णय से ही आते हैं, लेखक में यह सामाजिक दायित्व—बोध दूसरों से कहीं अधिक अपेक्षित होता है। इस जिम्मेदारी के खतरे झेलना भी वह खुद ही मंजूरता है। जनता तो बस इतना ही करती है कि वह उसे अपना 'प्रतिनिधि' मान लेती है। फिर तो उसी को 'जन-गण-मन' की जरूरतों, खूबियों' या खामियों का खयाल रखना पड़ता है।

लेकिन लेखकों के लिए ऐसी कोई बाध्यता नहीं है कि वे लेखक बनें ही। अतः स्वतंत्रता तो उन्हें शुरू से ही मिलती या रहती है। वे लेखक बनते हैं तो अपनी योजना-पूर्ति के लिए ही बनते हैं। हां, यह अवश्य होता है कि लेखक बनते ही उनका सामाजिक दायित्व निश्चित हो जाता है। उन्हें कुछ मांगों की पूर्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करनी ही पड़ती है। चाहे वे उन्हें पसंद हों या नहीं। यह भी सही है कि वह सामाजिक दायित्व और रूपों में कुछ परिवर्तन करना चाहता है। इसलिए जनता अपनी प्रथाओं और विश्व से संबंधित ख़यालों के अनुसार उसके इस परिवर्तन कार्यों में दखल देती है, क्योंकि, समाज और साहित्य के बारे में उसकी अपनी कुछ अलग धारणाएँ बनी होतो हैं। इसलिए लेखक अपने कार्य में जनता से घिरा और दबा हुआ रहता है। जनता की चाही और छिपी माँगों या अपेक्षाओं का ख़याल किये बिना कोई रचना नहीं की जा सकती।

समाज लेखक को कीमत अदा नहीं करता, अच्छी या बुरी तरह पालता-पोसता है। किसी युग में उसे 'वृत्ति' मिलती थी तो कभी उसकी कृतियों पर उसे कुछ प्रतिशत लाभांश दे दिया जाता है। बाज़ारू कीमत उसे तय करने वालों की मर्ज़ी पर तय होती है कि बहुत-कुछ लेखकीय उत्पादन किए मूल्य पर बिके, चाहे लेखक बेचारे अपनी कलम से समाज का कैसा ही हित-साधन क्यों न करें। ज्यादातर लेखकीय कृतित्व को कार्य-सा समझा जाता है। क्योंकि समाज को आत्म-सचेतन बना देना' अच्छा, नहीं माना जाता। क्योंकि समाज के लिए अच्छे-बुरे का निर्णय तो स्थापित संस्थाओं, स्वीकृत मूल्यों और प्रचलित रीति-रिवाज़ों और निश्चित लक्ष्यों की निगाह से होता है। समाज यदि अपने को उसी तरह देख ले जैसा कि वह दूसरों द्वारा देखा जाता है तो उसकी नींव हिलने लगती है। बस लेखक तो उसकी एक तस्वीर समाज के सामने रख देता है, समाज या तो उसे स्वीकारे या उसे बदले। लेखकीय कार्य की यही परिसमाप्ति है।

जो भी हो, लेखकीय कृतित्व के कारण समाज कुछ बदलता अवश्य है, उसका अपना वह अपना पहला सन्तुलन जरूर गड़बड़ाता है, जो कि उसे अपनी नासमझी से मिला हुआ था। अब तो उसे शर्म या सनकीयन के बीच भूलना पड़ता है, मालूम हो जाता है कि कितनी बेईमानी चल रही है। इस तरह लेखक समाज में 'आत्मदोषी' मनोवृत्ति ला देता है। इसलिए समाज के संरक्षण-शील तत्त्व उसे विरोधी या बागी ही मानते हैं। क्रान्ति के बीज तो इसी में निहित रहते हैं न कि जो एकदम सामने हैं उसे नकार कर जो प्राप्य हो उसकी चेतना जगे।

लेखन जैसी ख़तरनाक और अनुत्पादक कार्यवाही को सहना तो केवल शासक वर्गों के बल-बूते की बात होती है। और वे ऐसा तभी करते हैं; जब कि वे उसे अपने तौर-तरीके कायम रखने में मददगार मानें या उन्हें कोई और गलत फ़हमी या आशंका हो। प्राय: वे ऐसा गलत-फ़हमी' से ही करते हैं: उन्हें भौतिक वस्तुओं की तो कोई कमी नहीं होती सो वे लेखक या कलाकार आदि से यही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चाहते हैं कि वे उसकी असली छापे उन्हें पेश करे; यह नहीं जानते कि फिर वह चाहेगा कि वे उस छवि (तस्वीर) को कबूल करें। जो यह परेशानी नहीं भुगतना चाहते वे कलाकार या लेखक को पेन्शन देने की तरकीब आज़माते हैं ताकि वे उसकी ध्वंसात्मक शक्ति पर काबू रख सकें। इस प्रकार लेखक इस उच्चवर्गीय अभिजात समुदाय का आश्रित या परोपजीवी बन जाता है, लेकिन आर्थिक क्षेत्र में वह फिर भी हमेशा उनके विरोध में ही रहता है, जो उसे ज़िन्दा रखते हैं। यह बात दूसरी है कि आजकल लेखक की पब्लिक बहुत विस्तारित है कभी-कभी उसकी कृती के लाखों पाठक होते हैं लेकिन ये समूची आबादी के एक प्रतिशत से अधिक कभी नहीं होते।

वस्तुत: साहित्य से विरोध और निषेध कभी नहीं हटाये जा सकते। कारण, कोई भी पुर्नानिर्माण इन दोनों के बिना नहीं होता। आत्मालोचन में ये शामिल रहते हैं। उस वर्गहीन समाज में, जिसका गठण सतत क्रान्ति पर आधारित हो, लेखक का सैद्धान्तिक सघर्ष परिवर्तनों से पहले या बाद में अनिवार्य होता है। यदि उसको पढ़नेवाली जनता बढ़ती जाती है तो वह विरोधी प्रवृत्तियों में सामंजस्य लाने की चेष्टा भी करता है, किन्तु अभी तक तो वर्ग-हीन समाज कहीं स्थापित नहीं हुआ और यह भी सन्देहास्पद है कि ऐसा कभी होगा। अत: लेखक और समाज का विरोध कभी गिरता नहीं है। इसी से लेखक में उत्कर्ष-अपकर्ष और अविवेक भी आते हैं।

यदि लेखक को पढ़नेवाली जनता बहुत ही सीमित हो और वह धीरे-धीरे उसी सुविधाभोगी वर्ग में घुलमिल जाये जिसका वह पहले से ही आश्रयी होता है तो साहित्य निर्देशक वर्ग क़ी बातों को ही अपनाया रहता है। तब जो कुछ विचार होता है वह उसी वर्ग में होता है। विरोध होता भी है तो सिद्धातो या नीतियों का नहीं बल्कि इधर-उधर की छोटी-मोटी बातों का होता है। योरप में बारहवी सदी का साहित्य इसी का सबूत पेश करता है। तब तक वहाँ आध्यात्मिक और सामाजिक बातों में अलगाव आ चुका था। और लिखना-पढ़ना सिर्फ 'क्लर्कों' के हाथ में था। लेकिन आज तो लिखना-पढ़ना एक मानवीय अधिकार है, सम्प्रेषण का अनन्य साधन है। और इसे अब वाणी की तरह एकदम स्वाभाविक और स्वतस्फूर्त माना जाता है। आज तो एक असंस्कृत देहाती भी भावी पाठकों में गिना जाता है। किन्तु पाठकों की कुल तादाद अनगिनत आज़मी नहीं है। (और शायद कभी होगी भी नहीं क्योंकि टीवी, रेडिओ और सिनेमा लेखक के प्रबल प्रतिद्वंद्वी हैं) आज की पाठक-जनता तो लेखकों से यह भी उम्मीद करती है, कि वे ही उसका रुचि-बोध जागृत करें, नये विचार और नयी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कलात्मक विधाएँ उन्हीं से आयें। उसका लेखकों पर नियन्त्रण रहता है तो सिर्फ अपनी ख़रीदारी के द्वारा। पढ़ना अब जानकारी हासिल करने का साधन है। और लिखना संप्रेषण का सामान्य तरीका। किन्तु पहले का (मसलन् सत्रहवीं सदी का) पाठक प्राय: पराश्रयी सम्पन्न वर्ग का ही होता था और वह अपने को संभाव्य लेखक समझता था इसलिए लिखित कृतियों की परख वह प्रचलित मूल्यों की कसौटी पर करने के लिए ही प्रस्तुत रहता था। मतलब यह विशिष्ट जनता सक्रिय थी, मानसिक उत्पादन इसी को 'समर्पित' होते थे। इसीलिए कोई साहित्यिक क्रान्ति तब नहीं हो सकी क्योंकि ऐसा कोई जन समूह था ही नहीं, जिसे अपने अज्ञान के कारण अचानक नये विचारों या अभूतपूर्व अनुभूतियों से चमत्कृत आन्दोलित या आलोचित किया जा सकता हो। उस युग में तो कुछ धारणाएँ अकाट्य मानी जाती थीं और धार्मिक और राजनैतिक सिद्धान्तों में ऐसा गठ बंधन था कि जिसे तोड़ना बहुत मुश्किल था। कोई ईश्वर की सत्ता और राजाओं के दिव्य अधिकारों पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगा सकता था। 'समाज' (मतलब, कुछ खास वर्ग या श्रेणियाँ) की एक अपनी 'भाषा' थी कुछ अपनी खास अदायें थीं, कुछ विशिष्ट प्रथायें थीं, जिन्हें वह पढ़ी जाने वाली किताबों या कृतियों में पा जाता था। समय की हलचलों से चर्च और राज्य अछूते रहते थे। क्योंकि उनके अधिकार और कर्तव्य 'युग युग से चले आये' होने के कारण रूढ़ हो चुके थे। परमपूर्ण भगवान् में भला क्या कमी या स्वामी हो सकती है? और चर्च तथा राजसत्ता तो उसी के प्रतिनिधि ठहरे, परिवर्त्य कैसे हो सकते हैं वे?

समय की धारणा भी अजीब थी उस जमाने में..."सामयिकता का सक्रिय तत्त्व अतीत में है, और वह तो शाश्वत की प्राकृतिक विकृति मात्र ही कहा जा सकता है। वर्तमान तो निरन्तर पापशील है, इसका छुटकारा केवल विचार से हो सकता है, बशर्ते इसमें अवस्था की बातें कम से कम हों।" इसलिए उसी विचार का स्वागत होता था, जो अपनी सनातनता साबित कर सके, वही कला अच्छी थी जो किसी पुरातन आदर्श पर प्रतिस्थापित होती थी। लेखक भी तब स्पष्टतया इन्हीं सब बातों के कर्णधार बन जाते थे। यहाँ तक कि सामयिक और सांसारिक बातों पर लिखनेवाले भी तब स्थापित मूल्यों और सिद्धान्तों के बारे में कोई प्रश्न नहीं उठाते थे। राजा की प्रभुता पर प्रहार करने की बात ही अकल्पनीय लगती थी। यह सब तो उनके लिए 'सामयिक' सन्दर्भ' था। जिसकी ठीक-ठीक जानकारी लेखक-पाठक के बीच सही और सत्वर सम्प्रेषण के लिए जरूरी थी। और यह समूचा वर्ग ही 'बूर्ज्वा' था, जिसे सम्पन्न श्रेणियों ने पेंशनभोगी बना लिया था। उन्हें 'पराश्रयी लोगों के भी पराश्रयी' कह सकते हैं क्योंकि 'आर्थिक उत्पादन' की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रेणी में कोई नहीं था। न सम्पन्न शासक वर्ग, और न यह मुंह ताकनेवाला लेखक या कलाकार-वर्ग···वैसे ये लोग भी अपनी श्रेणियाँ बना लेते थे। ये लोग कृषक-मजूरों के बारे में बात करते थे परन्तु उनसे सीधे मुंह बात नहीं करते थे। आम आदमी को 'सचेतन' बनाना इन्होंने कभी सोचा नहीं था। इन्हें समाज-व्यवस्था में दोष कहाँ दीख पड़ते थे? उच्च वर्ग के पाठकों के अलावा यदि इन्हें कुछ अन्य पाठकों की आशा होती तो शायद वे वैसा करते, और सोचते कि उनसे कैसा रिश्ता कायम किया जाय।

उन्हें यह भी परवाह नहीं थी कि वे स्वयं यह निर्णय करें कि साहित्य का अभिप्राय और मूल्य (महत्ता) क्या हैं—यह सब तो परम्परागत रूप में मौजूद ही था। ऊँचे–नीचे माननेवाले समाज में अच्छी तरह रचे-पचे ये लोग दूसरों से कुछ 'भिन्न' होने के गौरव और मानवीय व्यथा के गहरे बोध से भी अपरिचित ही थे। वे 'क्लासिकल' कहलाने में ही सन्तुष्ट थे। जो समाज अपेक्षाकृत स्थिर होता है और अपने को 'शाश्वत' होने के मिथक से 'अनुप्राणित' करता रहता है वह वर्तमान को 'सतत' और 'ऐतिहासिकता' को 'परम्परावाद' से सामना करने के लिए छोड़ देता है, उसका वर्ग-संगठन भी ऐसा होता है कि वास्तविक और सम्भाव्य पाठक में कोई अन्तर नहीं होता; और प्रत्येक पाठक लेखक को सुयोग्य आलोचक और नियंत्रक बना होता है क्योंकि धर्म और राजनीति के बड़े शिकंजे में फँसे मत्त-मस्तिष्क तब अन्तर्तम के नये प्रदेश या दिमागी नयी सूझ-बूझ आदि की खोज या उपलब्धि से तो वंचित ही रहते हैं।

क्या लेखक शोषक वर्गों और प्रजातियों का आश्रित ही बना रह सकता है? क्या वह शोषण के प्रति एकदम वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाकर सत्य, शिव सुन्दर की ही चर्चा करता रह सकता है? क्या वह अपनी रचनाएँ केवल विश्व–मानव के लिए ही लिखता है? विश्व-मानव तो अपने या किसी भी युग की घटनाओं से उतना संपृक्त (सम्बद्ध) नहीं रहता जितना कि लेखक या कालाकार होता है। लेखक तो युग की पीड़ा को मुखर बना देता है। उसकी मदद से तो जो लोग अपनी तकलीफों का कभी इजहार नहीं कर पाते वे भी अपनी आवाज बुलन्द करने लगते हैं। वह उनका विवेक इतना जागृत कर देता है। समूची पब्लिक ही एक ऐसा आन्दोलन करने लगती है कि स्वतन्त्रता या अपनी आज़ादी उसका वास्तविक लक्ष्य बन जाता है। मतलब, कोई भी मानवीय योजना अपनी वास्तविक सीमा तोड़ देती है और धीरे-धीरे असीम की ओर बढ़ जाती है। क्योंकि कोई भी लेखक क्रमशः समूची मानवता की आज़ादी ही उसका अपना क्षेत्र बन जाती है। समूची मानवता ही उसके शब्दों के माध्यम से अपनी पीड़ा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यक्त करने लगती है— भाषाओं और भावों तथा शैलियों के वैविध्य के बावजूद।

लेखकीय प्रयत्न से समाज की जो आत्मालोचित छवि पेश की जाती है उसके द्वारा क्या सशक्त पुनर्निर्माण भी अनिवार्य होता है ? हाँ, और नहीं... हाँ–इसलिए कि जो सुविधाभोगी वर्ग कलाकृतियों का उपभोक्ता होता है उसमें एक तरह का तनाव पैदा होता है–जोरदार लेखन को आत्मसात् करने के बाद। नहीं–इसलिए कि शोषित और दलित वर्गों तक कलाकृतियाँ अधिकतर पहुँचती ही नहीं। और ये दोनों बातें लेखकीय उत्कर्ष या अपकर्ष और भले-बुरे के विवेक की ध्वनि बनती हैं।

लिखित साहित्य की व्यापकता और विशालता और उसमें सदा छिपी रहने वाली आजादी के प्रति अपील ने ही उसे लौकिक या सांसारिक बनने में मदद की है। शिक्षा के विस्तार और पारलौकिक बातों के प्रति उखड़ते और लौकिक विषयों के प्रति जमते रुझान ने भी इसे आगे बढ़ाया, यद्यपि लेखकों ने प्रायः 'भद्रलोकी' दुनिया पर ही अपनी आँखें लगा रखी थीं। आधुनिक युग के प्रारम्भ में विशेषज्ञों ने साहित्यकारों की आलोचना भी कम नहीं की थी, कारण वे स्वयं भी लिख सकते थे। परन्तु आजकल तो जनता न ये विचारों और कलात्मक रूपों या विधाओं के आलोचन का ही इन्तजार करती रहती है। वह किसी कृति को खरीदे या न खरीदे, बस इस तरह उसपर अपना नकारात्मक नियन्त्रण कायम करती है। उसकी अपनी राय बहुत कम व्यक्त होती है। वह पढ़ती हैं चूँकि लिख नहीं पाती। अपने मानवीय मूल्यों के मानदण्ड से ही वह हर कृति को नहीं परखती है। आज का लेखक भी परम्परागत साहित्यिक मूल्यों और मापदण्डों को मानने के लिए बाध्य नहीं है। आज वह "क्लासिकल" होने में ही गौरव-बोध नहीं करता। वह कुछ अलग या पृथक् ही होना या रहना चाहता है, उसे लीक पर चलता कतई रास नहीं आता, वह लकीर का फकीर नहीं है। वह किसी भी वस्तु या धारणा को शाश्वत या नित्य मानने को भी बाध्य नहीं है। कभी-कभी तो वह अपने पाठकों के प्रति भी विनम्र भद्रता नहीं बरतना चाहता..... मानव और शेष सृष्टि से अपने मानवीय रिश्तों को वह अब कुछ नये तरीकों से ही परखता-परोखता है। साहित्य और कला सनातन प्रतिमान भी अब टूट चुके हैं, नये-नये प्रतिमान बनते-बिगड़ते जा रहे हैं।

लेकिन अधिकांश पाठक आज भी नहीं बदला, सुविधा परस्त होने के कारण वह आज भी राजतन्त्र, अपनी आन्तरिक कामना, युद्ध, मृत्यु और व्यावहारिक भद्रता के प्रति भय एवं आस्था रखता है। सामाजिक अस्थिरताओं के कारण जनता के भी कई स्तर हैं, जिन पर वह जीती है, लड़ती-भिड़ती हैं, प्रीति या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैर करती है। लेखक अपनी व्यथा—कथा, असन्तोष, अन्तर्विरोधों की अनुभूति कैसे ही व्यक्त करे, जन-मानस के साथ उसका पूरा तादात्म्य या एकाकारता कभी नहीं हो पाती। वह भी जानता है कि प्रतिमा प्रतिपत्ति को अपदस्थ नहीं करती। राज्य-शक्ति के सामने भी उसे प्रायः झुकना पड़ता है, उसकी अपनी मर्यादा भी व्यापरियों, उद्योगपतियों एवं पेशेवर राजनीतिज्ञों अथवा विशेषज्ञों से ऊँची नहीं वरन् नीची ही है। यों वह जानता है कि समाज-व्यवस्था और संघटन क्रान्तिकारी परिवर्तनों द्वारा बदले जा सकते हैं किन्तु उसके अपने पास तो अपनी और पाठक की स्वच्छन्दता के प्रति जागरूक रहने की अपील के सिवाय और कुछ नहीं होता। शोषक और शासकों की जो छवि वह बाहर देखता है, उसी को वह कलात्मक रूप में पेश कर देता है। फिर भी लेखक अपने चारों ओर शोषण, अत्याचार और पराश्रयिता को देखते हैं पर उससे अभिभूत नहीं होते, अव्यवस्था को खत्म नहीं कर देते। आदमी अपने आपसे स्वतः ही कब उबर पाता है ?

लेखक यदि अपने को पिछड़ते हुए वर्ग की सूखती हुई विचार-धारा और उठते हुए वर्ग की सशक्त उफनती विचार-धारा से मुक्त रखकर युक्ति-युक्त स्वतन्त्र चिन्तन कर लेता है, तो वह अपने समसामयिक समाज का हित कर पाता है। वह उठते हुए वर्गों को आत्मचेतना से अनुप्राणित कर सकता है, सिर्फ जानकारियाँ ही नहीं जुटा देता। वह संघर्ष-रत वर्गों की समस्या-समाधानों का निर्णायक भी बन सकता है, बशर्ते वह स्वयं किसी के भी निहित स्वार्थों से प्रतिबद्ध न हो। क्योंकि तब वह किसी एक वर्ग के अनुदानों पर ज़िन्दा नहीं रहता। उसकी कृतियाँ तब सभी खरीदते हैं। चाहे वे बूर्ज्वा हों या सम्पन्न अभिजात-वर्गीय, अथवा शोषक और शासक। लेखक या बुद्धिजीवी का अपना कोई 'वर्ग' नहीं होता अतः वह अन्य किसी भी वर्ग को भीतर-बाहर दोनों तरफ़ से 'सचेतन' बना सकता है चूंकि वह उन्हें बाहर की प्रतिद्वन्द्विताओं से फायदा उठाना सुझाता है। पाठकों पर उसका प्रभाव वकील और पण्डित-पुजारियों से कहीं ज्यादा पड़ता है। वह गरीब होकर भी आराम से रह सकता है क्योंकि उसका लेखन-कार्य भी उसे संतोष देता है, जबकि दूसरे लोग अपना रोज का काम बहुत कम पसन्द कर पाते हैं। लेखक को आज भी हम उत्पादक श्रेणी में नहीं रख सकते यद्यपि वह जनता के हितों के के लिए ही अपनी कलम का इस्तेमाल करता है। मानसिक कार्य का कैसा भी मूल्याङ्कन और मूल्य-निर्धारण यों भी कठिन होता है। समान प्रायः साहित्य में अपने को वैसा ही पाता है जैसा कि वह दूसरों के द्वारा देखा-परखा जाता है। सम्पूर्ण समाज में स्थापित मूल्यों के साथ संघर्ष तो चलता ही रहता है अतः लेखक जो उसकी छवि आंकता हैं उसका अभिप्राय यह होता है कि समाज उस रूपाङ्कन को स्वीकारे या बदले। यदि बदलता है तो उसका पूर्वस्थापित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सन्तुलन या व्यवस्था बिगड़ती है, यद्यपि यह उसके अपने अज्ञान की ही देन होती है। इसीलिए वह (समाज) या तो शर्मिन्दा होता है या सनकी और फिर बेईमानी पर उतर आता है, इस प्रकार लेखक समाज को एक तरह मुलज़िम-मनोवृत्ति देता है और संरक्षणशील सामाजिक तत्त्वों से उसका विरोध अनवरत बना रहता है। वह मौजूदा हालात में बदलाव की बात उठाकर स्वीकृत व्यवस्था को नकारता हैं और सतत क्रान्ति का पक्षधर बन जाता है। शासक वर्ग लेखकों की मदद करते हैं क्योंकि उन्हें लेखक द्वारा अपना आपा दीख पड़ता है जिसे वह उन्नत और प्रगतिशील बनाने के सदा ही इच्छुक रहते हैं। उन्हें यह पहले से पता नहीं होता कि लेखक द्वारा पेश की गयी बातों को मंजूर करने के लिए उन्हें बाध्य होना पड़ेगा, चाहे वह उनकी वास्तविक छवि हो या अभिलषित हो। इसलिए वे लेखकों और कलाकारों को वृत्ति या पेंशन दे डालते हैं। लेकिन इस पर लेखक का स्वभाव तो नहीं बदलता। वह अपने आजीवकों या पोषकों का विरोध सदा ही करता है। क्योंकि वास्तविकता का प्रदर्शन हमेशा परिवर्तन की ओर उन्मुख होता है और करता है। समाज की दोनों प्रकार की शक्तियों-संरक्षणशील अथवा यथास्थितिवादी और प्रगतिशील अथवा क्रान्तिकामी-में विरोध बना ही रहता है।

लेखकीय मध्यस्थता वर्ग-हीन समाज में ही प्रखर हो पाती है। उसके विरोधी विचार तभी मौजूदा तथ्यों के परिवर्तन में सहायक हो पाते हैं। समाज के पुनर्निर्माण में इसी प्रकार साहित्य अपने नकारवाद से मदद करता है। किन्तु अभी तक कहीं वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हुई अतः लेखक और समाज के बीच की विरोधी मुद्रा का अभियान अभी कहीं नहीं मिटा। प्रत्युत कभी-कभी तो यही उसके उत्थान-पतन और असद्विवेक का कारण बन जाता है। विशेषतः जब वह केवल शाश्वत सिद्धान्त और सत्य की बातें करने लगता है। लेखक का दुनियावी होना ही उसके मानसिक कार्य को व्यापकता प्रदान करता है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि वह अपने देश, परिवेश और समाज की बातें छोड़ कर "वसुधैव कुटुम्बकम्" की ही मिसाल बन जाये। उसे यह हमेशा सोचना पड़ता है कि जिस विज्ञान जन-समाज के अपने पाठकों तक वह पहुँचना चाहता है उसकी दिशा-दशा से वह कितना परिचित है उसे अपने सर्जन साहित्य की वकल केवल प्रचलित प्रथा व परम्पराओं से ही नियन्त्रित होने देने में आपत्ति करनी पड़ती है, चाहे वह क्लासिकवाद के नाम पर ही क्यों न की जा रही हो।

प्रत्येक लेखक की शैली पाठक के प्रति एक प्रकार की बहुत ही भद्र पहुँच होती है। पाठक सभी साहित्यिक कृतियों में अपने अनुभव, भाव, विचार, ढूंढने से प्रायः कभी नहीं कतराते। वे चाहते हैं कि इन्हीं को लेखक बृहत् परिप्रक्ष्य में बड़े

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूप में पेश करे। लेखक जब किसी को अपना काम करते हुए या बाह्य प्रकृति से उसके सम्बन्धों को दिखता है तो वह उन्हें उतना नहीं भाता। कभी वे साहित्य में वही प्रतिफलित होते देखना चाहते हैं जो वे अपने बारे में सोच या चाह रहे होते हैं। किन्तु लेखक पाठक को वह जादुई शीशा दिखाता है जो उसे खुश करने के साथ झकझोरता भी है। क्योंकि लेखक अपनी और पाठक की स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता को बरकरार रखना चाहता है। रासीन ने ठीक ही कहा है कि संवेगों, सशक्त भावनाओं और तीव्र इच्छाओं का प्रदर्शन इसलिए किया जाता है कि उनके कारण हुई या होनेवाली गड़बड़ियों का अन्दाज़ लग सके और उनका अतिक्रमण किया जा सके, उनके मुकाबले में जो विचार आते हैं वे हमारी नैतिकताओं को उजागर करते हैं। ऐसा उन युगों में ही अधिक सम्भव हुआ जब राजनैतिक और सामाजिक समस्याएँ कम से कम थीं। अब न वे लोग हैं न युग। अब तो व्यावहारिक सत्य ने प्रज्ञानुभूत सत्य की जगह ले ली है। एक युग था वह जब प्रचारकों को लेखक बने रहना कठिन था अब लेखक अक्सर दोनों भूमिकाएँ निबाहने का सफल प्रयत्न कर लेता है।

जैसे जैसे बूर्ज्वा वर्ग की ताकत बढ़ती गयी और जा रही है वैसे-वैसे ही साहित्य राजनीतिक मतवादों और पार्टियों से बंधता जा रहा है। बूर्ज्वा और आधे-पेशेवर वर्गों का संघर्ष भी उभरता आ रहा है और इसीलिए लेखकों से वे दोनों ही नये विचारों की अपेक्षा किये रहते हैं। इस प्रकार लेखक की 'जनता' भी बढ़ गयी है और उसकी निर्णायकी भूमिका भी। वह वर्गों की आपसी प्रतिद्वन्द्वता में उन्हें आत्म-सचेतन बनाने की क्षमता रखता है। प्रतिष्ठा के लिए उसकी महत्त्वाकाङ्क्षा भी अब केवल शासकों या धनियों का ही मुँह नहीं जोहती। गरीब हो कर भी वह थोड़ी-बहुत सुविधाएँ जुरा लेता है। ऐशोआराम भी एक हद तक उसके लिए असम्भव नहीं रहे हैं। साहित्य-रचना अब सिर्फ एक गौरवास्पद कार्य ही नहीं एक पेशा-भी है। केवल कलम के सहारे ही वह अब अपने परिवेश, वर्ग और राष्ट्र की वर्जनाओं से मुक्त नहीं हो लेता। लेखक कल्पना के पंखों पर अनन्त आकाश की कैसी ही ऊँची उडान क्यों न भरे उसे ज़मीन पर अपने पैर टिकाने ही पड़ते हैं। फिर भी, यह एक युगीन उपलब्धि है कि साहित्य आज पहले की अपेक्षा बहुत-कुछ स्वतन्त्र हो गया है और इसीलिए साहित्यकार भी।

किंतु केवल नकारात्मकता ही साहित्य का मूल स्वर नहीं है। लेखक को सन्देहों, नामंजूरियों और आलोचनाओं और विरोधों के घेरे से भी बाहर आना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चाहिए। क्योंकि सत्य केवल भावात्मक स्वातन्त्र्य में ही नहीं समाया रहता है उसे ठोस आधार की हमेशा ज़रूरत पड़ती है।

आत्म-सचेतन होते वक्त नकारने की शक्ति और वस्तु-सत्य से परिचिति आवश्यक हैं। लेखक की रचना ही उसका वह कर्म है जो सामाजिक उथल-पुथल में मदद करने की वजह से उसके जीवन को खतरे में डाल देता है। साहित्य के मुक्तिप्रद पक्ष को कभी झुठलाया नहीं जा सकता, चाहे यह कितना ही अस्पष्ट या प्रच्छन्न हो। साहित्य हमें आवेगों के पंजो से तो छुड़ाता ही है, राजनीतिक स्वतन्त्र्य की ओर भी वही प्रेरित करता है। एक जमाने में इसने सुविधा-योगियों को भी अपने विशेषाधिकार छोड़ने के लिए चेताया था और आज भी उसका यह कार्य मिटा नहीं है। साहित्य हमें विद्रोह के लिए भी प्रेरित कर सकता है। और आत्मावलोकन के लिए तो सदा ही करता है।

लिखना माने कुछ न कुछ देना और लोगों की तकलीफों में हिस्सा बँटाना इसीलिए लेखक अपने परम-स्वतन्त्र्य और औदार्य के प्रति सदा संचेत रहता है। वह संस्थाओं, प्रथाओं और सरकारी परंपरित कार्यों की आलोचना भी करता है और अपने समय के नये आयाम भी प्रस्तुत करता है। कारण उसे अपना समय कभी भी प्राचीन युगों की अपेक्षा हेय नहीं प्रतीत होता। वह अतीत से उतना अभिभूत नहीं होता जितना कि संरक्षणशील समाज के लोग हुआ रहते हैं। लेखक इसीलिए हमेशा ही जन-ज़ीवन से सम्पन्न रहते हैं और शासकों की गलत कठिनाइयों, आदेशों और अमलावाओं के खिलाफ़ अपनी कलम चलाते हैं।

लेखक अपने कार्य को स्थायी उद्धारता का संवाहक मानते हैं। राजनीति में बूर्ज्वाओं की ज़ीत चाह कर भी वे दलित और शोषित की पक्षधरता कभी नहीं छोड़ते कारण बूर्ज्वा भी खतरा प्राप्त कर शोषक बनने से वाज नहीं आते और लेखकों को अपना बूर्ज्वा होने पर भी उससे बंधे नहीं रहते, बशर्ते वे अपने लेखक कार्य को भी समूल्य श्रम समझे। मानवजीवन का लक्ष्य और महत्त्व वे साधनों की व्यवस्था को माने और साहित्य की दमनकारियों के विवेक की जागृति का उनमें मानवीयता के उव्दोधन का साधन बना ले।

बूर्ज्वा भी लेखक से यही चाहते हैं कि वह आम जनता का दिल ज़ीतने और उसे काबू में रखने में उनकी मदद करें क्यों कि वे उसे 'विशेषज्ञ' ही मानते हैं। जैसे विज्ञानी चमत्कार में विश्वास नहीं करते वैसे ही बूर्ज्वा लोग मानवीय स्वातन्त्र्य में यकीन नहीं रखते। नैतिकता उन्हें उपयोगिता की हद में ही प्रिय होती है और मनोविज्ञ.न का मतलब वह आत्महित-चिन्तन समझते हैं। किन्तु

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेखकों को बूर्ज्वाओं के आदर्शवाद, मनस्तत्त्ववाद, नियतिवाद और उपयोगितावाद में नहीं फंसना है। चाहे उसे अपने अधिकांश पाठकों को नाराज़ ही क्यों न करना पड़े, चाहे उसे यश मिले या नहीं, चाहे वह लोक-प्रियता हासिल करे या नहीं। उसे तो सारी समस्यायों के अन्ततंम में घुसना होता है। अपने विश्लेषण के बाद वह कोई समाधान प्रस्तुत करे या नहीं किन्तु पाठकों के मन-प्राण उत्तेजित अवश्य हो जाये।

यह भी आवश्यक नहीं कि शोषित, दलित और अवदमित या पिछड़े वर्ग लेखकों की कृतियां पढ़ें ही। किन्तु यह अनिवार्य है कि लेखक उनकी व्यथाकथा कहे उनकी आकाँक्षाओं में रचे-पचे, उनके मर्मं को समझे और उनकी आवाज को सशक्त वाणी दे। इसके लिए वह 'सफेद कालरवाला भूमिक' कहलाये तो भी कोई हर्ज नहीं। इसीलिए क्रांतदर्शी कलाकार अपने क्षेत्र की नियामकता का प्रतिकारक बनता है, वह उसकी माँगें ज़ोरडण तरीके में पेश करता है, लोक-तन्त्र का समर्थक होता है। यह बात दीगर है कि वह सदा ही श्रामक वर्ग की सभी जरूरतों को पूरी नहीं कर सकता, क्योंकि उसे अपने वास्तविक उपभोक्ताओं (पाठक-दर्शक-श्रोता आदि) की क्षमता का भी ध्यान रखना पड़ता है। नहीं तो उनका प्रयत्न ही व्यर्थ हो सकता है। सम्प्रेषण ही नहीं होगा। इसीलिए साहित्य किसी वर्ग-विशेष का दास कभी नहीं बनता। लेखकों को बस यह नहीं भूलना है कि समूची जनता जब सत्ता में भागीदार होना चाहती है तब उसके पास संस्कृति और अवकाश के क्षणों की कमी होती है। अतः साहित्य कहीं सामाजिक संरक्षणवाद का ही वायस न बन जाय।

लेखक चाहे किसी भी वर्ग के लिए लिखे लेकिन अपने को वर्गहीन अवश्य बनाये रहे। वह अपने अन्तर्विरोधों से बचे और यह बेईमानी न बरते कि उसे नहीं मालूम कि वह किसके लिए और क्यों लिखता है। वह यह धोरण न खाये कि वह सिर्फ अपने लिए लिखता है या भगवदर्पण के लिए। क्योंकि लेखन प्रधानतः एक प्रकार का संप्रेषण है पराभौतिक पेशा, प्रार्थना प्रवृत्ति या विवेक की परख मात्र नहीं। आखिर वह अपनी रचनाओं का प्रकाशन भी तो चाहता है न? लेखक को न तो गोरों की प्रभुता का समर्थन करना है और न कालों की दास्यता का। उसे बूर्ज्वाओं के हितों कों नहीं साधना है और विद्रोहियों और असंतुष्टों को श्रमिक-कृषक आदि उत्पादकों के दल में शामिल होने से रोकना है। अपनी शान्ति और मौज-मजों की खातिर उसे तटस्थता का स्वांग भी नहीं भरना है। उसे बूर्ज्वा बनने से रोकना है। लेखक कोई साधु-सन्त या पण्डित, पादरी, मुल्ला, पुरोहित नहीं है जो एकांत में बैठा रहे। उसे एक अन्तर्ग्रथित समाज की चेतना का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संवाहक होना है। उसकी अपनी समूची जनता के साथ संपृक्त रहना है। उसकी अपील सिर्फ विशेषज्ञों से नहीं होती न उसे किसी शान-शौकत के पीछे पागल बनना है। वह ज़माना कब का लद गया जब साहित्य में भी सामयिक का सीधा-सादा विशुद्ध निषेध रहता था और परमशून्यता की बातें की जाती थी। वास्तव में तब भी आध्यात्मिकता सामयिकता के सहारे ही परमशून्यता की बातें करती थी। मन की विशालता ही लक्ष्य बन गया था। आदमी, कोई भी उद्योग, परिवार–सबके विघटन की बात उठायी जाती था। क्योंकि सबकी अन्तिम परिणति शून्यता थी। (कालिदास ने भी एक जगह ऐसा ही कुछ अपने एक चरित्र से कहलाया है। 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः', अर्थात्, 'शरीर धारण करनेवालों का 'स्वभाव' तो मृत्यू है, जीवन तो एक प्रकार की विकृति है।') कोई भी सफलता तब एक आभास मात्र थी।

यहाँ तक प्रतीकवाद ने भी सौन्दर्य और मृत्यु में गहरा सम्बन्ध खोज लिया था। यह संसार ही 'मृत्युलोक' घोषित हो गया था। कोई भी वस्तु सुन्दर थी तो इसलिए कि उसका भोग किया जा सकता है। मतलब वह किसी को सुख देकर मर जाती है। इसीलिए समय के तीनो आयाम को नकार कर केवल क्षण का महत्त्व गाया जाता था। निर्माण में कितना ही वक्त क्यों न लगे, ध्वंस के लिए तो एक क्षण ही काफी होता है। इसी से आठारहवीं सदी में फ्रांसीसी साहित्य में अतियथार्थवाद ने एक तरह के चरम नकारवाद का प्रतिपादन किया था। यह ध्वंस की एक बहुरंगी प्रक्रिया बन गया था। सारी अतियथार्थवादी शाब्दिकता निषेध के रूप में 'असाहित्य' बन गया था। लेखक भी तब राजाओं के दिव्य अधिकारों को अपनी प्रतिमा मूल्य मानकर वैसा ही दावा करता था। कलाकार मानो मौत और तकलीफो का पादरी था, जो सौन्दर्य-चिता की ठण्डी लपटों में प्रत्येक वस्तु का ध्वंस और विघटन ही दिखाता था। बूर्ज्वा आदमी-औरत उसे इसके लिए 'फीस' देते थे और वह किसी भी प्रकार के उत्तरदायित्व से अपने को मुक्त मानता था। हिसाब तो निर्माण में देना पड़ता है, ध्वंसात्मकता पर कौन विचार करता है?

और फिर इसकी परिणति हुई स्वयंक्रिय लेखन में। लेखक और कलाकार कहने लगे कि वे कहाँ कुछ करते हैं, उनसे कुछ स्वतः हो जाता है। स्पष्ट है कि यह एक तरह की भोगवादी रईसी थी जिसका काम उत्पादक समाज की वस्तुओं का भोग, करना था। इसीलिए लेखक किसी के बारे में प्रवाद फैला सकते थे। और अपने को उसके लिए जिम्मेवर नहीं मानते थे। किन्तु बूर्ज्वाओं की ये चालें काम करनेवाली श्रेणियों में ज्यादा सही नहीं गयी। बूर्ज्वा समुदाय यह भी समझ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गया था कि लेखक वास्तव में काम करनेवालों का ही पक्षपाती होता है क्योंकि उसे भाषा के लिए वस्तुएँ चाहिए। वह क्रान्तिकारी न सही बागी तो होता ही है। यद्यपि कुछ लेखक ऐसे भी थे (और आज भी हैं) जिनका कार्य लोगों को गम्भीर-बातों से गुमराह करना ही होता है। इसलिए बूर्ज्वा लोग लेखक और कलाकारों का उपयोग हमेशा करते रहे हैं।

लेखक जब अपने कृतित्व को सत्य का जमा पहनाता है तो वह यह बहाना करता है कि इसका उद्गम उससे नहीं हुआ। ये तो उसकी यादगारें हैं। वह तो सिर्फ एक कथन है, मध्यस्थ है वस्तु और उसके उपभोक्ता के बीच। नतीजा यह होता है कि तब वह अपने कथा को ज्यादातर भूतकाल में ही प्रस्तुत करता है। विविधता में एकता स्थापित करने का प्रयास और प्रत्येक कथा का एक केन्द्रिय आदर्श या उपदेश और वैयक्तिक आत्मा की असंगतियों का कुपरिणाण ऐसी कृतियों का सार कहा जा सकता है। लेखक की भूमिका इसमें सिर्फ एक द्रष्टा की होती है। वास्तव में उसका कार्य वह होना चाहिए कि वह पाठक को अपने द्वारा वर्णित घटनाओं की सामयिकता का अनुभव करा दे। प्रायः लेखक होता तो बूर्ज्वा वर्ग का ही है लेकिन वह अपने वर्ग से अलग होकर अवदमित वर्गों के हितों का हिमायती हो सकता है। अन्यथा वह 'साहित्यकार' नहीं हो जाता। उसे एक ऐसे वैचारिक आन्दोलन का अगुआ बनना होता है जो द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त-वादिता को अग्रसर करे, जो अपने प्रतिद्वन्द्वी विचारों को पचाकर सदा ही उन्मुक्त बना रहे। लेखक भी दूसरों की तरह एक तरह की परिस्थिति में होता है। किन्तु वह उसकी मीमांसा करके उसका अतिक्रमण कर जाता है। यही लेखकीय विशेषता होती है। उसका स्वातन्त्र्य इस तरह बाधित नहीं होता। क्योंकि साहित्य की सारवस्तु यह स्वातन्त्र्य ही है। किसी भी युग का साहित्य यदि इस तत्त्व से विहीन हुआ तो वह जीवित नहीं रह जाता। फिर तो वह शासकों या सामयिक प्रवृत्तियों या सनकों के हाथों का खिलौना बना रहता है—मात्र एक साधन बनकर वह तब शर्त मुक्त साध्य या लक्ष्य नहीं रहता। वैसे तो प्रत्येक युग में ही दो प्रकार का साहित्य सदा मौजूद रहता हैं। एक, वह जो खराब और अपठनीय होकर भी बहुत पढ़ा जाता है और दूसरा वह जो सचमुच अच्छा होता है लेकिन जो पढ़ा नहीं जाता।

लेखक किसी भी प्रकार के आतङ्कवाद का समर्थक नहीं होता कारण वह साहित्य को जीवन की अन्यतम अभिव्यक्ति मानता है, जीवन को साहित्य न्योछा-वर नहीं करता। उसे अपनी पराश्रयिता भी नैतिक रूप में कचोटती है। इसी से वह साहित्य में किसी भी एक तरह के रूप-विधान का समर्थक नहीं बनता बल्कि वस्तु का ही प्रश्न सदा उठाता है। वह साहित्य को ठोस नींव पर प्रतिष्ठापित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करने के लिए मुक्त रखता हैं। सभी व्यक्ति उसके संप्रेष्य होते हैं। किसी भी समाज में रहते सारे लोग उसके लिए 'ठोस वैश्विकता' की प्रतिमूर्ति हैं। उसे अमूर्त्त गौरव की शाश्वत का विरोध भाता है। वह जब तक कार्यशील रहता है उसके वचे न रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। उसके साहित्य का शाश्वत विषय मनुष्य ही होता है। वह अपने युग और समसामयिक पाठकों के लिए तो लिखता ही है किन्तु उसका वर्तमान सदा ही भविष्य में प्रक्षेपित रहता है। उसके द्वारा उस सारे लोगों की आशा-आकांक्षा अभिव्यक्त होती हैं, जो अपनी परिस्थितियों में रहकर भी उनसे उबरने को सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

ऐसे लोगों के समाज में आत्मोत्साह और सांसारिकता कभी आपस में विच्छिन्न नहीं होती। सिद्धान्त जब वहाँ बन रहे होते हैं तो स्वतन्त्रता के पर्याय होते हैं लेकिन गढ़े जाने पर वे दमन का साधन बन जाते हैं। लेखक जिसकी आत्मचेतना पूर्णतः सजाग होती है, वह आध्यात्मिक नायक का अभिभावक नहीं बनता, वह आतिमकता को सर्व-सुलभ करने को ठोमचेष्ट रहता है। लेखक इस बहुरंगी दुनिया को अपनी सारी विविधताओं, खूबियों, व खामियों के साथ पुनः सिरजता है। वह जानता है कोई भी बुराई चबाये भले ही, खा नहीं डालता। इसीलिए हैं वह इसके स्वातन्त्र्य की बात करता है, वर्गहीन समाज की रूपरेखा आंकता है, सारे समाज स्वचेतना के सपने देखता है, ताकि समाज सभी व्यक्ति अपनी परिस्थितियों भलीभाँति अवगत होकर उन्हें बदलें, बदलने के लिए स्वतंत्र रहें। यह आत्म--संचेतनता आत्मातिक्रमण भी होता है। अतः ठोस साहित्य जमे या दिये हुए को उखाड़ फेंकने वाली निषेधशक्ति भावी व्यवस्था की आयोजन शक्ति का समन्वय बन जाता है। संक्षेप में इसे दिशा-दशा-निर्देश-एवं-निर्माण कह सकते हैं। यह कहना पर्याप्त नहीं कि लेखक को कुछ भी कह सकने की आजादी होनी चाहिए। प्रत्युत यह भी मानें कि उसे उस पब्लिक के लिए लिखने की आजादी हो जो स्वयं पुनर्निर्माण की क्षमता से सम्पन्न है। इसका मतलब यह हुआ कि लेखन से वर्गों का विलयन, तानाशाही का अन्त, परिस्थितियों का पुनर्निमाण और उस व्यवस्था का विनाश सम्भव होना चाहिए जो अपनी सड़ी-गली प्रथा-प्रेरणाओं या प्रचलनों जो उसे रुग्ण, भीरु और अकर्मण्य बना देती है। ऐसे समाज में तो साहित्य को कार्यों और शब्दों के समन्वय से भी फेर जाना पड़ता है, क्रान्ति का संवाहक बनना होता है। क्योंकि तब लेखक या कृतिकार अपने श्रोता-पाठक-दर्शकों को आज़ादी को संबोधित, प्रबुद्ध और सक्रिय होने को आव्हान करता है। यह अपील ही उसका साहित्य बन जाती है चाहे उसकी रूप और वस्तु कुछ भी हों। साहित्य तब जनता की विचारशील सचेतनता के क्षणों को संजोता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार साहित्य किसी भी वर्गहीन, तानाशाही-रहित और विकसनशील या प्रगतिशील समाज में स्वचेतनता से परिपूर्ण रहता है। यह तब रूप और वस्तु, पब्लिक और विषय आदि की एकात्मकता को पहचानता है, उसे पता होता है, कि कहने की संवैधानिक एवं औपचारिक स्वतन्त्रता और काम करने की आजादी एक-दूसरे की पूरक हैं, कि एक का इस्तेमाल दूसरे की माँग के लिए किया जाना चाहिए, कि व्यक्ति की निजता तभी व्यक्त होती है जब वह सब की माँगों की पूर्ति में अपनी माँग पूर्त्त करता है, कि साहित्य का प्रकृत कार्य तभी पूरा होता है जब वह सब की आज़ादी को व्यक्त कर मानवीय स्वातन्त्र्य की निरन्तरता को बढ़ाता है। शायद वह बात अपूरणीय कल्पना-सी जान पड़ती है। किन्तु ऐसा समाज असंभव नहीं है किन्तु अभी हमारे पास उसके समायोजन के प्रभावी सक्षम साधन नहीं हैं। साहित्य और साहित्यकार के सम्बन्ध में की गयी इन बातों ने यह तो स्पष्ट किया ही है कि साहित्य अपनी विशुद्धता और पूर्णता की ओर कैसे व कहाँ अभिमुख होता है।

— पृथ्वीनाथ शास्त्री

१६ । डी, विल्सन पथ
गिरगाँव, बम्बई

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (२)

मू. तत्र न प्रथमः, प्रमाणाभावात् । "यत् सत्तत् क्षणिकं, यथा घटः, संश्च विवादाध्यासितः शब्दादिरिति चेत् "। न, प्रतिबन्धासिद्धेः ।

पीछे उपस्थित किये गये आत्मसत्ता विरोधी विकल्पों में से पहला विकल्प क्षणभङ्ग अर्थात् वस्तुमात्र कि क्षणभङ्गुरता का जो विचार है वह मान्य नहीं हो सकता क्योंकि उसके साधन के लिये कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रतिवादपर बौद्ध क्षणभङ्गुरता साधक अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। चूंकि व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान इन दोनों की ही अनुमान के लिये बौद्धमतानुसार आवश्यकता होती है, इसलिये क्षणभङ्गसाधनार्थ जो अनुमान बौद्ध प्रस्तुत करते हैं उस में उदाहरण (जिस में साध्य और हेतु की व्याप्ति का निर्देश होता है) और उपनय (जिस में हेतु की पक्षधर्मता का निर्देश होता है।) इन दो अवयव वाक्यों का ही प्रयोग किया होता है। ये वाक्य इस प्रकार हैं : 'जो भी कुछ सत् है वह क्षणिक भी है, जैसे घट सत् है तो क्षणिक भी है, और 'अन्त्यशब्द' (याने किसी भी शब्द से हवा में जो क्रमिक स्पंदन उत्पन्न होते हैं उसके घटक अन्तिम स्पंदन) न्यायमतानुसार सत् हैं और क्षणिक भी हैं इन दो वाक्यों को मिलाने से निष्कर्ष यह निकलता है कि सन्मात्र क्षणिक है। इस अनुमान पर यह आपत्ति हो सकती है कि उदाहरण-वाक्यों में दृष्टान्तरूप से घट का निर्देश अनुपयुक्त है क्योंकि घट की क्षणिकता सर्वसंमत नहीं है। केवल बौद्ध उसे क्षणिक कहेंगे, अन्य दार्शनिक नहीं। इस आपत्तिपर बौद्धों का उत्तर वही होगा जो नैयायिक, किसी केवलान्वयी याने वस्तुमात्र के संबंध में किये जानेवाले अनुमानपर दृष्टान्तासंभव की आपत्ति उठायी जाने पर देंगे। वह उत्तर यह होगा कि घटकी क्षणिकता असिद्ध होनेपर भी वह 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' इस सन्मात्रविषयक केवललान्वयी अनुमान में दृष्टांत बन सकता है। सन्मात्र की क्षणिकता सिद्ध हो जानेपर घट की क्षणिकता अलग से सिद्ध नहीं करनी पड़ेगी। ऐसे दृष्टान्त को 'प्रसिध्याङ्गक' दृष्टान्त ऐसी संज्ञा बौद्धों ने दी है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपरोक्त उपनय वाक्य में 'अन्त्यशब्द' इस पद के साथ 'विवादाध्यासित' अर्थात् 'विवादास्पद' यह पद यहाँ पर जोडा गया है। इसका कारण यह है कि अन्त्य शब्दकी क्षणिकता नैयायिकों को मान्य ही होने से उसके संबंध में अनुमान 'सिद्धसाधन' स्वरूप होगा। किन्तु अन्त्यशब्दातिरिक्त जो पदार्थ हैं उनकी क्षणिकता प्रस्थापित करना ही अर्थपूर्ण होगा। अतः 'विवादास्पद अन्त्यशब्देतर जो पदार्थ हैं' उनका ही पक्ष में समावेश मानना उपयुक्त होगा। 'शब्दादिः' ऐसे पदका मूल में प्रयोग इस संदर्भ में इस मतलब से किया गया है कि जैसे क्षणिक होते हुए भी अन्त्य शब्द सत् हैं वैसे ही अन्य पदाथ भी क्षणिक और सत् दोनों हो सकते हैं। अतः असत् पदार्थों का पक्ष में अन्तर्भाव मानने की आवश्यकता नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि उक्त अनुमान में पक्षता का निर्धारक धर्म यदि सत्ता ही हो तो अनुमान का हेतु सत्ता से भिन्न ही कोई धर्म होना चाहिए जिसका मूल में उल्लेख नहीं है। यदि यह धर्म और हेतु एक ही हों तो हेतु-साध्य की व्याप्तिका ज्ञान होने के साथ साथ ही अनुमान भी हो जायगा। व्याप्तिज्ञान के द्वारा अनुमान संपन्न करने की आवश्यकता ही तब नहीं रहेगी। इसका कारण यह है कि "जहाँ जहाँ हेतु है वहाँ वहाँ साध्य होता है" ऐसा ज्ञान ही व्याप्ति का ज्ञान है। अब यदि पक्षतानिर्धारक धर्म तथा हेतु एक ही हों तो उक्त व्याप्ति ज्ञान का स्वरूप "जहाँ जहाँ पक्षतानिर्धारक धर्म अवस्थित हो, याने सभी पक्षों में साध्य होता है, ऐसे ज्ञानसे अभिन्न होगा। यह ज्ञान पक्ष में साध्य का ज्ञान है जो अनुमान से अन्य कुछ नहीं है।" इस प्रश्न का बौद्ध यह उत्तर दे सकते हैं कि पक्षता निर्धारकधर्म, 'शब्दादिः' इस पदके घटक 'आदि' शब्द से सूचित 'प्रामाणिकता' जैसा कोई धर्म माना जा सकता है। 'आदि' शब्द का साधारणतया 'प्रसिद्ध' 'परिचित' जैसे अर्थों में प्रयोग हुआ करता है, उसी अर्थ में उसे यहाँ ले सकते हैं। तब प्रसिद्धता या प्रामाणिकता पक्षतानिर्धारक धर्म होगा और 'सत्व'––जिसका बौद्धमत में 'अर्थक्रियाकारित्व' यह अर्थ लिया जाता है––हेतु होगा। तब उक्त अनुमान निर्दोष बन जायगा। वास्तव में उक्त सामान्यानुमान का प्रश्न आधुनिक तर्क शास्त्र की परिभाषा के अनुसार अनुगम (Induction) का प्रश्न है। अवयव वाक्यों की आवश्यकता निगमन के लिये ही होती है, अनुगम के लिये नहीं। अतः उक्त अनुमान के लिये दृष्टान्त उपस्थित करने की जरूरत नहीं। अन्त्यशब्द के समान किसी एक घटनाके आधारपर भी सामान्यानुगम किया जा सकता है।

इस अनुमान पर नैयायिक प्रतिवाद करते हैं कि अनुमान के लिये अपेक्षित जो व्याप्ति वही असिद्ध है। सत्व और क्षणिकत्व में व्याप्यव्यापकभाव मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मू. "सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गेण भेदसिद्धौ तत्सिद्धिरितिचेत्"। न, विरूद्धधर्मसंर्गासिद्धेः। "प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां तत्सिद्धिरितिचेत्"। न, सामर्थ्यं हि करणत्वं वा योग्यता वा ?। नाद्यः, साध्याविशिष्टत्वप्रसङ्गात्। "व्यावृत्तिभेदादयमदोष इति चेत्"। न, तदनुपपत्तेः, व्यावर्त्यभेदेन विरोधो हि तन्मूलम्।

इसपर बौद्ध प्रथम यह सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक वस्तु में क्षण भेद से किसी कार्य के प्रति सामर्थ्य और असामर्थ्य, जो दृग्गोचर होता है, उससे प्रत्येक वस्तु विरुद्ध धर्मयुक्त प्रतीत होती है। कारण प्रत्येक क्षण वस्तु में आमूल परिवर्तन घटित होता है यह बात माननी पडती है। इस परिवर्तन के आधार पर सब वस्तुएं क्षणिक होती हैं ऐसा अनुमान सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। नैयायिक इस तर्क पर प्रतिवाद करते हैं कि प्रत्येक वस्तु में कालभेद से सामर्थ्य और असामर्थ्य दोनों विद्यमान होते हैं यह बात ठीक तरह सिद्ध नहीं होती। बौद्धों का सामर्थ्य असामर्थ्य साधन के लिये एक तर्क है जिसे 'प्रसङ्गविपर्ययात्मक' तर्क कह सकते हैं। एक ही तर्क के प्रसङ्ग और विपर्यय से ये दोनों घटकप्रक्रियाएं होने से उसे यह नाम दिया गया है। सामर्थ्य और असामर्थ्य सिद्ध करने के लिये अलग अलग प्रसङ्गविपर्ययानुमान (या तर्क) प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उदाहरणत: 'यदि धरती में बोया हुआ बीज अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ हो तो उस में से अंकुर तुरंत पैदा होगा'। यह सामर्थ्यसाधक प्रसङ्ग है। धरती में न बोये हुए भंडारघर में या अन्यत्र पडे हुए बीज के संबंध में ऐसा प्रासङ्गिक तर्क प्रस्तुत किया जाय तो उस तर्क के बाद विपर्ययानुमान की ओर अग्रसर होना होगा। उस तर्क और उस के विपर्यय का स्वरूप इस प्रकार होगा। 'भंडार में पडा बीज यदि अंकुरजनन समर्थ हो तो वह अङ्कुर को तत्काल उत्पन्न करेगा। (प्रसङ्ग) किन्तु ऐसा वह नहीं करता। अतः वह अङ्कुरोत्पादन समर्थ नहीं है।' इस प्रकार धरती में बोये बीज के संबंध में असामर्थ्यसाधक प्रसङ्ग और उसकेविपर्यय के द्वारा सामर्थ्य का साधन और भंडार में स्थित बीज के संबंध में असामर्थ्य का साधन कर एकही जैसे दीखनेवाले धरती में बोये गये और उसके पहले भंडारघर में रखे बीज की आन्तरिक भिन्नता को प्रस्थापित किया जा सकता है।

नैयायिक इसपर पूछते हैं कि जिस सामर्थ्य (और असामर्थ्य) के संबंध में उक्त तर्क प्रस्तुत किये गये उसका क्या स्वरूप है ? सामर्थ्य दो ही तरह का माना जाता है: एक को 'करणत्व' कहते हैं और दूसरे को योग्यता। यदि बौद्ध सामर्थ्य को करणस्वरूप मानते हों तो प्रासङ्गिक तर्क ही वे उपस्थित नहीं कर पायेंगे कारण यह है कि 'यदि भंडार में स्थित बीज समर्थ हो तो वह अङ्कुर पैदा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करेगा।' इस तर्क में सामर्थ्य यदि करणत्व या कारित्व ही हो तो सामर्थ्य के आधार पर कारित्व के आपादन का स्वरूप, कारित्व से कारित्व के आपादन जैसा ही होगा। तब हेतु और साध्य एक ही हो जाने से अनुमान ही असंभव हो जाएगा। इस पर अपोहवादी बौद्ध यह कह सकते हैं कि सामर्थ्य और कारित्व वास्तव में क्रमश: असमर्थव्यावृत्ति और अकारित्वव्यावृत्तिरूप हैं अत: साध्य हेतु एक नहीं हो जायेंगे। स्पष्ट है कि यह प्रतिवाद खोखला है। इन व्यावृत्तियों को तभी भिन्न माना जा सकता है जब इन के व्यावर्त्य भिन्न हों और परस्पर विरुद्ध भी। जो असमर्थव्यावृत्तिविषय हो वह अकारित्वव्यावृत्तिविषय न हो और वैसे ही जो अकारित्वव्यावृत्तिविषय हो वह असामर्थ्यव्यावृत्तिविषय न हो तो इन व्यावृत्तियों को परस्पर भिन्न समझा जा सकता है। लेकिन ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है।

मू. स च न तावन्मिथो व्यावर्त्य प्रतिक्षेपाद्गोत्वाश्वत्ववत्, तथासति विरोधादन्यतरापाये बाधासिद्धयोरन्यतरप्रसङ्गात्।

गोत्व, अश्वत्वरूप जातियाँ, जिन्हें बौद्ध अन्यव्यावृत्तिरूप मानते हैं, एक दूसरे से भिन्न हैं। क्योंकि अगोव्यावृत्त गोव्यक्ति में अश्वत्व विद्यमान नहीं और अनश्वव्यावृत्त अश्वव्यक्ति में गोत्व विद्यमान नहीं, अत: ये दो तथाकथित जातियाँ एक दूसरे के व्यावर्त्य का प्रतिक्षेप करतीं हैं। यदि ऐसा ही प्रतिक्षेप कारित्व और सामर्थ्य एक दूसरेका करे तो यदि सामर्थ्य सिद्ध हो तो कारित्व असिद्ध रह जाएगा जिससे बाध याने पक्ष में साध्य का अभाव मानना पड जायेगा और यदि कारित्व सिद्ध हो तो सामर्थ्य असिद्ध रह जाएगा जिस कारण हेत्वासिद्धिरूप दोष अनुमान में उत्पन्न होगा।

मू. नापि तदाक्षेपप्रतिक्षेपाभ्यां वृक्षशिंशपात्ववत्, परापरभावानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा समर्थस्याप्यकरणमसमर्थस्यापि वा करणं प्रसज्येत।

वृक्षत्व और शिंशपात्व (शिंशपा एक पेड़ है) के बीच जैसे व्याप्य–व्यापक भाव है (जिस कारण जो शिंशपा नहीं वह भी वृक्ष हो सकता है किन्तु जो वृक्ष नहीं वह शिंशपावृक्ष नहीं हो सकता।) वैसे ही असामर्थ्यव्यावृत्ति और अकारित्वव्यावृत्तियों के बीच व्याप्यव्यापक भाव माना जाय (और इस कारण सामर्थ्य और कारित्व को परस्पर भिन्न ठहराया जाय) तो समर्थ को भी अकारक, या कारक को भी असमर्थ सिद्ध किया जा सकता है। जैसे जो शिंशपा नहीं वह भी वृक्ष हो सकता है वैसे ही कारित्व यदि सामर्थ्यव्यापक हो तो जो समर्थ नहीं वह भी कारक हो सकता है। इसी प्रकार सामर्थ्यकारित्व व्यापक हो तो जो कारक नहीं वह भी समर्थ हो सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मू. नाप्युपाधिभेदात् कार्यत्वानित्यत्ववत्, तदभावात् । न च शब्दमात्रमुपाधिः यथार्थशब्दोच्छेद प्रसङ्गात् ।

इस पर पुनः बौद्ध अपने समर्थन में कह सकते हैं कि जैसे कार्यत्व (उत्पाद्यत्व) और अनित्यत्व समव्याप्त धर्म होने पर भी भिन्न-भिन्न हैं वैसे ही सामर्थ्य और कारित्व समव्याप्त होते हुए भी भिन्न हो सकते हैं । किन्तु कार्यत्व और अनित्यत्व की भेदक जैसी उपाधियाँ हैं वैसे सामर्थ्य और कारित्व की भेदक उपाधियाँ कोई नहीं प्रतीत होतीं । यदि समर्थशब्द तथा कारिशब्द को ही भेदक उपाधि माना जाय तो समानार्थक शब्द ही नहीं रह जायेंगे । 'घट' 'कलश' ये शब्द भिन्न भिन्न मानने पड़ेंगे ।

मू. नापि विकल्पभेदः, स्वरूपकृतस्य तस्य व्यावृत्तिभेदकत्वेऽसमर्थव्यावृत्तेरपि भेदप्रसङ्गात्, विषयकृतस्य तु तस्य भेदकत्वेऽन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । न च निर्निमित्त एवायं व्यावृत्तिभेदव्यवहारः, अतिप्रसङ्गात् ।

कारकत्वज्ञान से सामर्थ्यज्ञान भिन्न होने के कारण अकारित्व और असामर्थ्य की व्यावृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हो सकतीं हैं किन्तु ऐसा मानने पर यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि यदि ज्ञानव्यक्तियों का भेद ही व्यावृत्तियों का भेदक हो तो एक ही व्यावृत्ति से अनेक ज्ञान संभव होने के कारण एक ही व्यावृत्ति के अनेक प्रकार मानने पड़ेंगे । यदि विषयभेद (याने व्यावृत्तिभेद) के कारण उसके ज्ञान को अन्य ज्ञानों से भिन्न माना जाय तो पुनः इस ज्ञान के आधार पर ही इस के विषयभूतव्यावृत्ति को अन्य व्यावृत्तियों से भिन्न मानना होगा । इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष इस मत में उत्पन्न होगा । अन्ततोगत्वा व्यावृत्ति भेदव्यवहार को अनिमित्त ही लिया जाय तो कहीं भी भेदव्यवहार की संभावना की जा सकती है ।

मू. नापि द्वितीयः, सा हि सहकारिसाकल्यं वा प्रातिस्विकी वा ! न तावदाद्यः पक्षः, सिद्धसाधनात्, परानभ्युपगमेन हेत्वसिद्धेश्च । यत्सहकारिसमवधानवत्तद्धि करोत्येवेति को नाम नाभ्युपैति यमुद्दिश्य साध्यते, न चाकरणकाले सहकारिसमवधानवत्वमस्माभिरभ्युपेयते यतः प्रसङ्गः प्रवर्तेत ।

सामर्थ्यकरणत्व या (तत्काल) कारित्व न होकर स्वरूपयोग्यतारूप है इस पूर्वोक्त दूसरे विकल्प के संबंध में अब विचार किया जायेगा । स्वरूपयोग्यता के दो अर्थ हो सकते हैं । एक, सब सहकारियों के साथ सहकृत होना और दूसरा प्रत्येक कारण का जो स्वीय धर्म (जैसे बीज का बीजत्व होता है) हो उसका कारण में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अवस्थित होना। इनमें पहला अर्थ लेकर कोई लाभ नहीं है। क्योंकि सभी सहकारियों से सहकृत कारण कार्य उत्पन्न करता ही है अतः इस अर्थ में समर्थ कारण का कारित्व जब स्वतः सिद्ध है तो उसका तर्क के द्वारा साधन सिद्धसाधन ही होगा। यह कौन नहीं मानता कि जो सहकारि सहकृत होता है वह कार्य संपन्न करता है? और जब कारण कार्योत्पादन नहीं करता तब वह सहकारि सहकृत भी नहीं होता अतः समर्थ भी नहीं होता। उस हालत में 'कारण यदि समर्थ हो तो वह कार्य करे' ऐसा प्रसङ्गानुमान कैसे किया जा सकता है?

मू. प्रातिस्विकी तु योग्यता अन्वयव्यतिरेकविषयीभूतं बीजत्वं वा स्यात् तदवान्तर जातिभेदो वा, सहकारिवैकल्पप्रयुक्त कार्याभाववत्वं वा।

अब स्वरूपयोग्यता के दूसरे अर्थकारण का स्वीय धर्म या स्वभाव का विचार करें। यह धर्म क्या होगा? बीज का धर्म जो बीजत्व है–जिसका अङ्कुरके साथ अन्वयसहचार तथा व्यतिरेकसहचार होता है, उसको बीज की स्वरूप-योग्यता कह सकते हैं। या बीज विशेष में ही उपलब्ध होनेवाला 'कुर्वद्रूपत्व याने तत्काल कार्य को संपन्न करने की क्षमता रखनेवाला विशेषरूप ही स्वरूप-योग्यता माना जा सकता हैं। यह भी संभव है कि सहकारियों की अनुपस्थिति में कार्य का संपन्न न होना यही कारक की स्वरूपयोग्यता समझी जाय।

मू. न तावदाद्यः, अकुर्वतोऽपि बीजजातीयस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, तवापि तत्राविप्रतिपत्तेः।

उक्त विकल्पों में पहला स्वीकार्य नहीं। कार्य उत्पन्न न करनेवाले बीजत्व-युक्त बीज जहाँ वहाँ दिखाई पडते हैं। अतः जो समर्थ हैं वह कार्य उत्पन्न करेगा ही यह बात नहीं कही जा सकती। उस सन्बन्ध में बौद्ध को भी कोई संदेह नहीं होना चाहिये।

मू. न द्वितीयः, तस्य कुर्वतोऽपिमयानभ्युपगमेन दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वात्, कोहि नाम सुस्थात्मा प्रमाणशून्यमभ्युपगच्छेत्। स हि न तावत्प्रत्यक्षेणानुभूयते, तथाऽनवसायात्। नाप्यनुमानेन, लिङ्गाभावात्। "यदि न कश्चिद्विशेषः कथं तर्हि करणाकरणे इति चेत्।" क एवमाह नेति। परं किं जातिभेदरूपः सहकारि-लाभालाभरूपोवेति नियामकं प्रमाणमनुसरन्तो न पश्यामः। "तथापि योऽयं सहकारिमध्यमध्यासीनोऽक्षेपकर स्वभावो भावः स यदि प्रागप्यासीत् तदा प्रसह्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कार्यं कुर्वाणो गीर्वाणशापशतेनाप्यपहस्तयितुं न शक्यते इति चेत् ''। युक्तमेतत् यद्याक्षेपकरणस्वभावत्वं भावस्य प्रमाणगोचरः स्यात्, तदेव कुतः सिद्धमिति नाधिगच्छामः। '' प्रसङ्गतद्विपर्ययाभ्यामिति चेत् ''। न, परस्पराश्रय प्रसङ्गात। एवं स्वभात्वसिद्धौ हि तयोः प्रवृत्तिः, तत्प्रवृत्तौ चैवंस्वभावत्वसिद्धिरिति।

स्वरूपयोग्यता के पूर्वोक्त तीन संभाव्य अर्थों में से दूसरे अर्थ का अब खण्डन प्रस्तुत किया जा रहा है। बीज जैसे कारण में कार्योत्पादनक्षण में 'कुर्वद्रूपत्व' यह विशेष धर्म अवस्थित होता है यह मानने के लिये कोई प्रमाण न होने से क्षेत्र या धरती में बोये बीज में भी इस धर्म की विद्यमानता नहीं मानी जा सकती। कौन समझदार मनुष्य प्रमाण-शून्य बात स्वीकार करेगा? प्रत्यक्ष से ऐसे धर्म की उपलब्धि नहीं होती। क्योंकि ऐसे प्रत्यक्षज्ञान का अनुव्यवसाय नहीं होता। अनुमान से भी इस धर्म की सिद्धि होती नहीं दिखाई देती। अनुमान के उपयुक्त कोई हेतु ही नहीं है। इसपर प्रश्न हो सकता है कि बीज जैसे कारणों में कुर्वद्रूपत्व जैसा कोई विशेष धर्म न हो तो कोई बीज अंकुरोत्पादक होता है तो कोई ऐसा नहीं होता इस फर्क का क्या कारण है? उत्तर देते हुए नैयायिक कहता है कि अंकुरोत्पादक तथा अनुत्पादक बीज में फर्क नहीं ऐसा कोई नहीं कहता किन्तु यह फर्क एक में 'कुर्वद्रूपत्व' का होना और दूसरे में उसका न होना यह है या एक का सहकारियुक्त होना और दूसरे का ऐसा न होना यह है इस विकल्प का निर्णायक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। फिर भी यह प्रश्न हो सकता है कि सहकारियों से सहकृत रहने पर कार्योत्पादनक्षम जो कारण था वह सहकृत होने के पूर्व भी जैसे के तैसा बना रहता तो उस की कार्योत्पादनक्षमता देवताओं के शाप से भी पूर्वस्थिति में कुण्ठित नहीं होनी चाहिये थी। उत्तर है कि बात ऐसी ही है। कारण का स्वभाव ही यदि 'तत्काल कार्यनिर्मिति' यह हो तो यह उसका स्वभाव सदैव बना रहेगा। किन्तु ऐसा मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। पूर्वोक्त प्रसङ्गविपर्यय अनुमानों से यह बात सिद्ध करना चाहें तो अन्योन्याश्रय दोष घटित हुए बिना नहीं रहेगा। इसका कारण यह है कि, कारण में कुर्वद्रूपत्व है यह मानने पर ही ('यदि कारण समर्थ हैं तो उसे तत्काल कार्य संपन्न करना चाहिये' ऐसे) प्रसङ्गानुमान संभव हैं और प्रसङ्ग (विपर्यय) अनुमान पर से ही 'कुर्वद्रूपत्व' की सत्ता सिद्ध होती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मू. "स्यादेतत्, कार्यजन्मैवास्मिन्नर्थे प्रमाणं, विलम्बकारिस्वभावानुवृत्तौ कार्यानुत्पत्ति सर्वदेतिचेत्"। न, विलम्बस्वभावस्य सर्वदैवाकरणे तत्त्वव्याघातात्। ततश्च विलम्बकारीत्यस्य यावत्सहकार्यसन्निधानं तावन्न करोतीत्यर्थः। एवं च कार्यजन्मसामग्र्यां प्रमाणयितुं न शक्यते न तु जातिभेदे। ते तु किं यथानुभवं विलम्बकारिस्वभावाः परस्परं प्रत्यासन्नाः कार्यं कृतवन्तः, किं वा यथात्वपरिकल्पने क्षिप्रकारिस्वभावा इत्यत्र कार्यजननमजागरूकमेवेति।

पुनः बौद्ध क्षणिकत्वस्थापनार्थ नया तर्क उपस्थित करता है। वह कहता है कि कारण का स्वभाव ही तत्काल कार्य उत्पन्न करता है इस बात के लिये कार्योत्पत्ति ही सब से बडा प्रमाण है। यदि विलम्ब से कार्योत्पादन करने का स्वभाव कारण में सदा बना रहता तो कभी कारण से कार्य उत्पन्न नहीं होता। इस पर नैयायिक प्रतिवाद करता है कि विलम्बकारी कारण यदि कभी कार्योत्पादन नहीं करेगा तो वह कारण ही नहीं होगा। इस कारण कारण की विलम्बकारिता का अर्थ 'जबतक सभी सहकारी एकत्रित न हों तबतक कार्योत्पादन न करनेवाला' ऐसा लेना चाहिये। अतः कार्योत्पत्ति पर से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कार्योत्पाद के लिये अपेक्षित सहकारि सामग्री कार्योत्पत्ति स्थल में सन्निहित है। कारण में अविलम्बकारित्व जैसा कोई स्वभाव हुआ करता है यह बात कार्योत्पत्ति पर से प्रमाणित नहीं होती। कार्य उत्पन्न करनेवाला कारण विलम्बकारिस्वभाववाले होते हुए भी परस्पर सहचरित होकर अपना कार्य संपन्न कर पाये या बौद्ध के मतानुसार अविलम्बकारिस्वभाववाले होने के कारण अपना कार्य कर पाये इस संबंध में कार्योत्पत्ति पर से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

मू. नापि तृतीयः, विरोधात्––सहकार्यभावप्रयुक्त कार्याभाववांश्चसहकारिविरहकार्यवांश्चेति व्याहतम्। तस्माद्यद्यदभाव एव यन्न करोति तत् तत् सद्भावे तत्करोत्येवेति (तु)स्यात्, एतच्च स्थैर्यसिद्धेरेव परं बीजं सर्वस्वमिति।

स्वरूपयोग्यत्वरूपसामर्थ्य का तीसरा विकल्पित अर्थ (सहकारियों के न होने पर कार्य उत्पन्न न होना) जो पीछे प्रस्तुत किया गया था वह भी ग्राह्य नहीं (ऐसा नैयायिक कहता है) हो सकता। इस अर्थ को लेकर भंडार में रखे बीज का असामर्थ्य प्रसङ्गानुमान से सिद्ध करना संभव नहीं क्योंकि भंडार में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्थित बीज के साथ सहकारियों का संनिधान नहीं होता। उस हालत में 'यदि बीजसहकारियों की अनुपस्थिति में कार्य पैदा न करनेवाला (यह शब्द का अर्थ) हो तो वह (सहकारियों के न होने पर भी) कार्य पैदा करे' ऐसा प्रसङ्गानुमान वदतोव्याघात में परिणत हो जायगा। अतः जो पदार्थ जिस की अनुपस्थिती में जो कार्य संपन्न नहीं कर पाता वह उसके उपस्थित होने पर वह कार्य संपन्न करेगा ही यही कहना उचित होगा। किन्तु यह बात तो वस्तुओं के स्थैर्यसाधना में ही सहायक होती है।

नारायणशास्त्री द्रविड

आचार्य एवं अध्यक्ष,
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मतैक्य और संघर्ष : कुछ विचार

१. प्रस्तावना

इस निबंध में यह मानकर चल रहा हूँ कि इतिहास घटनाओं की तालिका मात्र नहीं है (और यह भी संदेहास्पद है कि घटनाओं की तालिका मात्र तालिका ही होती है।) क्यों कि जो कुछ घटित होता है उसमें घटना के आकलन का मानसिक बोध भी वर्तमान रहता है। घटनाओं के मानसिक आकलन में व्यक्ति अथवा समाज की प्रकृति का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अन्तर्निहित रहता है। व्यक्ति और समाज की प्रकृति के आकलन में भिन्नता के फलस्वरूप एक ही समय और स्थान की बोधात्मक स्थिति में अन्तर उत्पन्न हो जाता है (मैं यहाँ पर व्यक्ति और समाज की वैयक्तिक पृष्ठभूमि और प्रवृत्ति को संदर्भित नहीं कर रहा हूँ जिससे व्यक्ति अथवा समाज की प्रकृति के आकलन में अन्तर उत्पन्न हो सकता है और न ही उस तथ्य को विशेष महत्त्व देता हूँ जिसके अनुसार प्रवृत्ति विशेष अथवा पृष्ठभूमि का अन्तर व्यक्ति और समाज की प्रकृति के विशिष्ट आकलन को प्रभावित करता है।) मैं वस्तुतः इतिहास संबंधी दो परस्पर भिन्न दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करना चाहता हूँ। इसी आलोक में समाज के भीतर मतैक्य (Consensus) एवं संघर्ष (Conflict) की भूमिकाओं पर विचार करना ही यहाँ पर अभिप्रेत है।

यह कार्य, आकलन के विभिन्न प्रकारों को स्पष्ट करनेवाली किसी घटना विशेष के विस्तृत परीक्षण द्वारा किया जा सकता है, किन्तु अनेक कारणों से वैसा कर पाना यहाँ संभव नहीं है। इस अभाव की पूर्ति के लिए मैंने एक दृष्टांत (Case study) को संदर्भित किया है जो संभवतः इस निबंध में अमूर्त रूप से उठाए गए मुद्दों को स्पष्ट कर सकेगा। इस दृष्टान्त में स्पृश्यता की समस्या पर गांधी और आंबेडकर की धारणाओं और प्रतिक्रियाओं की भिन्नता पर विचार किया गया है। इसके कुछ मुख्य मुद्दे अगले विभाग में प्रस्तुत किए गए हैं।

परामर्श (हिन्दी) वर्ष २ : अङ्क २, मार्च, १९८१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसके पश्चात् मैंने संक्षेप में व्यक्ति और समाज के दो ढाँचों (Models) को प्रस्तुत करके इतिहास संबंधी आकलन पर उनके प्रभावों की चर्चा की है। एक ढाँचा व्यक्ति और समाज की पारस्परिक क्रिया-प्रक्रिया एवं अनेक घटकों के निश्चयीकरण के संदर्भ में विचार करता है। इसमें किसी विशिष्ट घटक की वरीयता सैद्धांतिक नहीं होती, वह केवल तात्कालिक एवं व्यावहारिक स्वरूप की होती है। दूसरे ढाँचे में किसी विशिष्ट घटक को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है कि वही अन्य घटकों का विधायक और व्यक्ति तथा समाज की स्थिति का निर्णायक माना जाता है। अगले विभाग में इन ढाँचों के उपयोग संबंधी कुछ समस्याओं पर विचार किया जायगा। इन्हीं विचारों के आधार पर मेरी स्थापना है कि अधिक मौलिक अन्तर समस्या के अध्ययन को मतैक्य (Consensus) और संघर्ष (Conflict) जैसी प्रणालियों में न होकर समावेशक (Comprehensive) और संकुचित (Partial) ढाँचों में होता है। इसी आधार पर मतैक्य और संघर्ष के साथ दोनो ढाँचों के संबंधों का संकेत भी किया जायगा।

२. दृष्टांत का अध्ययन : अस्पृश्यता और गांधी तथा आंबेडकर की विभिन्न मान्यताएँ

कुछ समय पूर्व एक लेख में मैंने अस्पृश्यता के संबंध में गांधी और आंबेडकर की धारणाओं और समस्या के निवारण संबंधी दृष्टिकोणों का अध्ययन किया है।[1] मैंने कहा है कि गांधी केवल अछूतों की आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक स्थितियों के बारे में ही नहीं, नैतिक और आध्यात्मिक जीवन की स्थितियों के बारे में भी चिन्ता करते हैं। गांधी न केवल हरिजनों के जीवन के विविध आयामों से संपृक्त थे अपितु हरिजनों के साथ ही सवर्णों तथा इतर जातियों के जीवन के सभी आयामों से संपृक्त थे। इसके विपरीत आंबेडकर का संबंध हरिजनों के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन से ही था। उनके जीवन के नैतिक और धार्मिक आयामों से आंबेडकर का संबंध नहीं था। इसी प्रकार हरिजनों की समस्याओं के साथ सवर्णों के जीवन की समस्याओं से उनका कोई लगाव नहीं था। अपनी प्रतिक्रियाओं में आंबेडकर उत्तेजित रहते थे तो गांधी दृढ़। हाँ, आवश्यकतावश गांधी भी संघर्ष के लिए तैयार थे। हरिजनों के भाग्योदय के संबंध में आंबेडकर अधीर थे जबकि गांधी इस समस्या के ऐसे समाधान की खोज में थे जिससे अन्य समकक्ष अथवा अधिक संकट उत्पन्न करनेवाली समस्या की उत्पत्ति न हो सके।

विस्तारपूर्वक यह जानना उपादेय होगा कि इस दृष्टि-भेद का उनकी विचार-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धारा, विचारों की क्रियात्मक परिणति, और उनकी भविष्य संबंधी दृष्टि पर क्या प्रभाव पड़ा।

३. व्यक्ति और समाज सम्बन्धी आकलन के दो ढाँचे

इस विभाग में व्यक्ति और समाज संबंधीं आकलन के दो ढांचे अंकित किए गए हैं। दोनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर होनेपर भी परस्पर संबंध है। मैं इन ढाँचों को पुरुषार्थों के ढ़ाँचों में प्रस्तुत करना चाहता हूँ– पुरुषार्थ अर्थात् मानव के लक्ष्य: धर्म, अर्थ, काम मोक्ष। ऐसा करने के अनेक कारण हैं। पुरुषार्थ के आधार पर मनुष्य का आकलन मनुष्य के पारम्परिक आकलन का प्रतिनिधित्व करता है और वह आज भी हमारे जीवन में वर्तमान है। साथ ही व्यापकता के कारण इसमें व्यक्ति और समाज के आकलन को क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित करने की क्षमता है।

पुरुषार्थं के आधारपर मनुष्य के आकलन से अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, यथा– इन लक्ष्यों की प्रकृति क्या है? क्या मात्र यही संभावित लक्ष्य है? आदि। किन्तु अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए यहाँ पर उन प्रश्नों के विस्तार में जाना आवश्यक नहीं है। यहाँ पर कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दे ही विचारणीय हैं:

अ) पुरुषार्थ अन्तर्क्रियासंपन्न परस्पर संवद्ध घटकों का समूह है और हमारा लक्ष्य केवल मोक्ष की प्राप्ति न होकर सभी पुरुषार्थों को एक साथ एक समुच्चय के रूप में प्राप्त करना है।

ब) विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के बीच के अन्तस्संबंधों की ओर ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए इन लक्ष्यों को तर, तम अथवा वरीयता के क्रम में रखकर देखना चाहिए– अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। यह सम्भव है (यद्यपि आवश्यक नहीं) कि कोई व्यक्ति अर्थ जैसे कम महत्त्व के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होकर अधिक महत्त्वपूर्ण अथवा उच्चतर मूल्यों-वाले लक्ष्यों की उपेक्षा करे किन्तु जो व्यक्ति मोक्ष जैसे उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है उसे अनिवार्यत: अर्थ, काम धर्म जैसे न्यूनतर लक्ष्यों को सम्मिलित करना पड़ता है। लक्ष्यों को समन्वय और एक समुच्चय का रूप देने की प्रणाली व्यक्ति-भेद से भिन्न-भिन्न होती है।

स) व्यक्ति के लिए निर्दिष्ट इन लक्ष्यों के आधार पर हम समाज के लक्ष्यों पर विचार कर सकते हैं। (यह पद्धति असंतोषप्रद है क्योंकि व्यक्ति के लक्ष्य में समाज और समाज के लक्ष्य में व्यक्ति के लक्ष्य अन्तर्निहित रहते हैं।)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समाज के लक्ष्य का व्यापक वर्णन यह है कि वह व्यक्ति के लक्ष्य को प्राप्त करने की सुविधाएँ प्रदान करता है। यह कहना अनावश्यक होगा कि सुविधा प्रदान करने का अर्थ लक्ष्य को प्राप्त करना नहीं होता।

द) लक्ष्यों को प्राप्ति के लिए एक प्रकार की सुविधा प्रदान करने का अर्थ, काम और धर्म (अर्थ, काम, और धर्म के एक आयाम की प्राप्ति में) की उपलब्धि में समाज की भूमिका प्रत्यक्ष होती है, अर्थात् समाज अपने समुदाय के सदस्यों के इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नों का समन्वय और संगठन प्रत्यक्षरूप में करता है। धर्म (जहाँ तक मोक्षप्राप्ति से संबद्ध है) और मोक्ष के संदर्भ में समाज की भूमिका अप्रत्यक्ष होती हैं, अर्थात् व्यक्तिद्वारा इन लक्ष्यों कि प्राप्ति के उपक्रमों को संगठित करने की समाज की भूमिका परोक्ष होती है। किन्तु यह आवश्यक है कि किसी लक्ष्यविशेष (उदाहरणार्थ 'अर्थ') की प्राप्ति का उपक्रम अपनी पद्धति, कठिनता, अथवा सहजता के कारण, नैतिक और धार्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति को कठिन अथवा असंभव न बना दे। ठीक उसी प्रकार नैतिक और धार्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति अत्यधिक कठिन नहीं बनानी चाहिए।

यहाँ पर यह विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि ये सुबिधाएँ व्यक्ति को वैयक्तिक स्तर पर प्रदान करना असंभव है, क्योंकि उनमें भेद अत्यधिक है और ब्योरा भी। व्यक्ति को समुदाय के एक सदस्य के रूप में ही सुविधाएँ प्रदान की जा सकती हैं। समाज सभी प्रकार के समूहों का दावा स्वीकार नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, समलैंगिक संबं रखने वालों को अभी हाल तक समूह के रूप में सामाजिक मान्यता नहीं मिल पायी थी। किन्तु मान्यता प्राप्त समूहों में सभी व्यक्तियों की समाहिति संभव नहीं हैं। इस ढ़ांचे में अपेक्षित था कि व्यक्ति अपनी समस्याओं की चिंता स्वयं करे। (संयोग से संर्वोदय के आकलन पर इसका प्रभाव है) यदि इसे सभी व्यक्तियों की अपेक्षा समाज के सभी सभूहों के कल्याण की भावना से समझा जाय तो इस में सामाजिक विधान के प्रश्न की एक भिन्न एवं नवीन दिशा मिलती है।

दूसरा ढाँचा :

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दूसरा ढांचा भी पुरुषार्थों के ढ़ाँचे का उपयोग करता हैं। इस में यह भी स्वीकार किया जाता है कि सभी लक्ष्यों में अंतस्संबंध होता है। इसमें किसी विशिष्ट घटक को सर्वाधिक महत्व दिया जाता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है क्योंकि यदि पूर्ण रूपेण नहीं तो बहुत दूरतक समुदाय के सदस्यों द्वारा विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के उपक्रम को निश्चित करता है।

किसी विशिष्ट घटक को दिए गए बुनियादी महत्व को अन्य विशिष्ट घटक को विभिन्न कारणों से दिए गए महत्व से अलग करना अनिवार्य है। उदाहरण के लिए किसी विशिष्ट समय अथवा परिस्थिति विशेष में आर्थिक अथवा तकनीकी जैसा कोई घटक विशेष, महत्वपूर्ण परिवर्तनों के कारण अत्यधिक महत्वपूर्ण हो सकता है। इन परिस्थितियों में किसी घटक विशेष को विशिष्ट अवधान देना पहले ढाँचे के साथ असंगत नहीं होगा और यह भी संभव है कि कोई इतिहासकार सामुदायिक जीवन के किसी विशिष्ट आयाम में ही रुचि रखता हो। यह भी पहले नमूने की स्वीकृति के साथ असंगत नहीं होगा। पहले नमूने के साथ यदि कोई बात असंगत है तो वह है सामान्य और सार्वभौम रूप में किसी घटक विशेष को निर्णायक भूमिका प्रदान करना।

व्यक्ति और समाज संबंधी इस आकलन के अनुसार समाज के इतिहास के प्रति हमारी दृष्टि पहले नमूनें से प्राप्त दृष्टि से भिन्न होगी। यह दृष्टि व्यक्ति अथवा समाज अथवा दोनों के अवधान को किसी लक्ष्य विशेष की प्राप्ति की ओर निर्देशित करेगी। यदि नैतिक अथवा धार्मिक लक्ष्यों को महत्त्व दिया गया तो संस्थाओं की सहयोगात्मक भूमिका विस्मृत कर दी जायगी और यदि भौतिक लक्ष्यों को अधिक महत्व दिया गया तो संस्थाओं को सहयोगात्मक भूमिका के स्थान पर निर्णायक भूमिका दे दी जाएगी और व्यक्ति की भूमिका को विस्मृत कर दिया जाएगा।

दो ढाँचे और उनका उपयोजन :

इस विभाग में इन नमूनों के उपयोजन संबंधी कुछ समस्याओं और उनके सामान्य उपयोजन पर विचार किया गया है।

१. इन नमूनों के संबंध में एक महत्वपूर्ण भ्रम है जिसका निवारण आवश्यक है। यह स्पष्ट नहीं होता कि सभी लक्ष्य अथवा किसी लक्ष्यविशेष का वर्चस्व, विशिष्ट परिस्थिति का अथवा आदर्श का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये नमूने क्या बताते हैं—यह कि वस्तुस्थिति इस प्रकार की है अथवा इस प्रकार की होनी चाहिए।

प्रश्न पूछने की पद्धति से ही यह संकेत मिलता है कि वस्तुस्थिति पहले या दूसरे रूप में समझना आवश्यक है। मेरे विचार से यह ढाँचों की प्रकृति को गलत ढंग से समझना है। प्रत्येक ढाँचा यह दावा करता है कि वह व्यक्ति और समाज को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यथावत् रूप में प्रस्तुत कर रहा है, अर्थात् स्वस्वरूप में प्रस्तुत कर रहा है। यदि व्यक्ति और समाज स्वस्थ रूप में नहीं हैं तो वे मानसिक रुग्णता की दशा में हैं और उनके स्वास्थ्य की पुनर्प्राप्ति आवश्यक है। इस संदर्भ में 'है' और 'चाहिए' के बीच तीव्र विरोध स्थापित करना अनुचित है।

किन्तु यहाँ पर यह प्रश्न उठेगा कि स्वास्थ्य क्या है ? इसका निर्णय कौन करेगा, कौन निश्चित करेगा कि दोनों में से कौन-सा ढाँचा स्वास्थ्य का प्रतिनिधित्व करता है ? क्या यह व्यक्तिगत चुनाव का प्रश्न है ? अथवा कुछ ऐसे मापदंड हैं जिनके आधार पर हम एक अथवा दूसरे के पक्ष में अपना निर्णय ले सकें।

स्वास्थ्य के निर्णय के संबंध में एक मानदड यह हो सकता है कि हम देखें कि दो ढाँचों में से कौन-सा ढाँचा वस्तुस्थिति के आकलन में और उसका सामना करने में सहायक होता है। किन्तु यह उत्तर एक दूसरे प्रश्न की सृष्टि करता है– वस्तुस्थिति से सामना करना वस्तुतः क्या है ? एक निश्चित अर्थ में दोनों ढाँचे वस्तुस्थिति का सामना करने में सहायक होते हैं। (स्मरणीय है कि आंबेडकर और गांधी दोनों ने परिस्थिति से सामना किया) और दोनों ही पद्धतियों की अपनी-अपनी सीमाएं और संभावनाएँ हो सकती हैं।

समावेशक ढाँचे (Comprehensive model) से यह हानि होती है कि वह क्रियात्मकता को कठिन बना देता है। किन्तु इस में पूर्णता की स्थिति का लाभ भी है। संकुचित ढाँचे (Partial model) से क्रियात्मकता सरल होती है किन्तु इस में पूर्णता का अभाव होता है। वह समस्या के एक विशिष्ट आयाम से ही संबद्ध होता है। परिणाम स्वरूप अन्य समस्याओं के उत्पन्न होने की संभावना बनी रहती है। ऐसा प्रतीत होता है कि जो सिद्धांततः अच्छा होता है वह व्यवहार में भी उतना ही अच्छा नहीं होता और जो व्यवहार में अच्छा होता है वह सिद्धान्त में भी उतना ही अच्छा नहीं होता। इसका तात्पर्य यही है कि अच्छे सिद्धान्त अथवा अच्छे व्यवहार के बारे में हमारा दृष्टिकोण अनिवार्यतः गलत है। मैं यह मानकर चलता हूँ कि समावेशक ढाँचा हमें उत्तम सिद्धान्त और उत्तम व्यवहार दोनों प्रदान करता है। व्यवहार की सीमाएँ अस्थायी होती हैं। संकुचित ढाँचा सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में बुरा होता है। व्यवहार संबंधी लाभ तात्कालिक और अस्थायी होते हैं। (यद्यपि मैंने कहा है कि मैं मानकर चलता हूँ तथापि अगले विभागों में किए गए विचार से स्पष्ट हो जाएगा कि इस मानने के पक्ष में युक्तियों को प्रस्तुत किया जा सकता है।)

दो ढाँचे और मतैक्य तथा संघर्ष :

सामाजिक आकलन के इन दो ढाँचे सहमति-संभावना और संघर्ष के विषय से क्या संबंध है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मैं उन दो पद्धतियों को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पष्ट करना चाहूँगा जिनके द्वारा मतैक्य और संघर्ष की अवधारणाओं को समझा जा सकता है। एक पद्धति में संघर्ष को प्रशमित करने की शैली को संदर्भित किया जाता है। मतैक्य में एक सहमति पर पहुँचा जाता है यद्यपि सहमति की प्रकृति में अत्यन्त भिन्नता संभव है। संघर्ष की स्थिति में विवाद का समाधान कानूनी लड़ाई अथवा विधानसभाओं आदि में खोजा जाता है। किन्तु मतैक्य और संघर्ष समाज के आकलन की दो भिन्न शैलियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। मतैक्य की आकलन शैली में किसी विवाद अथवा समस्या का अध्ययन सभी समूहों के हित की दृष्टि से किया जाता है। संघर्ष की आकलन शैली में विवाद अथवा समस्या का विचार किसी समूह विशेष के हित विशेष को ध्यान में रखकर किया जाता है। पहली शैली सहयोग पर बल देती है जब कि दूसरी शैली विरोध पर। कोई यह कह सकता है कि आकलन की मतैक्य शैली संघर्ष प्रणाली की ओर ले जाती है किन्तु आकलन की शैलियों में और सबद्ध संज्ञा धारण करने वाली प्रणालियों में कोई आवश्यक संबंध नहीं है। समस्या का समाधान प्रस्तुत करनेवाली प्रणाली समाज की परंपरा और परिस्थिति पर निर्भर करती है, समस्या के आकलन की शैली चाहे जो भी हो।

यदि मेरा विचार ठीक है तो हमें प्रणाली की अपेक्षा आकलन की शैली पर विशेष बल देना चाहिए। संघर्ष की अपेक्षा मतैक्य को आकलन की शैली के रूप में स्वीकार करना चाहिए। प्रणाली के रूप में भी संघर्ष की अपेक्षा मतैक्य को अनिवार्य रूप से वरीयता देनी चाहिए। किन्तु यदि आवश्यक हो तो आकलन की संघर्ष शैली को मतैक्य की सहायिका के रूप में ही वरीयता दी जा सकती है।

कुछ निष्कर्षात्मक संस्तुतियाँ :

१. यदि दोनो ढाँचों के बीच के अन्तर को स्वास्थ्य और रुग्णता के रूप में स्वीकार किया जाय तो किसी समाज की प्रगति के निर्णायक मानदण्ड बदल जायेंगे। हम समाज की प्रगति को जीवन के किसी विशिष्ट आयाम के रूप में मूल्यांकित नहीं करेंगे।

२. यहाँ पर प्रस्तुत विचारों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि एक विशिष्ट कोटि की भ्रांत धारणा हिन्दुओं के पतन का महत्वपूर्ण कारण थी। वह भ्रांत धारणा यह थी कि यदि कोई व्यक्ति मोक्ष की साधना में अर्थ और काम के प्रति उदासीन हो सकता है तो समाज भी उसी प्रकार अर्थ और काम की उपेक्षा कर सकता है।[२]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३. यह हमारी वर्तमान समस्याओं और उनके समाधानों के बारे में हमारे आकलन को बदल देगा।

दर्शन विभाग
कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड
हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

के. जे. शहा
अनुवाद
रामजी तिवारी

टिप्पणियाँ

1. "Dissent, Protest and Reform : Some conceptual consideration" in Dissent, Protest and Reform in Indian Civilization, 1977, Indian Institute of Advance Study, Simla.
2. Indian Philisophical Quarterly, Vol. V1 No. 1 (Octo., 1978) में प्रकाशित K. J. Shah; "Consensus and Conflict : Some Consideration" लेख का अनुवाद।

हम लेखक तथा सम्पादक महोदयों के अनुमति के लिए आभारी हैं।
—— कार्यकारी सम्पादक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आधुनिक जगत् को सन्देश

(एक क़बीली अमरीकी इण्डियन मुखिया द्वारा)

सन १८५५ ईसवी में अमरीकी संयुक्त राष्ट्र के अध्यक्ष फ्रैंकलिन पर्स ने एक 'आवेदन' सीथेल को भेजा, जो सुवामिश क़बीले के तद्देशीय इण्डियनों के मुखिया थे (जो उसी जमीन पर रहते थे जहाँ आधुनिक वाशिंग्टन राज्य स्थित है), कि वे अपनी जमीन सरकार को 'वेच' दें। उसके उत्तर में सीथेल मुखिया ने निम्न पत्र अध्यक्ष महोदय को भेजा:

"वाशिंग्टन के महामहिम ने मेरे पास सन्देश भिजवाया है कि वे हमारी जमीन खरीदना चाहते हैं। महामहिमजी ने हमारी ओर अपनी सद्भावना एवं सौहार्दता का भी हाथ बढाया है। यह उनकी महती कृपा है, क्योंकि हमें यह ठीक तरह से मालूम है कि परिवर्तन में हमारी सौहार्दता की उन्हें कितनी कम आवश्यकता है। हम यह भी भली भाँति जानते हैं कि यदि हम वह नहीं करेंगे जो वे चाहते हैं, तो श्वेतांग लोग बंदूकें हाथ में लेकर आ सकते हैं और हमारी जमीन आसानी से हथिया सकते हैं।

"आप आकाश को कैसे खरीद या बेच सकते हैं या धरती की गर्मी कैसे बेची जा सकती है? यह विचार कम से कम हमें तो विचित्र-सा लगता है। हालांकि हम वायु की ताजगी या जल की चमक के मालिक नहीं हैं, कृपया कहें कि आप उन्हें हम से कैसे मोल ले सकते हैं? मेरे लोगों के लिए इस धरती का हरेक टुकडा पवित्र है। पाइन वृक्ष की हरेक दमकती तीखी सुई, प्रत्येक बलुआ सागर-तट, हर घने जंगल में छानेवाला कोहरा, हरेक साफसुथरा मैदान तथा भुनभुनाता कीड़ा हमारे साधारण जनमानस की स्मृति तथा अनुभूति में मात्र पवित्रता ही का प्रतीक है।

परामर्श (हिन्दी) वर्ष २:अङ्क २, मार्च, १९८१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"हम यह जानते हैं कि श्वेतांग मानव हमारे आचारों तथा विचारों को समझ ही नहीं पाता है। उसके लिए जमीन का एक भाग किसी दूसरे भाग के ही अनुरूप है, क्योंकि वह, उस अजनबी व्यक्ति की तरह रात को आकर धरती से जो कुछ लेना चाहता है, ले लेता है। धरती उसकी कोई बन्धु नहीं है, बल्कि वह उसकी दुश्मन है; और जब वह उसे विजीत कर लेता है, आगे बढ़ता जाता है। उसकी यह भूख आम धरती को निगल लेगी और पीछे मात्र रेगिस्तान ही छोडेगी! आपके शहरों का मुखडा हमारे जैसे लाल आदमियों की आँखों में अश्रु लाता है। लेकिन यह संभवत: इसलिए लगता है क्योंकि लाल क़बीले का आदमी अभी जंगली है और कुछ नहीं जानता है।

"अगर मैं आपके प्रस्ताव को स्वीकार करूँगा तो एक शर्त पर। श्वेतांग मानव उन जानवरों को, जो कि इस जमीन पर विचरते हैं, अपना भाई माने। आखिर मानव इन जानवरों के विना है ही क्या ? यदि ये सभी प्राणी खत्म हो जाएँ तो आदमी भी अपने सूने अकेलेपन में आत्मिक मौत का शिकार होगा। क्योंकि आज जो वन्य प्राणियों के साथ गुजरेगी, वही कल मानव का भाग्य होगा।

"हम केवल एक बात जानते हैं, जो संभवत: एक दिन श्वेतांग मानव भी जान पाएँ: हमारा परमात्मा भी वही है जो उसका परमात्मा है। आप शायद यह सोचेंगे कि आपने उस परमात्मा को पूरी तरह अपना बना लिया है, जैसे हमारी सारी जमीन आप हथियाना चाहते हैं। तथापि यह आपको मुमकीन नहीं है। क्योंकि वह तो सभी मानवों का ईश्वर है। उस परमात्मा की अनुकम्पा लाल आदमी पर उतनी ही है, जितनी की श्वेतांगों पर। धरती उसके लिए बहुमूल्य है। तो फिर इस धरती को विगाड़ना उस परमशक्तिमान् निर्माता से चरम घृणा करना होगा। अन्य जातियों और क़बीलों को तरह संभवत: श्वेतांग भी अस्तंगत होंगे, शायद दूसरे कबीलों से पहले भी। आप स्वयं अपने विस्तर को खराब कर रहे हैं, और एक रात आप उसी बिस्तर में अपनी इस दलिद्र स्थिति में खत्म हो जायेंगे। जब सभी भैंसें काटी जा चुकेंगीं, जंगली घोडे पालतू बन चुके होंगे, जंगल के अनाघ्रात कोने घोर मानव गंध से वासित हो चुके होंगे और पक्की पुख्ता पहाडियाँ आपके बोलते तारों से बदरंग बनाई जा चुकी होंगीं, तब वृक्ष-कुंज कहाँ होंगे ? चील कहाँ ठहरेगी ? और जब भाग-दौड़, शिकार को हम अपना आखिरी प्रणाम कर चुके होंगे, तब जिजीविषा का ही अन्त पहुँचा होगा तथा साथ-साथ मृत्यु का आरम्भ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"श्वेतांग आदमी के नगरों में शान्ति की कोई जगह नहीं है। बसन्त ऋतु में पेड़ों के पत्तों की आवाज सुनने की गुंजाइश नहीं या पतङ्गों के छोटे छोटे परों की भुनभुनाहट सुननेका वहाँ अवसर नहीं है। संभवतः, क्योंकि मैं एक जंगली आदमी हूँ इसकी वजह से, आप के शहरी शोर को अपनी श्रवण-शक्ति का अपमान महसूस करता हूँ। और अगर आदमी जंगली पक्षियों के निर्बाध एवं मुक्त सुरीले स्वर न सुन सके या मेंढ़कों का निशा के अंधेरे में एक जलस्रोत पर परस्पर सरोदन न जान पाए तो उस के जीवन का क्या अर्थ शेष बचेगा? इण्डियन लाल आदमी वायु की कोमल ध्वनि, जिस में पाइन की सुवास घर कर चुकी हो, और वर्षा ने जिसे झाड़-पोंछकर स्वच्छ कर दिया है, से अत्यधिक मोहित है। वायु लाल आदमी के लिए अमूल्य है, क्योंकि प्राण-वायु वृक्ष, प्राणियों एवं मानव के लिए एक ही है। श्वेतांग मानव उस वायु को नहीं देख सकता है जिस के सहारे वह जीता है। वह उस मृत व्यक्ति की तरह है, जो कई दिनों से मरता जा रहा है और अब इस सुवास से पूर्ण रूप से अजाना हो चुका है।

"श्वेतांग मानव कौनसे सपने देखता है, ठण्डी की लम्बी रातों में वह अपने बच्चों को कौनसी प्रत्याशाओं का विवरण देता है, तथा आगे आनेवाले कल का वे यथायोग्य रूप निरख सकें इस आकांक्षा से उनके मन में वह कौनसे परिदृश्य भर देता है इसका अगर हमें पता लगता तो संभवतया हम कुछ समझने की उम्मीद कर सकते। लेकिन हम तो केवल जंगली ही तो हैं! श्वेतांग मानव के सपने हम से छिपे हुए हैं।

"और क्योंकि वे (सपने) हम से छिपे हुए हैं, हम अपनी राह पर ही चलते चलेंगे। अगर हम अपनी जमीन बेचने के लिए राजी भी हो गए तो वह इसलिए होंगे कि आप हमें हमारी धरती पर स्वाधिकार देने के लिए तैयार हैं तथा आप इसका अपना वादा देते हैं। वहाँ पर, सम्भवतया, हम अपने बचे हुए कुछ दिन जैसे चाहें वैसे गुजार सकेंगे। यही हमारी आशा है। और जब इस धरती से आखिरी लाल आदमी अस्तंगत हुआ हो, और जब उसकी स्मृति उस विराट घास के वितान पर एक उड़ता हुआ बादल का टुकडा मात्र रह जायेगी, ये सागर-तट और अरण्य मेरे मृत भाइयों की आत्माओं को सहेजे रहेंगे, क्योंकि वे धरती को उसी सघनता से प्यार करते हैं जैसे कि नवजात शिशु अपनी माँ की हृदय-गति को प्यार करता है। और अगर हम अपनी जमीन आपको बेच दें तो इसे आप ऐसे ही प्यार करना जैसे हम कर रहे हैं, इसको सहेज कर वैसे ही रखना जैसा हमने इसे रखा है, अपने मानस में उस अनछुई प्रकृति को, जिसे आप

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपनी महती शक्ति तथा पराक्रम से विजित करेंगे, स्मृति में धरोहर की तरह रखना, इस पर आप अपने हृदय का समूचा लाड उँडेल देना जैसा कभी हमने लुटाया था, अपने बच्चों के लिए इसकी सुरक्षा करना और इसे आप ऐसा प्यार दीजिएगा जैसा कि ईश्वर हम सभी को देता है। ईश्वर के लिए धरातल अमूल्य है। हम यह ठीक तरह से जानते हैं कि आप का ईश्वर वही है जो कि कि हमारा है। श्वेतांग मानव भी इस साधारण प्रारब्ध का अपवाद नहीं हो सकता। "

(अमरीकी संयुक्त राष्ट्र शासन द्वारा द्विशताब्दीय समारोह के अवसर पर प्रसारित पत्र)

दर्शन विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चंदीगढ़

अनुवाद
—धर्मेन्द्र गोयल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय साहित्यकार की समस्याएँ

आपने जिस बात के लिए मुझे यहाँ बुलाया है उसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। इसी की वजह से मुझे आपके सामने खडे होने का अवसर मिला। और यह मेरे लिए बहुत ही सन्तोष की बात है। मुझ को जो विषय दिया गया था आज के लिए वह है 'भारतीय साहित्यकार की समस्याएँ'। और अब मेरे परिचय में इसके पहिले जो कुछ कहा गया वह सुनते हुए मैं सोच रहा था कि क्या मैं यह कह सकता हूँ कि साहित्यकार की सबसे बडी तथा पहली समस्या यही है कि उसको लोगों के सामने आकर भाषण देना पडता है। आप लोग देखिए कि कितनी परिस्थितियों में और कौनसे काम बेचारे साहित्यकार को करने पडते हैं। बिना इच्छा या दरअसल स्वेच्छा रहते हुए। और एक भी समस्या मेरे ध्यान में थी। उसी से बात आरम्भ करना चाहता हूँ। यह बात अपनी ही है, और विशेषकर मेरे लिए। साहित्यकार की समस्याओं में सबसे बडी बात तो यही है कि उसको आज जैसे अवसरों का सामना करना पडता है। उसको लोगों के सामने आकर व्याख्यान देना पडता है, जो कि यह उसका काम नहीं है। और मेरे जैसे व्यक्ति को यह और भी बडा संकट हो जाता है, वह इसलिए कि इसी में से और समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। मैंने कहा कि यह हँसने की भी बात है, लेकिन केवल हँसी की भी बात नहीं है। उसकी ओर सङ्केत कर के बात आगे बढ़ाना चाहता हूँ। यह तो बात सही है कि अगर ऐसे अवसर को मैं संकट या समस्या मानता हूँ तो उन्हें इन्कार करूँ। लेकिन समस्या इसीलिए है कि इसके बारे में सोचना पडता है कि क्या साहित्यकार इसके बिना साहित्यकार नहीं रह सकता, और क्या ऐसे इन्कार कर देना उचित रहेगा। असल में और बुनियादी समस्या यही है। साहित्यकार जब समाज में बोलने के लिए आमन्त्रित होता है, आज की परिस्थिति में तो वह जाता है, इसलिए कि वह समझता है कि जिस तरह के परिवर्तनों के बीच हम गुजर रहे हैं उनमें सम्प्रेषण की समस्याएँ भी दिन--ब--दिन कठिन होती जा रहीं हैं। और बहुत से काम, जो कि इस जमाने में साहित्यकार की ओर से अध्यापक या व्याख्याता कर देता था, आज वह नहीं करता और लेखक को ही शायद यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपनी महती शक्ति तथा पराक्रम से विजित करेंगे, स्मृति में धरोहर की तरह रखना, इस पर आप अपने हृदय का समूचा लाड उँडेल देना जैसा कभी हमने लुटाया था, अपने बच्चों के लिए इसकी सुरक्षा करना और इसे आप ऐसा प्यार दीजिएगा जैसा कि ईश्वर हम सभी को देता है। ईश्वर के लिए धरातल अमूल्य है। हम यह ठीक तरह से जानते हैं कि आप का ईश्वर वही है जो कि कि हमारा है। श्वेतांग मानव भी इस साधारण प्रारब्ध का अपवाद नहीं हो सकता। "

(अमरीकी संयुक्त राष्ट्र शासन द्वारा द्विशताब्दीय समारोह के अवसर पर प्रसारित पत्र)

दर्शन विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चंदीगढ़

अनुवाद
–धर्मेन्द्र गोयल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय साहित्यकार की समस्याएँ

आपने जिस बात के लिए मुझे यहाँ बुलाया है उसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। इसी की वजह से मुझे आपके सामने खडे होने का अवसर मिला। और यह मेरे लिए बहुत ही सन्तोष की बात है। मुझ को जो विषय दिया गया था आज के लिए वह है 'भारतीय साहित्यकार की समस्याएँ'। और अब मेरे परिचय में इसके पहिले जो कुछ कहा गया वह सुनते हुए मैं सोच रहा था कि क्या मैं यह कह सकता हूँ कि साहित्यकार की सबसे बडी तथा पहली समस्या यही है कि उसको लोगों के सामने आकर भाषण देना पडता है। आप लोग देखिए कि कितनी परिस्थितियों में और कौनसे काम बेचारे साहित्यकार को करने पडते हैं। बिना इच्छा या दरअसल स्वेच्छा रहते हुए। और एक भी समस्या मेरे ध्यान में थी। उसी से बात आरम्भ करना चाहता हूँ। यह बात अपनी ही है, और विशेषकर मेरे लिए। साहित्यकार की समस्याओं में सबसे बडी बात तो यही है कि उसको आज जैसे अवसरों का सामना करना पडता है। उसको लोगों के सामने आकर व्याख्यान देना पडता है, जो कि यह उसका काम नहीं है। और मेरे जैसे व्यक्ति को यह और भी बडा संकट हो जाता है, वह इसलिए कि इसी में से और समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। मैंने कहा कि यह हँसने की भी बात है, लेकिन केवल हँसी की भी बात नहीं है। उसकी ओर सङ्केत कर के बात आगे बढ़ाना चाहता हूँ। यह तो बात सही है कि अगर ऐसे अवसर को मैं संकट या समस्या मानता हूँ तो उन्हें इन्कार करूँ। लेकिन समस्या इसीलिए है कि इसके बारे में सोचना पडता है कि क्या साहित्यकार इसके बिना साहित्यकार नहीं रह सकता, और क्या ऐसे इन्कार कर देना उचित रहेगा। असल में और बुनियादी समस्या यही है। साहित्यकार जब समाज में बोलने के लिए आमन्त्रित होता है, आज की परिस्थिति में तो वह जाता है, इसलिए कि वह समझता है कि जिस तरह के परिवर्तनों के बीच हम गुजर रहे हैं उनमें सम्प्रेषण की समस्याएँ भी दिन--ब--दिन कठिन होती जा रहीं हैं। और बहुत से काम, जो कि इत जमाने में साहित्यकार की ओर से अध्यापक या व्याख्याता कर देता था, आज यह नहीं करता और लेखक को ही शायद यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काम करना पडता है । आज हम अपना समाज बनाने के लिए पहले की अपेक्षा कहीं और ज़ादा मज़बूर हैं । और यह समस्या यहीं समाप्त नहीं हो जाती । एक तरफ हम अपनी बात छोडकर समाज में आते हैं, यह समाझाने के लिए, कि किन परिस्थितियों में हम लिख रहे हैं और किन कारणों से उस लेखन का रूप बदल रहा है । लेकिन उसके साथ यह भी है कि जब हम इस तरह से लोगों के सामने प्रस्तुत हो जाते हैं तो कहा जाता है कि ये अपनी ही बात का प्रचार करते जाते हैं । पुराना मन्तव्य तो यह था : वादे वादे जायते तत्त्वबोधः । आज साहित्यकार जब पाता है कि जैसा मेरा समाज, मेरी Society होनी चाहिए वैसी वह नहीं है, और जब वह यह चाहता है कि उसके संस्कार ऐसे हों कि दोनों के बीच संवाद बना रहे तो कहा जाता है कि यह तो अपनी ही बात का प्रचार कर रहा है । मैंने जब से लिखना शुरू किया है तब से मैं कवि के रूप में कम और वादी के रूप में अधिक प्रस्तुत किया गया हूँ, विशेष रूपसे अध्यापक वर्ग के द्वारा । तो यह साहित्यकार की एक बुनियादी समस्या है । और इसी चर्चा के विस्तार में सबसे पहले थोडा समय चाहता हूँ क्योंकि बिना इस की चर्चा किए हुए साहित्यकार की समस्याएँ वास्तव रूप पे प्रस्तुत नहीं की जा सकतीं ।

मैंने समाज की बात कही । और साथ-साथ इसी से संबंधित एक बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट किया । समाज की बात जब हम करते हैं तो अंग्रेजी में उसका एक पर्याय Society होता है यह एक सवाल है । दूसरा सवाल यह कि समाज का जब हम, उसके काव्य या कविता के संबंध में विचार करते हैं, तो साहित्यकार से अलग नहीं लेकिन उसके भीतर ही संस्कारवान् समाज हमारे सामने प्रस्तुत होता है । एक जमाना था जब कि कवि यह कह सकता था कि 'अरसिकेषु कवित्व निवेदनं मा लिख' । आज हर कवि जानता हैं कि उस को अगर कवित्व निवेदन करना है तो शायद अरसिक से ही करना है । या कम-से-कम इतना तो सही कि उसको उससे निवेदन करना है कि जिस को जानकारी नहीं हैं या न हो सकती है । पुरानी परिस्थिति में एक प्रत्यक्ष समाज में यथासंभव निवेदन तथा सम्प्रेषण, ग्रहण एवं आस्वादन होता था । उस परिस्थिति में तुरन्त यह भी पता लग जाता था कि मेरी बात जहाँ और जैसी पहुँचनी चाहिए वैसी वह पहुँच रही है या नहीं । समाजशास्त्रीय भाषा में जिस को Feed-back कहते हैं वह तुरन्त होता था, हुआ करता था और कविता सुनाने सुनाते, एक दूसरे अर्थ में कविता रचते-रचते, कवि उस को उसी समय बदल कर समाज के सामने प्रस्तुत कर सकता था । आज सब से बडा परिवर्तन यही हुआ है कि काव्य, जिसे वास्तव में श्रव्य ही मानना चाहिए, आज श्रव्य नहीं रहा है । हम किताब में से कविता का ग्रहण करते हैं । जब तक काव्य श्रव्य है तब तक वह सामाजिक परिस्थिति में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कई लोगों के बीच बैठ कर सुनकर ग्रहण किया जाता है। आज हम काव्य न सुनकर ग्रहण करते हैं, न समाज के बीच में बैठ कर। आज अकेले बैठ कर कविता पढ़ी जाती है। और बहुत से लोग ऐसी ही कविताऐं पढ़ते हैं जो अकेले ही पढ़ी जा सकती हैं। उस परिस्थिति में कवि, या तो उसको सिर्फ वाचक कह सकते हैं, प्रत्यक्ष होता था। आज एक अनुपस्थित कवि अप्रत्यक्ष समाज के लिए कविता प्रस्तुत करता है। परिणामतः श्रोता याने कविता ग्रहण करनेवाले पक्ष के पास नहीं जाती; वह किताब में जाती है। पाण्डुलिपि में जाती है, या उसकी छपाई होती है, किताब में रखी रहती है कि जिसके बारे में कोई भरोसा नहीं है कि उसको कोई पढेगा या कि नही पढेगा, या तो सरकारी थोक खरीद के प्रस्ताव के अन्तर्गत खरीद कर वह पुस्तकालयों में रखी जाएगी। वहाँ भी उसको कोई पढेगा या नहीं इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है, जानकारी का कोई सहारा नहीं है, सिवाय अपने अनुमान के। तो इस प्रकार कविता और उसके समाज में एक दूरी आ गई है। कवि अपने समाज से दूर गया है। मैं यह जानता हूं कि इस बात को बडी आसानी से विकृत कर के प्रस्तुत किया जा सकता है। लेकिन 'अज्ञेय' 'अज्ञेय' हो हैं, तो भी उसका कहना है कि दुर्दैववशात् आज कविता का समाज से कोई संबंध नहीं नहीं है। मैं केवल कुछ संकटों, समस्याओं की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, जो कि परिस्थिति के कारण पैदा हुई हैं। मैं चाहता हूँ कि आप उन्हें पहचाने। लेकिन अगर रोज की पहचान और रोज का प्रचार इन में कोई अंतर आप महसूस करते हैं तो आप को समझना चाहिए कि जब मैं यह कहता हूँ कि परिस्थिति में परिवर्तन हुआ तो उसका यह अर्थ नहीं है कि मैं उसका समर्थन करता हूँ। वैसे यह साधारणसी बात होनी चाहिए। लेकिन जैसे मैंने पहले कहा जब से लिखना शुरू किया है तब से वादी के रूप में अधिकांश प्रस्तुत किया जाता आ रहा हूँ, और आपको इस बात के बारे में सतर्क करना उचित समझता हूँ। क्यों कि बडी आसानी से मेरी बात को विपरीत रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, और वैसे किया गया भी है। यह परिवर्तन इतना महत्वपूर्ण है कि इस को हमें समझ लेना चाहिए, और कई दृष्टियों से देख कर समझ लेना चाहिए। यहाँ यह भी देखना चाहिए, कि अगर वास्तव में इस से कविता के स्वभाव में कोई परिवर्तन आता है तो यह समझना चाहिए कि संसार के दूसरे देशों में भी ऐसा हुआ है कि कविता वाचिक स्थिति से किताब में छपी जाने की स्थिति में गयी है, कविता श्रव्य रहने के बजाय वाचिक हो गयी। लेकिन क्या वहाँ भी ऐसा ही हुआ? मेरी दीक्षा और शिक्षा विज्ञान की रही है और इसलिए मैं इस तरह का Verification उपयोगी समझता हूँ, आवश्यक भी समझता हूँ। और मैं चाहता हूँ कि आप संसार के दूसरे देशों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में जब जहाँ यह परिवर्तन आया तब यह देखें कि उस समय इस कारण के परिणामस्वरूप वहाँ के काव्य में क्या परिवर्तन आया। और आप पाएँगे कि संसार के सब देशों में, जब कविता वाचिक स्थिति से इस पुस्तकी स्थिति में गयी, तब उसी तरह के परिवर्तन हुए जैसे कि यहाँ हुए। तो यह तय हो जाता है कि एक ओर सर्वत्र यही हुआ और इसका कोई अपवाद आपको नहीं मिलना तो हमें मानना चाहिए कि कहीं न कहीं कार्य और कारण का संबन्ध है। और उसकी ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। इसकी ओर ध्यान देना या यह बताना कि पश्चिम में भी इस तरह के परिवर्तन हुए या कविता में इस तरह के परिवर्तन आ गये तो यह पश्चिम का आयात करना नहीं है। इस परिस्थिति को पहचानने की ओर ध्यान देना यह मात्र इसका उद्देश्य है। यह उन लक्षणों की ओर सङ्केत करना है जिनकी परख आप दूसरे देशों तथा दूसरे क्षेत्रों में जाकर कर सकते हैं। इन परिवर्तनों को कुछ गहराई से समझने की जरूरत है। क्यों कि उसके बिना आज जो कविता के बारे में हो रहा है, हिन्दी में, भारत में, या कि संसार में, उसको ठीक तरह से आप नहीं समझ सकते। जब यह परिस्थिति आती है कि कवि प्रत्यक्ष नहीं है और कविता पुस्तक में जीती है, जीती रह सकती है, बिना पढे भी रह सकती है, तब और भी बहुत से सवाल उठ सकते हैं। तो ऐसी परिस्थिति में कविता का आस्वादन करते समय कोई यह नहीं पूछता, इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझता कि यह कविता किसकी है? यही जानना चाहता है कि आस्वाद्य है या नहीं, मुझ को उससे रस मिल रहा है कि नहीं। फिर यह गौण बात हो जाती है कि यह किसकी कविता है। इसको दूसरे शब्दों में, थोडा कठिन एवं विवादास्पद बना के कहूँ, कि उस परिस्थिति में यह होता है कि आप कविता में कवि के व्यक्तित्व की कोई छाप नहीं चाहते। मानों जैसे आपके लिए ही सबकुछ बात बनायी है। कवित्व आपके सामने प्रत्यक्ष है, कविता में आप कुछ दूसरी चीज चाहते हैं। ऐसी कविता में, वाचिक परिस्थिति में, जो कि वास्तव में श्रव्य काव्य होता है, हमेशा रीत प्रधान होती है और कवि का व्यक्तित्व गौण हो जाता है, इतना गौण कि उसको आप एक दोष मान सकते हैं। अगर कविता में कवि का व्यक्तित्व झलकता है तो उसको दोष माना जाता है। क्यों कि उसको पहले इतना संस्कारवान् होना चाहिए कि वह ऐसी ही कविता की रचना करे और अपने आपको उसके बाहर रखें। लेकिन परिस्थिति में आया हुआ जो परिवर्तन मैंने बताया वह आते ही ठीक इसके उलटी बात आवश्यक हो जाती है। हम चाहते हैं कि कविता में कवि का व्यक्तित्व झलके। न कि केवल ऐसा हो यह हम चाहते हैं बल्कि पाठक या सामाजिक प्रेरणा के नाते माँग करते हैं कि कवि का व्यक्तित्व उसकी कविता में प्रकट हुआ होना चाहिए। आज सभी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लोग मानेंगे और कहेंगे कि अगर कविता में कवि का व्यक्तित्व प्रस्तुत नहीं है, मुखर नहीं हुआ है, तो वह कविता किस काम की। अगर दो कविताएँ लेकर हम कह सकते हैं कि दोनों अच्छी हैं, लेकिन जो 'क' की लिखी हुई है वह 'ख' की लिखी हुई भी हो सकती थी, या जो 'ख' ने लिखी है वह 'क' ने लिखी हुई भी हो सकती थी तो हम कविता की बुराई की ओर निर्देश कर रहे हैं, उसकी प्रशंसा नहीं कर रहे हैं, जो कि पुराने जमाने में यह प्रशंसा की बात होती थी।

इसी बात को थोड़ा और विस्तार से देखिए। न केवल कविता में कवि का व्यक्तित्व झलकने लगता है लेकिन उसकी माँग होती है। बल्कि ऐसी परिस्थिति में कविता एक चीज हो जाती है, किसी न किसी व्यक्ति की सम्पत्ति। किसी के व्यक्तित्व को इस रूप में भी प्रस्तुत कर सकते हैं। केवल कविता है तो किसी की है। पुराने जमाने में सुभाषितों के संग्रह में जो भी अच्छी कविता संग्रह करके रखी जाती थी, सुयोग की बात थी कि कवि का नाम मालूम हो। नहीं तो 'कस्यचित् कवेः' कहकर समझते थे कि हमने अच्छी चीज आपके सामने रखी है, अब वह किसकी है उससे क्या मतलब है? कोई महत्व की बात नहीं है। लेकिन आज सबसे पहले यह सवाल उठता है कि वह किसकी है? अगर नहीं है तो दो बार सोचना पड़ता है कि यह अज्ञातनाम व्यक्ति की रचना हम संग्रह में रखें या न रखें। उसमें कवित्व है या नहीं यह बात पूछना हम भूल जाते हैं, वह किस कवि की है यह बात महत्व की हो जाती है। ये सब इस परिवर्तित परिस्थिति के परिणाम हैं। किसी काव्य के किसी वादी ने इन्हें नहीं बनाये हैं। ऐसी परिस्थिति में ऐसा होगा ही अगर परिस्थिति न बदले। एक और बात में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन होता है। अभी इस देश को मैं कुछ भाग्यवान् इसलिए मानता हूँ कि यह अभी भी पूरी तरह Modern नहीं है। इस Pre-modern परिस्थिति में जहाँ बहुत सारी समस्याएँ हमारे सामने हैं वहाँ एक अच्छी बात यह भी है कि इस वाचिक परिस्थिति के अवशेष हमारे लिए अभी भी बचे हुए हैं। उसका एक कारण अगर यहाँ साक्षरता की इतनी कमी है तो आप कृपा करके यह न समझिए कि मैं निरक्षता का समर्थन कर रहा हूँ। लेकिन उससे कुछ पहचानने के लिए एक Feel मिलता है यही बात मैं कहना चाहता हूँ। आज की परिस्थिति में, इसके बावजूद कि हम यह मानते हैं कि कविता अब पुस्तक में आ गयी है और अकेले बैठकर पुस्तक से ग्रहण की जाती है, कभी कवि-सम्मेलन होते हैं, मुशायरे होते हैं। आपने कभी अगर लक्ष्य किया हो तो यह बात आप के ध्यान में आयी होगी कि लगभग अनिवार्य रूपसे जब कवि या मुशायरँ अपनी रचना प्रस्तुत करता है तो अन्तिम छन्द

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के पहले आपको बताता है कि अब अन्तिम छन्द प्रस्तुत किया जा रहा है। लेकिन वह ऐसा क्यों बताता है ? क्या आप इतने अनपढ हैं कि उसकी पूरी कविता सुनकर उसकी समाप्ति होने के बाद भी आप को बताना पडता है कि अब कविता समाप्त हो गई ? एक कारण है इस प्रकार के सङ्केत का। सोचना चाहिए कि क्यों ऐसा किया जाता है ? क्यों कि वह कारण बहुत ही महत्व का है। आप कविता जब सुनते चलते हैं तो आस्वादन की एक सतत प्रक्रिया में से गुज़र रहे हुए होते हैं। आप के सामने कविता का एक पूरा आकार तब तक नहीं होता जब तक Performance या आस्वादन पूरा नहीं हो जाता। कहाँ पर पहुँचकर आप यह सोचने लगे कि जो मैं इस आस्वादनरूपी अनुभव में से गुज़र रहा हूँ कहाँ आकर यह अपने आप में पूरा हो जाएगा, कहाँ मानना होगा कि कविता पूरी हो गई, यह मेरी ग्रहण की जो प्रक्रिया थी वह कहाँ आकर पूरी हो गई। अगर कविता पूरी हो जाने के बाद, थोड़ी देर सोचने के बाद, आपको पता लगे कि कविता समाप्त हो गई तब आपको दूर तक वापस लौटकर सोचना पडेगा कि यह जो पूरा अनुभव था इस की संरचना क्या है ? क्यों कि यह जानने का पहले मे कोई उपाय नहीं होता। इसलिए कविता पूरी होने से थोडे पहले कवि आपको बता देता है कि अब आपको जो अनुभव अभी तक हो रहा है, और जो थोडी ही देर में पूरा हो जाएगा, उसको एक समग्र रूप देने का काम आप अपने भीतर आरम्भ करें। तो इससे मैं एक बात पर पहुँचना चाहता हूँ कि वाचिक परम्परा की कविता में संरचना या Structure का कोई महत्व नहीं होता, संसार में कभी नहीं हुआ। जैसे ही हम वहाँ से हट कर उस परिस्थिति में आते हैं जहाँ आज कविता किताब में चली गई है, हम संरचना का विचार करने लगते हैं। क्योंकि वहाँ इसका अर्थ है, अर्थ है इतना ही नहीं बल्कि अनिवार्यतया ऐसा होता है, कि कविता को पढने से पहले ही उसको एक पृष्ठ पर छपा हुआ देख कर उसके बारे में हम सोचें। उसके छन्द के बारे में, लय के बारे में, उसकी पंक्तियों के बारे में--उनकी लम्बाई या छोटाई के बारे में--और किस स्थिति में वह अनुभव पूरा हो जाएगा इसके बारे में अनुमान हो जाता है। हम चाहें या न चाहें, कविता को देखकर इतना हम जान लेते हैं कि यह इतनी देर का अनुभव होनेवाला है। तो इस रूप में काव्य की क्रियाशीलता कविता में जो होने लगती है, जो गेय ढंग की नहीं रहती है, संरचना के बारे में इतनी चिन्ता और एक यह नये प्रकार का अनुभव कविता की इस नई परिस्थिति से पूरा हो जाता है।

मैंने जो कहा कि मैं साहित्यकार की समस्याओं की बात कर रहा हूँ उसके दौरान उसके, कविता के; विकास की प्रक्रिया को आप के सामने रखा वह इसलिए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि आप उसे समझें और सहानुभूति के साथ समझें। साहित्यकार की और विशेष रूप से कवि की आज एक समस्या यह है कि बदलते हुए समाज में वह समाज के साथ बदला है और निरन्तर उसका जो प्राथमिक कर्तव्य है, दूसरे तक पहुंचना, उसके लिए निरन्तर नई परिस्थिति में वह अच्छे से अच्छे उपाय खोजता रहा है। तो कविता का जो रूपान्तर हुआ और हो रहा है उसका एक कारण कविता में ही था, उस समाज में ही था, जिससे कवि अपना पहला कर्तव्य संबंधित कर रहा था। इसका मतलब यह नहीं कि समाज में केवल इतने ही परिवर्तन हुए। अगर समाज से हम Society की बात सोच रहे हैं तो यह समझना चाहिए कि उसमें बहुत से परिवर्तन हुए और उन्हें मैं छोटे कर के प्रस्तुत नहीं कर रहा हूँ या उन्हें उपेक्षित नहीं कर रहा हूँ। लेकिन इतनी बात तो सही है कि ऐसे परिवर्तन का संबन्ध साहित्य से, उसके आस्वादन से, भी था। दूसरे किसी कारण से यह नहीं था। यह एक आत्यन्तिक बात है कि जिस प्रकार का परिवर्तन आया वह कैसे और क्यों आया इस की ओर ध्यान देना जरूरी है ऐसा मैं समझता हूँ। मैंने कहा कि पहले यह जो काम था, इस तरह के परिवर्तनों के पश्चात् और उनके अनुरूप समाज को संस्कार देते चलना, वह दूसरे लोग भी करते रहे हैं। शायद यह भी हो सकता है कि विदेशी शिक्षा का भी एक परिणाम यह हो, और इसी दूसरी समस्या की ओर मैं आप का ध्यान दिलाना चाहता हूँ वह इस बात से जुडी हुई है कि हमारी शिक्षा का ढाँचा विदेशी है। जिस परिस्थिति में यह आवश्यक हो गया कि बिना किसी व्याख्याता या टीकाकार के वाचक या पाठक सहज ही अपना व्याख्याता, या टीकाकार न हो जाए यह कोई अच्छी स्थिति नहीं है। लेकिन इस प्रकार के परिवर्तन हुए और इस प्रकार से जो एक त्रुटी पैदा हुई उस परिस्थिति में यह काम कवि को करना पड़ा, इसलिए कि आप यह न समझें कि कवि अपनी दृष्टि का वादी होकर आ रहा है। वह केवल इतना कह रहा है कि जो परिस्थिति बदल गई है, जिस में आप और मैं दोनों पक्ष बदले हैं, उसमें अगर कविता होनी हो तो वह किस प्रकार की होगी तथा उसकी आवश्यकता किस प्रकार की होगी इसे आप पहचानें। एक ओर कवि को अपनी सामाजिकता की ओर पहुँचना ही है और इसीलिए तो वह कविता करता है। और ऐसे पहुँचना नई परिस्थिति में कैसा संभव होगा इसकी पहचान उसे हो रही है और वह यह चाहता है कि वह पहचान आपको भी हो। मैंने विदेशी शिक्षा से पैदा होनेवाली समस्याओं की ओर इशारा किया। एक बदली हुई परिस्थिति की बात मैंने कही। हमारे अध्यापक वर्ग में ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि इन परिवर्तनों को विदेशी कहकर स्वीकार कर लें। और कथित या अकथित रूप से मानते चलें कि हमारे यहां ऐसे परिवर्तन नहीं हो सकते हैं। क्यों नहीं हो सकते हैं? यदि हमारे यहाँ छपाई आयी, पुस्तकें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशित रूप से हमारे सामने प्रस्तुत हो रहीं हैं, तो इसका एक तो कोई जवाब नहीं होता या जवाब होता है तो यह कि हमारी ऐसी परम्परा नहीं है। याने एक स्तर पर आकर आँख मिचकर सोचना बन्द कर देने का यह प्रस्ताव है। और अगर कोई कहता है कि जो बात आप को वहाँ दिखाई देती है वह यहाँ भी देखी जानी चाहिए तो ऐसे व्क्ति पर विदेशी चिन्तन का आरोप लगाया जाता है। यह ठीक नहीं है। इस तरह का आरोप नहीं लगाया जा सकता। सच यह है कि जो आपको इतनी दूरी पर से दीख रहा है वह आपको इतनी कम दूरी पर से अपने समाज के बारे में नहीं दीख सकता? लेकिन स्थिति यही है। उसका सचमुच रूप यही है कि जो साहित्य साहित्यकार आज भारतीय भाषाओं में लिखते हैं, अंग्रेजी भी उनमें एक है और उसे अलग करना ठीक नहीं है, तो भी उसके बारे में हम अभी विचार नहीं करेंगे, उसके बारे में अंग्रेज़ी शिक्षा के आधार पर एक ऐसा पूर्वग्रह बन गया है कि अगर भारतीय भाषा में किसी ने लिखा हैं तो जरूर दूसरे दर्जे का वह साहित्य होना चाहिए। क्योंकि अच्छा होता तो अंग्रेजी में लिखता। और ऐसा अगर नहीं है,मान लिजिए कि ऐसा कोई दुराग्रही है जो भारतीय भाषाओं में लिखता है, तो वह अगर अच्छा होता तो उसका कम-से-कम अंग्रेज़ी में अनुवाद होता, अंग्रेजी जाननेवाले उसको अच्छा कहते। और अगर वह भी नहीं हुआ तो कम से कम इतना तो होना चाहिए कि अंग्रेज़ी शास्त्र की कसौटी पर, जो कि शास्त्र हम ने एक बार पढा है, यह परखा जा सके। अब आप सोचिए कि इसका परिणाम क्या है? आप चाहते हैं कि आपका साहित्यकार मौलिक हो, आप चाहते हैं कि आपका साहित्यकार भारतीय हो। लेकिन इन दोनों की आपके पास कोई पहचान नहीं है, शिवाय उसके कि जो पहचान आप कहीं से आयात करते हैं। अगर अंग्रेजी में कोई चीज अच्छी लगती है तो वह अच्छी भारतीय चीज है। अगर किसी चीज़ को अंग्रेज़ी आलोचक अपने मानदण्ड पर परख कर अच्छा कहता है तो हम उसको अच्छा मान लेते हैं। नहीं तो नहीं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि शायद संसार के इतिहास में इतनी बिकट और प्रतिकूल परिस्थिति में कवि कभी कवि नहीं था जितना आज का भारतीय कवि है। तो आपके पास उसकी कविता को परखने की, या कि अपने स्वयं के अनुभव के पहचान की, ऐसी कोई कसौटी नहीं है जिसके आधार पर आप उसे भारतीय जीवन के साथ जोड सकें। सिर्फ कवि को ही आप ऐसी दृष्टि से परखते हैं ऐसा नहीं है। आपको कविता अच्छी लगती है तो आपको अपने अनुभव पर भी भरोसा नहीं होता जब तक आपको उसपर कहीं के बाहर के अनुभव की छाप नहीं दिखायी देती। हम यह नहीं कहते कि यह कविता हमारे मानदण्ड के अनुसार अच्छी है। अगर ऐसा होता तो अच्छा होता। लेकिन जहाँ तक ऐसी स्थिति नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है वहाँ तक आपके विचार का ढाँचा वैज्ञानिक नहीं है। लेकिन वास्तविक स्थिति तो यह है कि हम लगातार अपने लेखकों से कुछ चीज़ों की माँग करते हैं जिन की पहचान का हमारे पास अपना कोई साधन नहीं है। और लगातार हम कवि को ही दोषी ठहराते जा रहे हैं, विदेश से कुछ आयात करने के आधार पर। लेकिन यह भी कहने का हमारे पास जो आधार है वह भी विदेशी ही है। हम एक विदेशी आलोचना के ढंग के आधार पर स्वदेशी कवि को विदेशी ठहराते हैं। यह कितनी बडी विटंबना है ? इसकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। लेकिन एक बात कहकर इस विषय को छोड देता हूँ। यह बात कहाँ तक आगे जाती है इसका एक उदाहरण मैं आपको देता हूँ। हमारा देश आजादी के संग्राम में से गुजर रहा था। वह संग्राम या संघर्ष और भी भयानक हो सकता था; हमारे सौभाग्य से उतना नहीं हुआ। लेकिन जो भी हो, यहाँ पर कई वर्षों तक, दशकों तक आज़ादी का संग्राम हुआ और साहित्यकारों ने उस में योग दिया। देश की, मातृ-भूमि की, एक संकल्पना और उसके प्रति एक मनोभाव पहले से ही था। पुराणों के समय भी यह कहा जा सकता है कि यह भारतभूमि की संकल्पना को लेकर विभिन्न विमर्श हमारे सामने प्रस्तुत हुआ करते थे। लेकिन उससे अलग एक सजगता, राष्ट्रप्रेम इस संघर्ष के दौरान प्रकट हुआ हमारी कविताओं के माध्यम से। लेकिन हमारे अध्यापक, शास्त्रज्ञ, वडे बडे विद्वान् किसी को यह नहीं सूझता कि यहाँ पर राष्ट्रीय संघर्ष के जमाने में अगर राष्ट्रप्रेम की कविता प्रकट हुई तो उसका शायद उनकी अपनी परिस्थिति से भी संबंध था। उससे वे सीधा सीधा ऐसा समीकरण करते हैं कि कविता में अगर राष्ट्रप्रेम अभिव्यक्त हुआ हो तो वह पाश्चात्य विचारों के परिणाम स्वरूप ही होना चाहिए जैसे Romantic साहित्य का परिणाम। बस बात खतम। और अगर Romantic प्रवृत्ति दिखाई देती हो किसी भारतीय साहित्यकार में तो कोई न कोई विदेशी Romantic साहित्यकार होना चाहिए जिसको श्रेय दिया जा सके। यहाँ पर डॉ. माखनलाल चतुर्वेदी या बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' राष्ट्रप्रेम की कविताऐं करते हैं और इसलिए उन्हें Romantic कहा जा सकता है। लेकिन लोग इसकी पर्वाह नहीं करते कि राष्ट्र-प्रेम के नाते कवि यहाँ लडे हैं। अगर ऐसा किसी कवि के बारे में हुआ हो तो उसकी उपेक्षा हमारा पण्डित कर जाता हैं। वह इस प्रकार की कविता Romantic है इतना ही नहीं कहता बल्कि यह भी कहता है कि इसके पीछे Walter Scott की प्रेरणा होनी चाहिए। क्योंकि उनकी एक कविता यहाँ अंग्रेजी के पाठ्यक्रम में पढायी जाती थी। तो ये जो सारे चिन्तन के विविध पहलू हैं इसका कारण यह है कि हम अपने स्वयं के अनुभव को या कवि के अनुभव को इतनी आसानी से अनदेखा करते हैं, हरेक चीज की तरह, कि हम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसा सहजता से मान लेते है कि कविता में अभिव्यक्त अनुभव के पीछे जरूर कोई न कोई पश्चिमी अनुभव का आधार होना चाहिए। इससे बडा अन्याय और कोई नहीं हो सकता, लेकिन इसी प्रकार के अन्याय के शिकार हमारे साहित्यकारों को बनना पडा है। मैंने कई भारतीय भाषाओं के इतिहास देखे हैं और सब में परिणाम निकालने का ढंग इसी प्रकार का दिखायी देता है। कोई ऐसा नहीं कहता कि कवि की परिस्थिति में यह वात थी, उसको इसका प्रत्यक्ष अनुभव था और वहाँ से यह चीज निकली है। यह भी हो सकता है कि उस कवि ने Romantic काव्य भी पढ़ा हो। हम को कविताएँ पढाई गयीं उनमें अधिकांश Romantic कवियों की ही रचनाएं थीं। यह भी हो सकता है कि उसका भी प्रभाव हो। यह नहीं कि अगर ऐसा प्रभाव रहा हो तो उसे अनदेखी चीज समझना चाहिए। लेकिन सीधे सीधे जो यहाँ की परिस्थितियों से आ रहा था उसको अनदेखा आप कृपया न कर जायें। यह तो बहुत बड़ा अन्याय है जो कि आज हो रहा है। अपना भी एक अनुभव इस संदर्भ में आपके सामने रखूं। मेरे परिचय में यह बताया जा चुका है कि मैं क्रांन्तिकारी दल का सदस्य था। और कुछ दिनों तक जेल में रहा। जब पकडा गया था तब यह संभावना थी कि फाँसी की सजा मुझको दी जा सके। नहीं हो गयी; कुछ लोग शायद सोचते हों कि हो गयी होती तो ठीक होता। लेकिन नहीं हुई; आज तथ्य की बात यह है कि नहीं हुई। लेकिन हो सकती है इसके कारण मृत्यु की एक आसन्न अवस्थिति का बोझ मुझ पर था। आज की भाषा में कहना चाहें तो यह नहीं कहा जा सकता कि मृत्यु का साक्षात्कार मुझ को नहीं हुआ था। और जब हुआ था तब उसके बारे में लिखने का कुछ प्रयत्न मैंने किया। कुछ चीजें प्रकाश में आयीं; कुछ नहीं भी आयी। एक नाटक भी लिखना जेल में मैंने आरम्भ किया था जो पूरा नहीं हुआ, जिस का विषय यही था। और जो कालान्तर में दो–तीन रूपान्तरों के बाद अपने अभ्यास दलीलों के साथ प्रकट हुआ। जब यह लिखा गया तव सन १९३१ का अन्त और १९३२ का प्रारंभ का समय था और तब की यह बात है। तो आलोचकों ने किसी ने यह प्रश्न नहीं उठाया अगर सचमुच मेरे जीवन में ऐसी परिस्थिति आयी थी, एक बावजूत के अलावा भी, तो क्या ऐसा भी हो सकता है कि तब मेरे सामने यह प्रश्न हो कि अस्तित्ववादियों की भाषा में जिसे चरम परिस्थिति को जानना कहा जा सकता है? ऐसा कुछ अनुभव मुझको हुआ था जिसके कारण मैंने कुछ लिखना चाहा हो? यह तो हो सकता है कि बाद में अस्तित्ववाद की पुस्तकें मैंने पढीं हो। उनका भी प्रभाव मुझपर पडा हो। लेकिन यह तो आपके सामने रखा है कि उस समय मेरे सामने ऐसी परिस्थिति थी। तो यह किसी ने प्रश्न नहीं उठाया कि क्या वहाँ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से भी इस तरह के प्रश्न मेरे सामने आ सकते थे, कि ऐसी परिस्थिति में मानवीय अस्तित्व को सार्थक करनेवाली क्या चीज हो सकती है ? अगर शायद इस प्रकार का प्रश्न उस परिस्थिति में उठाया गया होता तो पश्चिम में भी इस प्रकार का सवाल जिन प्रकार की परिस्थितियों में और जिन कारणों से उठाया गया उन्हें हम अधिक अच्छी तरह से समझ सकते। लेकिन यह किसीने नहीं किया। फलस्वरूप किसीने नही कहा, कि आज इतना जादा अभ्यस्त हो गया है हमारा मानस और हमारा आलोचना का ढंग, कि क्यों जब कुछ भी नया होता है तो उसकी जड हम को विदेश में मिलनी चाहिए। और अगर उसकी जड हम को विदेश में कहाँ नहीं मिलती है तो उस पौधे को यहाँ बढ़ने का अधिकार नहीं है। और अगर वह पौधा यहाँ की ही जमीन से निकला हुआ हो तो हम यह नहीं पहचानते कि यह क्या चीज है, जिस की हमको जड वहाँ नहीं मिली। यह हमारी आज का आलोचना की परिस्थिति हो गयी है जिस में आज का साहित्यकार गुजर रहा है। अब मैं चाहता हूँ कि आप इस बात पर विचार करें। जो कि इसी परिस्थिति में साहित्यकार बार बार अपने समाज के सामने आया है जिस में कि उसको वादी माना गया है। वह किसका, किस पक्ष का, वादी है उसको जो भी नाम आप चाहें दें। वह दूसरी बात है। लेकिन यह पहचानना जरूरी है कि साहित्यकार यह मानता है कि उसे दूसरे तक पहुँचना है। और दूसरों तक पहुँचने के संभाव्य, उपलब्ध साधन या उपकरण लगातार बदल रहे हैं, जो कि दूसरा पक्ष भी बदल रहा है, और यान्त्रिक परिस्थितियाँ भी बदल रहीं हैं अवश्य। लेकिन उनके साथ जो यान्त्रिक सभ्यता या यान्त्रिक चिन्तन का एक ढाँचा भी आता है उसको पश्चिम से आया हुआ ही नहीं मान लेना चाहिए, जिधर से यन्त्र निकलता है। वैसे यन्त्र अगर यहाँ बनते तो उनमें से वही चीजें निकलतीं जो कि मनुष्य की या चिन्तनशील प्राणि की उपेक्षा करनेवाला एक ढंग है। उसके अपने नियम हैं; चाहे वह यन्त्र कहीं भी बना हो, वे नियम वही के वही रहते हैं। वे चाहे पश्चिम से आये हों या पूर्व से आये हों। तो यन्त्र के विकास से और बडे यन्त्र के समक्ष मनुष्य के लगातार छोटे हो जाने से जो परिणाम निकले हैं वे भी आयात नहीं हैं। अगर ये हमारे बीच हैं तो वे हमारा सीधा सीधा आविष्कार बनते हैं। हम जिस यन्त्र के सामने स्वयं को छोटा पाते हैं उसके पीछे की विद्या भले ही पश्चिम से आयी हो और भले भी वह यन्त्र पश्चिम से आया हो। लेकिन हमारी जो समस्या पैदा होती है वह उसको इस देश में अपने सामने सार्थक होती है। भारतीय साधारण व्यक्ति यहाँ के बडे उद्योगों के सामने अपने को छोटा पाता है तो यह विदेश से आयात हुआ विचार नहीं है। यह एक प्रत्यक्ष परिस्थिति का अनुभव है। यह बात

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी हमें पहचाननी चाहिए । इस प्रकार का अनुभव समाजशास्त्री के लिए, पैसेवाले के लिए, इन्जिनियर के लिए या सामान्य मजदूर के लिए भी हो सकता है। लेकिन अनुभव के स्तर पर यन्त्र से होनेवाला सम्बन्ध एक बिलकुल दूसरे प्रकार का है, जो कि हमारे प्रत्यक्ष जीवन का अङ्ग है । लेकिन साहित्य की दृष्टि से तब उस सरोकार का आरम्भ होता है जब कि हमारे जीवन का अङ्ग बन कर वह आता है । साहित्य लिखनेवाला, यह भी हो सकता है, समाजशास्त्री भी हो, इन्जिनियर भी हो, मजदूर भी हो, लेकिन यह आवश्यक नहीं है । लेकिन साहित्य में जब ऐसी चीजें अपना प्रभाव डालने लगती हैं और उस बुनियादी विषय को बदलती हैं जो कि कवि और सामाजिक परिस्थिति के बीज हैं वहाँ से उनका दूसरे प्रकार का महत्व हो जाता है और जिसकी चर्चा की जानी चाहिये । केवल चर्चा करनी चाहिए इतना ही नहीं बल्कि उसकी चर्चा करनेका न कि हमारा अधिकार हैं और जिसकी चर्चा किये बिना हम साहित्य को अपने समाज में बना ही नहीं रह देना जाते । ये उन समस्याओं के कुछ आयाम हैं जो मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ । बिलकुल दूसरे प्रकार की भी समस्याएँ हैं भारतीय साहित्यकार की। लेकिन मैंने अभी तक यही प्रयत्न किया कि जो समस्याएँ केवल साहित्यकार की हैं, दूसरे प्रकार के नागरिक की नहीं हैं, उनकी चर्चा करूँ । क्यों कि साधारण नागरिक की भी समस्याएँ हैं, जैसे सरकार के साथ सन्बन्ध के प्रकार की समस्याएँ, उनकी चर्चा अलग प्रकार के संदर्भ में तभी करनी चाहिये जब साहित्यकार होने के कारण उस सन्बन्ध में कोई परिवर्तन आये हों । वैसे भी कुछ परिवर्तन हैं । लेकिन उनकी चर्चा करने के पहले मैं आज साहित्य को आधुनिक अर्थ में एक कला मानकर, Art मानकर, दूसरी कलाओं के संदर्भ में रख कर भी कुछ समस्याएँ उठाना चाहता हूँ । साहित्य भी एक Art है और अभी अगर मैंने श्रव्य के बारे में जो बातें कहीं उनको आप ध्यान में रखें तो यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि अभि हाल तक साहित्य मात्र एक Performing art था, जैसा कि नाटक, संगीत, नृत्य इत्यादि हो सकते हैं । आज वह Performing art नहीं रहा है । लेकिन वह Art तो फिर भी है । तो यहाँ कुछ चीजें ऐसी हैं जो साहित्य को दूसरी कलाओं से अलग करती हैं और कुछ चीजें ऐसी भी हैं जो साहित्य को अन्य कलाओं से जोडती हैं। तो इनका हमें अलग अलग विचार करना चाहिए, किसी एक पक्ष को छोडना नहीं चाहिये । साहित्य, जो कि भाषा का उपयोग करता है या शब्द पर आधारित है, इसलिए वह एक दूसरे ढंग से, दूसरे अर्थ में, सामाजिक हो जाता है । क्योंकि हम भाषा से काम लेते हैं इसलिए साहित्य एक दूसरे अर्थ में सामाजिक होता है, चित्रकला के रंग उस अर्थ में सामाजिक नहीं होते, संगीत के स्वर उस अर्थ में सामाजिक नहीं होते । यहाँ पर हम साहित्य का उसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्य दूसरी कलाओं से अलग कर के विचार कर सकते हैं। बल्कि साहित्य के भीतर भी भाषा पर निर्भर होनेवाले अनेक विधाओं को ध्यान में रखते हुए एक विधा और दूसरी विधा में भी हम फर्क कर सकते हैं। उपन्यास पर हमारी सामाजिक परिस्थिति का दबाव जादा होता है, उससे हमारी अपेक्षाएँ भी दूसरे प्रकार की होतीं हैं, काव्य से अन्य प्रकार कीं। इस तरह के भेद भी हम कर सकते हैं। लेकिन उनको अभी छोड दें और साहित्य को एक ही मान लें। अगर आप लोगों ने साहित्य के अलावा दूसरी कलाओं में भी कुछ रुचि रखी है तो विशेषरूप से साहित्य की आलोचनाओं के साथ आप कला की या चित्रप्रदर्शनियों की या संगीत समारोहों की भी समीक्षा देखते रहे होंगे। तो शायद आपने यह बात लक्ष्य की हो कि साहित्य के सन्दर्भ में जिन चीजों को गुण बताया जाता है कला के क्षेत्र में वे दोष बताये जा रहे हैं और साहित्य के क्षेत्र में जो चीजें दोष के रूप में प्रस्तुत की जा रहीं हैं उन्हें कलाओं के क्षेत्र में उन्हीं आलोचकों या समीक्षकों द्वारा गुण के रूप में स्वीकार किया जाता है। अगर बुनियादी बात यह होती कि हमारा संवेदन कुछ बदल गया है तो क्या सभी कलाओं में इस बदलाव का कोई प्रभाव नहीं दीखना चाहिए ? क्या ऐसा हम कह सकते हैं या मान सकते हैं कि साहित्य में तो हमको सामाजिक व्यथा चाहिए पहले यथार्थ चाहिए और फिर सामाजिक एवं भारतीय व्यथा चाहिए। चाहिए तो बात को इस के आगे भी बढा सकते हैं। लेकिन चित्रकला में सामाजिक व्यथा की भी कोई जरूरत नहीं है, उसमें यथार्थ के बिना भी काम चलता हैं; उसमें आप Abstract हो सकते हैं, जब कि साहित्य में नहीं हो सकते। अमुक कला Realist, Surrealist Abstract आदि हो सकती है। कला में ये सब चीजें मान्यताप्राप्त हैं, कला में ये सब चीजें होनी चाहिये और इन के बिना कोई कला Modern नहीं कही जाती। लेकिन साहित्य में अगर ऐसी कोई चीजें अपनाएँ तो उन्हें महारोग गिना जाता है। अगर संवेदन वास्तव में बदला है तो क्या इस तरह का विभाजन हम कर सकते हैं ? या स्वीकृत भी कर सकते हैं ? और अगर नहीं तो जो आलोचक साहित्य को लेकर इतना शोर मचा रहे हैं, और फिर अन्य कलाओं में इन प्रवृत्तियों की प्रशंसा कर रहे हैं, जो कि साहित्य के लिये घातक मान रहे हैं, तो क्या हमारा यह पूछने का अधिकार नहीं है कि पूरे मानवीय संवेदन का ऐसा विभाजन कैसे हो सकता है ? पागलों में होता है, लेकिन उसे हम मानसिक विकृति मानते हैं। कुछ लोग लगा-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तार अपने मानस को दो भागों में बाँट कर जीते जाते हैं। उसको हम सह भी लेते हैं। लेकिन उसका हम समर्थन नहीं करते। उसको एक अस्वस्थ अवस्था मानते हैं। तो अगर हमारे इ ने आलोचक अस्वस्थ अवस्था में हैं तो क्या हमारा यह पूछने का अधिकार नहीं है कि आप का कुछ इलाज होना चाहिए ? ऐसा इलाज कि जो आपके ही हित में है, हमारे हित में नहीं। मैं समझता हूँ कि जो लोक साहित्य पढते हैं, चित्र देखते हैं, मूर्तिकला में रूचि रखते हैं उन्होंने अगर यह प्रश्न नहीं उठाया है तो कमसे कम उनकी तरफ से यह प्रश्न पूछना चाहिए। हम तो ऐसी विभाजित स्थिति में नहीं रहना चाहते। हम को तो दोनों आँखों से एक ही दिखायी देता है। अगर आप हमेशा यही करते हैं और यही मानते हैं कि दो आँखों के बीच एक दीवार खडी करके देखना चाहिए तो या तो आप हमें समझाइए कि हमें भी ऐसे ही क्यों देखना चाहिए या तो आप क्यों न इस बीच में खडी दीवार को हटाकर दोनों आँखों से एक ही चीज देखें ? यह पाठक की ओर से भी असली माँग होनी चाहिए और मैं समझता हूँ कि अगर ऐंसी माँग की भी जाए तो उसे ठीक कहना होगा। आप देख रहे होंगे कि सारी बात ऐसी चल रही है कि जिस को एक वाद के रूप में रखा जा सकता है और कहा जा सकता है कि 'अज्ञेय' एक नये ढंग की आलोचना का वादी बनकर हमारे सामने आ रहे हैं। लेकिन आप को अपने से पूछना चाहिए कि वे ऐसा क्यों कर रहे हैं ? इसलिए कि मैं यह चाहता हूँ कि साहित्य का और उसके समाज का एक सजीव सम्बन्ध बना रहे। जहाँ मुझे उसमें बाधा दिखायी देती है वहाँ मैं अध्यापक से कह सकता हूँ कि यह बाधा आप पैदा कर रहे हैं, या आलोचक से कह सकता हूँ यह बाधा आप पैदा कर रहे हैं। और सीधे समाज से कह सकता हूँ कि इस बाधा के कारण आप अपनी दृष्टि को विकृत न होने दीजिएगा। मुझे साहित्यकार के नाते कौन चाहिये ? एक पढनेवाला चाहिए, याने सामाजिक चाहिए। तो उसके साथ मेरा संबन्ध बना रहे इसलिए यह काम मुझे करना है। यह अगर वाद है तो यह कि जिसको मैं जीवन-संबन्ध के रूप में बनाए रखना चाहता हूँ। मैं नहीं चाहता कि पुराने कवि की तरह मैं इतना ही कहकर रह जाऊँ कि अरसिक को काव्य सुनाना न पडे--सुनाना तो नहीं पडता है--लेकिन जो कविता लिखी जाए, छपे उसको पढनेवाला अरसिक न हो ऐसी कामना तो कम से कम कर सकता हूँ। लेकिन उस के लिए कुछ उद्योग भी मुझको करना चाहिए। मैं यह भी नहीं कहता कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक दूसरी तरफ से ऐसे किसी की शरण लूं कि कभी न कभी मेरा समानधर्मा कोई पैदा होगा। पृथिवी बहुत बडी है और काल निरवधि। निश्चय ही काल निरवधि भी है, लेकिन केवल निरवधि है ऐसा नहीं। हम एक सावधि काल में जीते हैं। इन सब चीजों को हमारे अध्यापकों ने, आलोचकों ने अच्छा कह कर पास कर दिया है कि हमारी दृष्टि लौकिक हो। हमारे राजनीतिज्ञों ने भी यह कह दिया है कि Secular दृष्टि एक अच्छी चीज है। तो हम यह चाहते हैं कि हमारे दृष्टि को ग्रहण करनेवाला हमारा समानधर्मा इस लोक में हो, हमारे काल में हो। इसके लिए अगर कोई उद्यम हमको करना है, आमतौर पर व्याख्यान देने के अलावा, लेकिन प्रसंगवशात् वह भी, तो वह करने के लिए हम तैयार हैं। अगर वही हमारा वाद है तो है। क्यों कि तब हमारा वाद इतना ही रह जाता है कि संप्रेषण की परिस्थिति बनी रहे, इसके लिए जो भी कुछ करना पडता है करनेके लिए हम राजी हैं। यही हमारा बुनियादी वाद है, और कोई नहीं।

अब यह सम्भव है कि आप सोचने लगे हों कि क्या मैं साहित्यकार की समस्याओं की चर्चा कर रहा हू या कि यहाँ से उठ जाने के बाद आप सोचें कि मैंने किन समस्याओं की बात की। आप चाहें तो मान लें कि मैंने एक, केवल एक, समस्या की बात की है, क्योंकि वही एक बात बडी समस्या है। और वह यह है कि ये जो संप्रेषण की प्रणालियाँ हैं इन की सुरक्षा कैसे हो। हमारा पहला और बुनियादी सरोकार यही है। यही हमारी सब से बडी समस्या है और मैं लगातार यह चाहता हूँ, जैसे मैं यह चाहता हूँ कि कवि या जो सम्प्रेषण करने-वाला पक्ष है वह पहचाननेवाली परिस्थिति पहले बदल गयी है और उस के अनुरूप उसको क्या नया करना है, उसी तरह यह भी चाहता हूँ कि जो सामाजिक है, वास्तव में उसे ग्रहण करनेवाला या संभाव्य ग्रहण करनेवाला पक्ष है, वह भी इसके बारे में सोचे कि ऐसी बदली हुई परिस्थिति में वह किसकी अपेक्षा रखता है। मैं यह चाहता हूँ कि हमारे मानवीय संवेदन का लगातार विस्तार हो और सम्प्रेषण की जीवन-सम्भावना बनी रहे। हमारी यही एक बात बडी महत्वपूर्ण है।

•

कैवेन्टर्स ईस्ट, कैवेन्टर लेन —सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'
सरदार पटेल मार्ग, नई दिल्ली ११००११

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. पुणे विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में दिनांक २९।१।१९८१ को 'अज्ञेय'जी द्वारा दिया हुआ भाषण। उसका साहित्यिक तथा वैचारिक मूल्य ऊँचे दर्जे का होने की वजह से और इसको लेकर भारतीय साहित्यकारों की समस्याओं के बारे में कुछ मौलिक चिन्तन हो, इस उद्देश्य से उसे, जहाँ तक हो सके, जैसा का तैसा प्रस्तुत किया गया है। पाठकों की प्रतिक्रियाएँ अपेक्षित हैं।

—कार्यकारी सम्पादक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिक्रियाएँ

'परामर्श' वर्ष २ अंक १ में प्रतिक्रियाएँ शीर्षक से दो प्रतिक्रियाएँ प्रकाशित हुई हैं। जिसमें 'प्रत्यक्ष परोक्ष उभयात्मक अनुभव' के इस शीर्षक के अन्तर्गत वाराणसी के श्री. सुधाकर दीक्षित की प्रतिक्रिया नं १ में उज्जैन के श्री. राममूर्ति त्रिपाठी के एक लेख 'साहित्य एवं दर्शन : परस्परावलम्बन' (परामर्श–वर्ष १ अंक ३) की आलोचना की गयी है। यह आलोचना श्री. त्रिपाठी के उस वक्तव्य की है, जिसमें उन्होंने नैयायिकों के एक सिद्धान्त पर आक्षेप किया है। श्री. दीक्षित ने श्री. त्रिपाठी के लेख से उद्धरण देकर कहा है कि उन्हें (त्रिपाठी) को नैयायिकों द्वारा 'अनुभव' के अन्तर्गत ही प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के ज्ञान को रखने के सिद्धान्त पर आपत्ति है। और इस आपत्ति में युक्ति के रूप में श्री. त्रिपाठी नैयायिकों के पक्ष में लोकव्यवहार तथा उच्च दार्शनिक मत का अभाव मानते हैं। इस आधार पर वे (श्री. त्रिपाठी) यह सिद्ध करना चाहते हैं कि केवल प्रत्यक्ष ही 'अनुभव' है और परोक्ष ज्ञान 'अनुभव' की कोटि से परे है।

वस्तुतः श्री. त्रिपाठी का तर्क इतना बचकाना है कि उसे प्रबुद्ध पाठकों को नजरंदाज ही कर देना चाहिए। लेकिन श्री. सुधाकर दीक्षित की प्रतिक्रिया पढ़कर इस संबन्ध में कुछ लिखना अत्यावश्यक हो गया है। इसका कारण यह है कि श्री. दीक्षित श्री. त्रिपाठी के आरोप का उत्तर देने में पूर्णतः विफल हो गये हैं। उन्होंने 'वाचस्पति मिश्र' तथा 'धर्मराजाध्वरीन्द्र' जैसे प्रख्यात अद्वैत वेदान्तियों का उद्धरण देकर यह बतलाने का प्रयास किया है कि 'अनुभव' शब्द का प्रयोग 'परोक्ष ज्ञान' के रूप में न केवल नैयायिकों ने किया है अपितु दर्शनान्तर में भी हुआ है। लेकिन इससे त्रिपाठी जी के आक्षेप का समाधान नहीं होता, क्योंकि न्यायशास्त्र में कोई बात इसलिए नहीं मानी जाती कि वह बात किसी विद्वान ने कही है। केवल वही बात मानी जाती है जो सिद्धान्त के अनुरूप हो। श्री. दीक्षित ने ऐसा कोई प्रमाण नहीं दिया जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि परोक्ष ज्ञान 'अनुभव' की कोटि में नैयायिकों ने क्यों रखा है। फलतः सामान्य पाठकों को श्री. त्रिपाठी की ही बात जँचने लगेगी और उसका नतीजा यह होगा कि शास्त्र के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मर्म को न समझकर अन्य लोग श्री. त्रिपाठी के समान ही शास्त्र पर अँगुलि उठाने लगेंगे।

इसलिए मैंने यह उपयुक्त समझा कि श्री. त्रिपाठी के आक्षेप का सप्रमाण उत्तर दिया जाय।

इस संबन्ध में पहली बात यह है कि श्री. त्रिपाठी 'लोकव्यवहार' को प्रमाण लेते हैं, जब कि लोकव्यवहार शास्त्र के किसी सिद्धान्त को स्थापित करने में प्रमाण नहीं होता। यह आश्चर्य है कि उन्होंने यह क्यों नहीं सोचा कि शास्त्रों में ऐसे अनेक शब्द हैं जिसका लोक में अर्थ भिन्न होता है और शास्त्र में उससे भिन्न एक विशेष अर्थ। यह बात न केवल न्याय, वेदान्त, मीमांसा, बौद्धदर्शन या जैनदर्शन पर लागू होती है बल्कि आधुनिक विज्ञान जैसे–फिजिक्स, कैमिस्ट्री. इत्यादि में भी देखी जाती है।

उदाहरण के तौर पर न्यायशास्त्र के 'द्रव्य' को लीजिए। यहाँ 'द्रव्य' के अन्तर्गत पृथ्वी, जल से लेकर आत्मा तक नौ द्रव्य लिए गये हैं, जब कि लोक में 'द्रव्य' माने 'धन' या तत् समानार्थक वस्तु होती है। न्यायशास्त्र में लोक-व्यवहार से भिन्न 'द्रव्य' शब्द का अर्थ इसलिए होता है कि वहाँ 'द्रव्य' एक परिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है– 'समवायिकारण होनेवाला पदार्थ' वह पृथिव्यादि नौ होते हैं। अतः लोकव्यवहार से इतर ही द्रव्य पदार्थ न्यायशास्त्र में माना गया है।

ऐसे उदाहरण अनेक दिये जा सकते हैं, लेकिन प्रबुद्ध पाठकों को केवल एक उदाहरण से ही यह निश्चित हो जायगा कि शास्त्र में जब कोई शब्द पारिभाषिक होता है तो वह लोकव्यवहार से भिन्न अर्थ दे सकता है और देता है।

अब 'अनुभव' को ही लीजिए। लोक में भले ही 'अनुभव' प्रत्यक्ष का पर्याय हो लेकिन न्यायादि दर्शनों में अनुभव शब्द पारिभाषिक है। शास्त्र में 'अनुभव' का अर्थ है वह ज्ञान जो 'अज्ञातार्थ का ज्ञापक' हो। इस परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष और परोक्ष जैसे– 'अनुमिति' 'उपमिति' और 'शाब्दबोध' ये सभी ज्ञान अनुभव की कोटि में आते हैं, क्योंकि इनका विषय पहले 'अगृहीत' होता है, जबकी 'स्मृति' में 'पूर्वानुभव' कारण होने से 'स्मृति' का विषय सदा 'गृहीत' ही होता है। अतः स्मृति में 'अनधिगतार्थज्ञापकत्व' न होने से वह अनुभव से भिन्न मानी जाती है। यहाँ 'अनधिगतत्व' यह विशेषण है न कि 'उपलक्षण'। इसलिए स्मृति में जहाँ विषय 'ज्ञात' होकर ही गृहीत होता है जैसा कि 'स घटः' इस प्रतीति से स्पष्ट है, वहीं अनुभव में 'अज्ञात' ही पदार्थ विषय होता है, जैसे– 'अयं घटः' (प्रत्यक्ष), 'पर्वतो वन्हिमान्' (अनुमिति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इत्यादि प्रतीतियाँ। यहाँ 'बोध' क्रमशः 'प्रागज्ञातं घटं पश्यामि' तथा 'प्रागज्ञातं वन्हि अनुमिनोमि' इस प्रकार का होता है।

यहाँ कुछ लोग, जिन्होंने न्याय के नाम पर केवल "तर्कभाषा" या वेदान्त के नाम पर 'वेदान्तपरिभाषा' ही पढी है, कह सकते हैं कि "अनधिगतार्थविषयक ज्ञानत्व" यह अनुभव का लक्षण न्यायसम्मत नहीं है, क्योंकि जहाँ एक ही घट का "अयं घटः, अयं घटः" इस प्रकार का 'धारावाहिक प्रत्यक्ष' होता है वहाँ दूसरे, तीसरे ज्ञान का विषय ज्ञात ही घट है, अतः वहाँ 'अव्याप्ति' होगी। लेकिन जिन्होंने न्यायशास्त्र का प्राचीन परंपरा से अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि "अनधिगतार्थविषयकज्ञानत्व" यह अनुभव का लक्षण नैयायिकों को भी मान्य है, क्योंकि उन्होंने इस लक्षण का 'परिष्कार' कर 'धारावाहिकज्ञान' में होने वाले दोष का निवारण कर दिया है–

परिष्कार इस प्रकार है :

"यज्जातीय विशिष्टज्ञानत्वावच्छेदेन समानाकारनिश्चयोत्तरत्वं, तज्जातीयान्ययथार्थज्ञानत्वं अनधिगतार्थविषयकज्ञानत्वम्।'

यह 'यथार्थानुभव' का लक्षण है। 'अनुभवसामान्य' का लक्षण इस प्रकार होगा–

"यज्जातीयज्ञानत्वावच्छेदेन समानाकार निश्चयोत्तरत्वं, तज्जातीयान्यज्ञानत्वम्।"

इसके विपरीत 'यज्जातीयविशिष्टज्ञानत्वावच्छेदेन समानाकारनिश्चयोत्तरत्वं तज्जातीयज्ञानत्वम्', यह 'अधिगतार्थविषयक ज्ञानत्व' का 'परिष्कार' नैयायिकों ने किया है।

इसका तात्पर्य यह है कि स्मृति समानाकारानुभव के बाद ही होती है, अतः उसमें 'यज्जातीयज्ञानत्वावच्छेदेन समानाकारनिश्चयोत्तरत्वं, तज्जातीयज्ञानत्व'रूप 'अधिगतार्थविषयकत्व'होता है, जब कि अनुभव, वह प्रत्यक्ष हो या अनुमिति, या उपमिति हो या शाब्दबोध, ये सभी नियमेन समानाकार निश्चय के बाद नहीं होते अतः उनमें 'यज्जातीयविशिष्टज्ञानत्वावच्छेदेन समानाकारनिश्चयोत्तरत्वं तज्जातीयान्यज्ञानत्व' होने से 'अनधिगतार्थविषयकज्ञानत्व'रूप अनुभव का लक्षण घटित होता है।

इसी प्रकार 'धारावाहिक प्रत्यक्ष' में यद्यपि द्वितीय या तृतीय ज्ञान में समानाकारनिश्योत्तरत्व है तथापि 'प्रथमज्ञान' में वह (समानाकारनिश्चयोत्तरत्व) न होने से 'यज्जातीयविशिष्टज्ञानत्वाच्छेदेन समानाकारनिश्चयोत्तरत्वं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तज्जातीयान्यज्ञानत्व ' में 'धारावाहिक प्रत्यक्ष' आ जाता है, अतः वहाँ अनधिगतार्थ-विषयकज्ञानत्व का परिष्कृत लक्षण घटित होने से ' अव्याप्ति ' नहीं होती।

इस प्रकार प्रबुद्ध पाठक समझ गये होंगे कि नैयायिकों ने अन्यदार्शनिकों की तरह ' अनधिगतार्थविषयकज्ञानत्व ' यह अनुभव का लक्षण मान लिया है, अतः ' प्रत्यक्ष ' ' और ' परोक्ष ' दोनों को ही उन्होंने अनुभव पद से संबोधित किया है। यह संज्ञा नितान्त पारिभाषिक है, इसका लोकव्यवहार से कोई संबन्ध नहीं है।

और यदि त्रिपाठीजी अनुभव को प्रत्यक्ष पर्याय मानने में किसी विद्वान् दार्शनिक का उदाहरण देते होंगे तो हम उनको यह बतला देना चाहते हैं कि न्याय-शास्त्र में युक्ति महत्वपूर्ण होती है न कि कोई विद्वान् दार्शनिक। यह बात न जंचे तो गदाधर भट्टाचार्य की ' व्युत्पत्तिवाद ' में लिखी हुई यह उक्ति देख लिजिए।

" नहि कस्यचिद्ग्रन्थकृतो विपरीतलेखनं युक्तिवलाद्वस्तुसिद्धो बाधकम्।"

—चन्द्रशेखर शुक्ल

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्
तिरुपति (आंध्र प्रदेश)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ-समीक्षा

सोल्झेनित्सिन, अलेक्जैण्डर; **गुलाग द्वीपसमूह** (३); अंग्रेजी रूपान्तर : विलियम्स, एच्. टी.; हिन्दी रूपान्तर : देवेन्द्रकुमार (डॉ.) और हेमन्तकुमार; नेशनल पब्लिशिंग हाउस; पृष्ठ ५००; मूल्य : दस रुपये।

सोवियत सङ्घ में सर्वाधिकारवाद के शिकार की दर्दनाक सच्चाइयाँ इस तीसरे बृहदाकार खण्ड में स्टालिन के अन्तिम वर्षों और उसके उत्तराधिकारियों के शासन की असलियत विश्व के सामने प्रस्तुत करती हैं। सर्वहारा वर्ग के शासन का यह भयावह सत्यचित्र फौलादी पर्दे को भङ्ग कर विश्व के सोचनेवालों के सामने एक करारा प्रश्नचिन्ह खड़ा करता है। ऋषितुल्य कार्ल मार्क्स के सत्ता को तिरोहित करने के उद्देश्य से देखे गए समाजवादी व्यवस्था के सपनों की प्रत्यक्षता यहाँ न केवल समाजवाद की वैज्ञानिकता (?) का पर्दाफाश करती है, मार्क्स के इतिहास सम्बन्धी विवेचन पर भी सन्देह पैदा करती है। एक विराट जनसमूह पर किए गए अन्यायों और अत्याचारों का यह जीता-जागता ज्वलन्त दस्तावेज़ दुनिया के सामने उस फौलादी व्यवस्था को लाँघकर आ सका यही मानवी जीवन की रहस्यमय गूढ़ता का परिचय देनेवाली घटना है।

स्टालिन के कातोर्गा, (सश्रम कैद) जो १९४३–४४ में साकार हुआ था, का इसमें सर्वांग चित्र प्रस्तुत किया गया है। मज़दूरी कैम्पों के निकृष्टतम अंश एवं जेलों के सबसे गन्दे हिस्से का यह सम्मिलित रूप कातोर्ज़ा ने (सश्रम बन्दी) और उनको ठगकर सुविधा में रहनेवाले अधिकारी वर्ग के वर्ग-कलह का अङ्कन रोंगटे खड़ा कर देता है। सोवियत स्कूलों में और सोवियत विचारधारा पर पाली गई पच्चीस-तीस वर्ष की जवान स्त्रियों को लाखों की संख्या में आजीवन सश्रम कारावास की सज़ा दी गई है, इसका अर्थ यह है कि तानाशाही के खिलाफ लड़ने-वाले मनुष्य की मूल्य-दृष्टि और स्वाधीनता की आकांक्षा एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है जिसको रौंदने के क्रूर प्रयासों के बावजूद उसका अस्तित्व नहीं मिटता और शरीर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की ज़रूरी आवश्यकताओं को भूख के ऊपर वह विजय प्राप्त करता है। करोड़ों बच्चों को सरकारी शिक्षा व्यवस्था यह सिखा नहीं सकी कि सोवियत देश के गरीबी से ग्रस्त भूतकाल को खत्म कर रूसी सरकार समृद्धि के द्वार पर ले आने में सफल हो गई। पूरे वर्षों तक धार्मिक विश्वास को नष्ट करने के प्रयास के बावजूद जनता के मन की धार्मिकता नष्ट करने में सरकार सफल नहीं हुई। लाखों की नींव पर खड़ी तानाशाही घृणा करने का अधिकार मानवीय है या नहीं, यह सवाल प्रस्तुत पुस्तक शक्तिपूर्ण ढंग से उठाता है। सोवियत जेलों में ठूंसे लोगों की यातना का यह आलेख 'प्रगति की कीमत' के भ्रम को मूलतः उखाड़ कर फेंक देता है। इस व्यवस्था का रूप सोचनेवाले कुछ करोड़ लोगों को कैसा लगता था? "हर अखबार के हर पृष्ठ पर उन्हें निरे झूठ के धब्बे फैले दिखाई देते और इन करोड़ों लोगों के लिए वोट डालने का दिन कष्ट और अपमान का दिन था। इस अल्पसंख्यक वर्ग के लिए हमारे देश में मौजूद तानाशाही का स्वरूप न तो सर्वहार-वाला था और न राष्ट्रीय था और (जो लोग सोवियत शब्द का मूल अर्थ स्मरण करते थे उनके लिए) सोवियत भी नहीं था; उनके लिए यह एक अन्य अल्पसंख्यक वर्ग की, छीना-झपटी से गद्दी पर बैठे अल्पसंख्यक लोगों की तानाशाही थी, जो आध्यात्मिक सम्भ्रान्त वर्ग बनते से बहुत दूर था।" (पृ. २६) इस व्यवस्था का मूलभूत सूत्र था, "जो हमारे पक्ष में नहीं है, वह हमारा विरोधी है।" सोल्झे-नित्सिन स्पष्टतः कहते हैं, "ये लोग, जो अपनी पीठ पर कम्युनिस्ट सुख के चौबीस वर्ष झेल चुके थे, १९४१ तक वह बात जानते थे, जो संसार में और कोई आदमी नहीं जानता था कि इस भूमण्डल पर आज तक के इतिहास में उससे अधिक पापी, उससे अधिक खून का प्यासा और कोई शासन नहीं हुआ जितना बोल्शेविक शासन जो अपने आपको सोवियत शासन कहता है।" (पृ. ३१) इस पाप की धूर्तता और मक्कारी की असलियत ही 'गुलाग द्वीपसमूह' का यह खण्ड है।

सोल्झेनित्सिन ने यह सिद्ध किया है कि तथाकथित क्रान्ति-युग में जो कठोरता और निर्ममता सामान्य मनुष्य के सम्बन्ध में बरती गई वह ज़ारशाही के कट्टर शत्रु के बारे में बरती गई क्रूरता से कई गुना अधिक थी। ज़ारशाही की दारुण से दारुण यन्त्रणा स्टालीन के युग की तुलना में अधिक सह्य थी। जेल जीवन, श्रम का स्वरूप, अधिकारियों की निर्ममता, सरकारी न्यायविधान, विचारों को प्रकाशित करने पर रोक– सबकुछ अधिक मानवीय था। यही कारण है कि ज़ार का सब से बड़ा शत्रु लेनिन न केवल स्वतन्त्रतापूर्वक और सुविधाओं में जी सका, ज़ारशाही को उलट देने के प्रयास में सफल हो सका। ज़ारशाही और स्टालिनशाही का तुलनात्मक विश्लेषण इस बात को सिद्ध करता है कि एक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जबर्दस्त शब्दशक्ति का वह जादू ही था जो करोड़ो लोगों को भविष्य में जीने के लिए वर्तमान की नरक-यातना को झेलने के लिए वाध्य कर रहा था। रूसी जीवन की वर्तमान की यातना का यह दस्तावेज़ है जिसको नकारने के लिए फिर किसी शब्दजाल का जादू पैदा करना होगा।

सोवियत कैम्पों में सड़नेवाले बेगुनाह लोगों की दैनन्दिन जीवन की पीड़ा के साथ उन पक्के भगोड़ों के असफल प्रयत्नों का भी जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है जो एक ओर कैम्पों की निर्घृणता की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है और दूसरी ओर मनुष्य की विकट आज्ञावादिता इन भगोड़ों की अनन्त तकलीफों का अङ्कन करुणा उपजाता हुआ उस व्यवस्था के प्रति प्रचण्ड घृणा उत्पन्न करता है जिसने मनुष्य की प्रेम और सहानुभूति की स्वाभाविक भावनाओं के स्रोतों को सुखा दिया है। बाहर उनकी कोई सहायता नहीं करता क्योंकि यह शासन के प्रति वगावत है और कभी अपनी जान बचाने के लिए इन भगोड़ों को भी अमानवीय कार्य करना पड़ता है जो जिसको सामान्य परिस्थिति में वे कल्पना में भी स्थान नहीं देते। कुछ दिनों की कैद से छूट परन्तु दूसरी अधिक निर्घृण कैद में (जीवन की रक्षा करने के असफल प्रयासों में अवस्थित यातना) छटपटाहट के ये चित्र स्पष्ट करते हैं कि कैदी जीवन के खिलाफ किसी प्रकार को वगावत कैसे असम्भव थी। और सोल्झेनित्सिन जैसे लेखकों के लेखन-कार्य को सुरक्षित रखने के प्रयासों पर साश्चर्य अभिमान होने लगता है। तार के पीछे जलनेवाली धरती का यह दाहक रूप और जंजीरें तोड़ने की असफल कोशिशें, मनुष्य के समस्त जीवन का नये सिरे से विचार करने के वाध्य करती हैं। सोल्झेनित्सिन की यह टिप्पणी कितनी अर्थगहन है– "इतने सारे गहरे इतिहासकारों ने इतनी सारी चतुराई प्रदर्शित करनेवाली पुस्तकें लिखी हैं और फिर भी वे यह नहीं सीख सके कि मानवीय आत्मा के उन रहस्यमय प्रज्वलनों की भविष्यवाणी कैसे करें, किस सामाजिक विस्फोट के रहस्यमय जन्म को कैसे पहचानें, यहाँ तक कि बाद में पीछे दृष्टि डालकर उसकी व्याख्या करना भी उन्होंने नहीं सीखा।" (पृ. २३८) बन्दी जीवन के अनेक विपुल सत्याग्रह मनुष्य के अनुभव संसार की बुनावट को पहचानने की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। एक अत्यन्त संवेदनशील और मेधावी व्यक्तित्व से छनकर आए अनुभवों का यह रसायन समझदार मनुष्य को अपने आसपास की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दुनिया में ही नहीं दूर तक छिपे जीवन के सूत्रों को पहचानने एवं सजग रहने को उकसाता रहता है। स्टालिन की मृत्यु और बेरिया का पतन ऐसी आकस्मिक घटनाएँ थीं जिन्होंने देश के कैदखाने की सीकचों को किंचित काल के लिए शिथिल कर दिया। इस अल्पकालिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप हुए प्रभावों का भी सोल्झेनित्सिन ने काफी विस्तार के साथ वर्णन किया है: परन्तु यह भ्रम था कि तानाशाही के असली रूप में कुछ मूलगामी तब्दीलियाँ हुई हैं।

कैम्प जीवन के साथ निर्वासन की अवस्था की भी झलकियाँ प्रस्तुत की गई हैं। सोल्झेनित्सिन एक व्यंग्यात्मक टिप्पणी करते हैं: "जो काम न करेगा वह भी खा पाएगा'– यह है समाजवादी सिद्धान्त। और सोवियत निर्वासन पद्धति इस समाजवादी सिद्धान्त के आधार पर ही खड़ी की जा सकती थी। पर समाजवादी ही वे लोग थे जो अपना भोजन निर्वासन में विना पैसा दिए लेने के आदी थे।" (पृ. ३१६) निर्वासन में जुझारू जियोनिस्ट समाजवादी पार्टी के १५–१६ वर्ष के सदा प्रसन्न लड़के तो थे ही, निर्दलीय बुद्धिजीवी लोग भी थे– 'आत्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र लोग जिनके कारण नये शासन के लिए अपने को दृढ़तापूर्वक जमाना कठिन हो रहा था।' अध्यात्मवादी थे, गुह्यवादी थे, आस्तिक पादरी थे। सोल्झेनित्सिन ने प्रस्तुत दस्तावेज में उन किसानों की यातना एवं शोषण के भी हालात बयान किए हैं (जो डेढ़ करोड़ मनुष्य थे) जो १९२९ से सरकार द्वारा पीड़ित थे। कुलक उन्मूलन के नाम पर किसानों को जबर्दस्ती कोल्खोज़ में लाने का यह प्रयास था। सोल्झेनित्सिन की टिप्पणी है: "किसी चन्गेज खाँ ने इतने सारे किसानों का विनाश नहीं किया जितनों का कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में सरकारी पुलिस आदि और्गानों (सुरक्षा विभागों) ने किया है।" (पृ. ३३३)

निर्वासित की करुण गाथाओं से भरे कतिपय पृष्ठ साहित्य के जादूई स्पर्श से अमर बन गए हैं। सोल्झेनित्सिन ने लिखा है– 'हिटलर का यहूदियों और जिप्सियों के विनाश का परीक्षण बाद में हुआ, जबकि द्वितीय विश्वयुद्ध पहले ही आरम्भ हो चुका था, पर पिता स्टालिन ने इस समस्या पर उससे पहले विचार कर लिया था।" (पृ. ३५३) सोल्झेनित्सिन जैसे भाषा प्रभु को भी कहना पड़ा कि निर्वासित जाति के लिए किसी एक दिन महाकाव्य लिखा जाएगा– वे ही जातियाँ लिखेंगी जो सब में से गुजरी हों– उनकी ओर से बोलने के लिए हमारे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पास उचित शब्द नहीं हैं। लेकिन उस अनागत महाकाव्य की प्रभविष्णु रेखाएँ अङ्कित करने से सोल्झेनित्सिन अपने को नहीं बचा सके। निर्वासित जीवन की साखीयाँ कुछ कम होने के बाद जब लेखक को खुले अहाते में सूखी घास पर तान विताने की छूट दे दी गई तो उसका अनुभव– "एक रात खुले आसमान के नीचे। हम भूल ही गए थे कि यह कैसी होती है।... वहाँ हमेशा ताले और सलाखें थीं, हमेशा दीवारें और छतें थीं।" (पृ. ३८४) ...'हमसे दो कदम आगे घोड़े अपनी नान्दों पर खड़े शान्ति से सारी रात घास चबा रहे हैं। निश्चय ही, हमारी आज़ादी की इस पहली रात को कोई और इससे ज्यादा मीठी, इससे अधिक मित्रतापूर्ण ध्वनि नहीं हो सकती थी।' (पृ. ३८५)

एक घटना घटी– बचपन से हर गुलाम जिसकी प्रतीक्षा कर रहा था– एशियाटिक डिक्टेटर के मरने की। कुछ शिथिलता आई। लगा कि रूस एक बड़ी करवट लेगा, निर्वासित मुक्त होंगे, कैम्प तोड़ दिए जाएँगे, विचार मुक्त होंगे, लेखक खुली हवा में साँस लेंगे। लेकिन आशाएँ किंचित् पल्लवित होकर सदा के लिए मुरझा गयीं। नौकरशाही का जो शिकंजा था उससे आसानी से छुटकारा पाना न उनके लिए मुमकिन था जो इसके आदी हो गये थे, न उनके लिए जो इस व्यवस्था के शिकार हो गये थे। परिणाम यही निकला कि, 'शासक बदल जाते हैं, द्वीपसमूह कायम रहता है।' अमलदराज कार्यकर्ताओं की जात से सोवियत शासन के मुख्य स्तंभ कैम्प प्रणाली को ढहते नहीं देख सकते थे। यह सब इसलिए कायम रहता है, "क्योंकि **वह खास राजनैतिक शासन** इसके बिना जीवित नहीं रह सकता। यदि वह द्वीपसमूह को भंग कर दें तो स्वयं इसका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा।" (पृ. ४५१) यह एक खतरे की घन्टी है और हर सजग व्यक्ति को इसका विचार करना होगा कि इस प्रकार 'खास राजनीतिक शासन' या 'अमलदराज कार्यकर्ताओं की जात' पैदा करना कहाँ तक मानवीय जीवन के लिए हितकारक होगा। क्योंकि इस व्यवस्था में जहाज कुछ समय के लिए रास्ता बदलने का भ्रम पैदा करे, लेकिन उसका गन्तव्य नहीं बदलता। सोल्झेनित्सिन का स्टालिन के बादवाली व्यवस्था के बारे में भी यह मन्तव्य है– "आधी सदी से भी अधिक काल तक महाकाय राज्य, इस्पात की पत्तियों को कमर पर बाँधे हमारे ऊपर खड़ा रहा है। पत्तियाँ अब भी वहाँ हैं। कानून कोई नहीं है।" (पृ. ४८०)

हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय

–चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

१. मो प्र. मराठे
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७

२. सु. ए भेलके
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७

३. चन्द्रकान्त बान्दिवडेकर
हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७

४. परमेश्वरदयालजी लाखोटिया
सेंचुरी स्पिनिंग अँड मैन्युफॅक्चरिंग
कंपनी लिमिटेड
पांडुरंग बी. मार्ग, बंबई–४०००२५

५. सुरेन्द्र बार्लिंगे
१, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी
बाणेर पथ, पुणे–४११००७

६. कालिचरण रावता
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७

७. प्रदीप प्र. गोखले
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७

८. कु. चन्द्रकान्ता गुलाटी
द्वारा, रूपचन्द गुलाटी
६५९, विठ्ठलवाडी
भाकुर्डी, पुणे–४११०३५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

९. के. एल्. शर्मा
९, बेलछदेनगर, बंबई–४०००८९

१०. सुनयना. एच्. दिवेतिया
दर्शन विभाग
महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय
वडोदरा (गुजरात)

११. डॉ. सुरेशचन्द्र
दर्शन विभाग
हैदरावाद विश्वविद्यालय
हैदरावाद–५००००

१२. डॉ. प्रतापचंद्र
दर्शन विभाग
सागर विश्वविद्याल
सागर (म. प्र.)

१३. डॉ. जे. के. शर्मा
दर्शन विभाग
हंसराज महाविद्यालय
दिल्ली

१४. कनकमल मुनोत
४२७, गुलटेकडी
पुण–४११००९

साभार अभिस्वीकृति

१. उपाध्याय, मृत्युञ्जय; वैश्वानर बङ्गीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता, १९८०

२. देवेन्द्रकुमार (डॉ), और हेमन्तकुमार (अनु); सोल्झेनित्सीन; गुलाग द्वीपसमूह (खण्ड ३); नेशनल अकादमी, नई दिल्ली–११०००२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पुणे विश्वविद्यालय के तत्त्वज्ञान एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

विजयकुमार भारद्वाज	प्रमाण और सैद्धान्तिक मतभेद	१०७
जे. फाइस	ईसाई दर्शन की दृष्टि से धार्मिक स्वतन्त्रता	११४
सागरमल जैन	आधुनिक परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन में अस्तिकाय की अवधारणा	११९
चन्द्रकला गुप्त	औदात्य : स्वरूप मीमांसा	१२९
राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	चमत्कार एवं बौद्धिकता	१३७
पृथ्वीनाथ शास्त्री	सार्त्र के साहित्य संबंधित विचार	१४५
नारायणशास्त्री द्रविड	आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (२)	१६२
रामजी तिवारी	मतैक्य और संघर्ष : कुछ विचार	१७१
धर्मेन्द्र गोयल	आधुनिक जगत् को सन्देश	१७९
स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय'	भारतीय साहित्यकार की समस्याएँ	१८३
	प्रतिक्रियाएँ	१९९
	ग्रंथ-समीक्षा	२०३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिन्दी)

वर्ष २ अंक ३

जून १९८१

सं पा द क

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

※ पुणे विद्यापीठ के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका

※ भूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान–मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ✦ राजेन्द्र प्रसाद ✦ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ⌑ रमाकान्त सिनारी ⌑ विजय भारद्वाज ⌑ शारदा जैन
रमाकान्त त्रिपाठी ⌑ संगमलाल पांडे ⌑ आर्. बालसुब्रमणियन्
अशोक रा. केळकर ※ के. जे. शहा ※ नारायणशास्त्री द्रविड ※ के. सच्चिदानन्द मूर्ति ※ जी. सी. नायक ※ ग. ना. जोशी ※ मोहनलाल मेहता ※ जे. फाईस ※ सुमन गुप्ता ※ रा. स्व भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ※ चन्द्रकान्त बांदिबडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें :
कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : तत्त्वज्ञान विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा ।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६–००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२–००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८–००
	एक प्रति	रु. ०५–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–००
व्यक्तियों के लिए रु. २००–००

※ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें ।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काश्मीर शैव दर्शन में स्वातन्त्र्यवाद

काश्मीर शैव दर्शन[1] में शिव परम स्वतन्त्र सत्ता है तथा सृष्टि शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। सृष्टि करने के लिए शिव बाध्य नहीं है। शिव पर सृष्टि करने के लिए न तो वाह्य बाध्यता आरोपित की जा सकती है और न आन्तरिक बाध्यता ही शिव में हो सकती है। आन्तरिक बाध्यता इसलिए नहीं है क्योंकि शिव पूर्ण है; उसमें कोई कमी नहीं है[2] जिसकी पूर्ति के लिए वह सृष्टि करे। इसलिए काश्मीर शैव दर्शन में यह माना गया है कि शिव अपने आनन्द के लिए सृष्टि करता है जो शिव का स्पन्द है। सृष्टि करने के लिए शिव पर कोई वाह्य बाध्यता भी नहीं हो सकती क्योंकि शिव का कोई विरोधी तत्त्व नहीं है जो शिव को सृष्टि करने के लिए बाध्य अथवा प्रेरित करे। इस प्रकार बाह्य अथवा आन्तरिक बाध्यता के नितान्त अभाव होने से यही कहा जा सकता है कि शिव यदि सृष्टि न करना चाहे तो सृष्टि नहीं होगी। काश्मीर शैव दर्शन में शिव के स्वातन्त्र्य पर विशेष आग्रह किया गया है। इसलिए काश्मीर शैव दर्शन को स्वातन्त्र्यवाद भी कहा जाता है।

सृष्टि-प्रक्रिया शिव का स्वरूप लक्षण नहीं है

किन्तु काश्मीर शैवशास्त्र में ऐसे कथन मिलते हैं जिनके कारण स्वातन्त्र्यवाद के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। इन भ्रान्तियों के कारण सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप लक्षण मान लिया जाता है जिससे यह ध्वनित होता है कि सृष्टि करना शिव के लिए आवश्यक है।[3] सृष्टि करने में शिव का स्वातन्त्र्य निहित नहीं है बल्कि सृष्टि शिव द्वारा होती ही रहती है। जबकि वास्तविकता यह है कि सृष्टि-प्रक्रिया शिव का स्वरूप लक्षण नहीं है बल्कि अद्वैत वेदान्त की शब्दावली में कहें तो तटस्थ लक्षण है। शिव सृष्टि स्वेच्छा से करता है तथा इसे न करने में पूर्णतया स्वतन्त्र है।

सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप लक्षण मानने के कुछ आधार हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। काश्मीर शैव शास्त्र में शिव को पंचकृत्यकारी[4] कहा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गया है तथा पंचकृत्यों की व्याख्या में यह कहा गया है कि पंचकृत्य शिव द्वारा स्वभावतः होते हैं। इसके आधार पर यह माना जाता है कि शिव स्वभावतः पंचकृत्यकारी है जो सदैव पंचकृत्य करता रहता है। इस कथन से यही ध्वनित होता है कि सृष्टि शिव का स्वाभाविक कृत्य है जो सदैव होता रहता है[५] तथा इसके होने या न होने में शिव का स्वातन्त्र्य निहित नहीं है बल्कि यह शिव के स्वरूप में ही अनुस्यूत है जिसका संपादित होना आवश्यक है (क्योंकि यह कहा ही गया है कि वह सदैव पंचकृत्य करता रहता है)।

किन्तु पञ्चकृत्यों को स्वाभाविक कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि पञ्चकृत्य स्वरूप में ही अनुस्यूत हैं वरन् यह है कि पञ्चकृत्यों को संपादित करने में शिव को आयास (effort) नहीं करना पड़ता; ये कृत्य शिव द्वारा अनायास (effortlessly) संपादित होते हैं। पञ्चकृत्यों को स्वाभाविक कहने में काश्मीर शैव दार्शनिकों का उद्देश्य है पञ्चकृत्यों को कर्म से अलग करना। सृष्टि शिव की क्रिया है न कि कर्म। यह क्रिया शिव का स्पन्द है जिसमें शिव का स्वातन्त्र्य निहित है। काश्मीर शैव दार्शनिक शिव के स्वरूप में केवल अहम्विमर्शात्मक क्रिया का अनुस्यूत होना मानते हैं जिससे शिव में आत्म-चेतना रहती है। पञ्चकृत्य अहम् विमर्शात्मक क्रिया नहीं है बल्कि अहमिदम्विमर्शात्मक क्रिया है जो शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

पञ्चकृत्यों को स्वभाव इसलिए भी कहा गया है क्योंकि सृष्टि करने में शिव का कोई उद्देश्य नहीं है। जैसे खेलना बच्चे का स्वभाव कहा जा सकता है यद्यपि खेलना उसका स्वरूप लक्षण नहीं है किन्तु खेलना किसी उद्देश्य से नहीं है इसलिए स्वभाव कहा जाता है; वैसे ही शिव की सृष्टि शिव का स्वभाव है। अद्वैत-वेदान्त में जहाँ स्पष्ट रूप से सृष्टि को ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कहा गया है, वहाँ भी गौड़पादाचार्य ने उपर्युक्त अर्थ में ही भगवान का स्वभाव कहा है।[६]

सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप लक्षण मानने का आधार एक यह भी है कि सृष्टि को शक्तिरूप अथवा शक्ति का विकास[७] माना जाता है तथा शक्ति शिव रूप ही है अथवा शिव के स्वरूप में ही अनुस्यूत है जहाँ शिव और शक्ति का भेद नहीं किया जा सकता।[८] ऐसी स्थिति में सृष्टि को शिव का स्वरूप लक्षण मान लेना स्वाभाविक[९] है किन्तु काश्मीर शैव दार्शनिकों का सृष्टि को शक्ति का विकास मानने से यह तात्पर्य नहीं है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही निहित है। काश्मीर शैव दार्शनिक शक्ति के दो स्तर करते हैं। वे चित्-शक्ति और आनन्द शक्ति को शिव की स्वरूप शक्ति मानते हैं किन्तु इच्छा, ज्ञान और क्रिया को शिव की स्वरूप शक्ति नहीं मानते। इन शक्तियों को केवल शिव की शक्ति कहा गया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। सृष्टि आदि पञ्चकृत्यों का सम्बन्ध इच्छा, ज्ञान, क्रिया के उन्मेष और निमेष से है न कि चित् और आनन्द से। चित् और आनन्द अहम् विमर्शात्मक क्रिया है जो शिव में नित्य है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया अहम्मिदम् विमर्शात्मक क्रिया है जो शिव में नित्य नहीं है। यह शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। इस प्रकार सृष्टि को शक्ति का विकास मानने का तात्पर्य यही है कि सृष्टि शिव की इच्छाशक्ति का विकास है जो क्रमशः ज्ञान और क्रियाशक्तियों के रूप में विकसित होकर प्रकाशित होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि को शिव का जो स्वभाव कहा गया है और जिसके आधार पर सृष्टि को शिव का स्वभाव मान लेना स्वाभाविक है उसका यह अर्थ नहीं है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही है या शिव के लिए सृष्टि करना आवश्यक है अथवा वह नित्य सृष्टि करते रहने के लिए बाध्य है। सृष्टि को शिव का स्वाभाविक कार्य कहने का अर्थ इतना ही है कि सृष्टि करने के लिए शिव में कोई कारण अथवा उद्देश्य (Motive) नहीं है, वरन् उसका स्वतन्त्र स्पन्द है। यदि शिव नित्य सृष्टि-लीला करता भी हो तब भी यह आवश्यक नहीं कि सृष्टि को शिव की आवश्यक प्रक्रिया (necessary process) माना जाए। मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि शिव सृष्टि को हमेशा करता रहता है या नहीं वरन् प्रश्न यह है कि सृष्टि करने के लिए शिव बाध्य है या नहीं अथवा दूसरे शब्दों में, सृष्टि-क्रिया भी चिदानन्द की ही भाँति शिव का स्वरूप ही है या नहीं। काश्मीर शैव शास्त्र के समग्र सिद्धान्त को देखते हुए यही मानना उचित होगा कि शिव सृष्टि-विषयक कार्य में पूर्ण स्वतन्त्र है, सृष्टि करने के लिए वह बाध्य नहीं है और न सृष्टि-प्रक्रिया उसी प्रकार स्वरूप में है जिस प्रकार चिदानन्द है।

सृष्टि को स्वातन्त्र्य मानने का शास्त्रीय आधार

काश्मीर शैव शास्त्र के दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप से स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण के भेद का विवेचन नहीं किया है, इसी कारण सृष्टि-प्रक्रिया के विषय में भिन्न व्याख्याएँ (Interpretation) संभव हैं। यहाँ जो यह पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है कि सृष्टि-प्रक्रिया शिव का स्वरूप लक्षण नहीं है वरन् स्वातन्त्र्य है, इसे मानने के लिए काश्मीर शैव शास्त्र में कुछ ठोस आधार हैं, जो निम्नलिखित हैं।

शिव को काश्मीर शैव शास्त्र में स्पष्ट रूप से बार-बार अनुत्तर कहा गया है।[10] यदि सृष्टि को शिव के स्वरूप में ही निहित मान लिया जाए तो शिव को अनुत्तर कहने में तार्किक कठिनाई उपस्थित होगी। शिव विश्वमय ही रह जाएगा, विश्वोत्तीर्ण नहीं हो पायेगा क्योंकि शिव में विश्व के नित्य उपस्थित रहने से शिव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इससे परे नहीं कहा जा सकता। यदि शिव केवल विश्वमय ही है तो इसका मूल्य जागतिक पदार्थों से अधिक नहीं होगा। किंतु शिव को विश्वोत्तीर्ण मानना आवश्यक है तथा आगमों एवं काश्मीर शैव शास्त्र में शिव को अनुत्तर कहा गया है अतः सृष्टि को शिव का स्वातन्त्र्य ही माना जाना चाहिए। सृष्टि को शिव का स्वातन्त्र्य मानने से शिव को अनुत्तर कहने में कोई तार्किक कठिनाई भी उपस्थित नहीं होती।

काश्मीर शैव शास्त्र में शिव को पूर्ण स्वतन्त्र[11] सत्ता कहा गया है तथा इस कथन को बार-बार एवं पूरे आग्रह के साथ कहा गया है[12]। साथ ही सृष्टि कार्य को शिव का स्वातन्त्र्य माना गया है। यह भी कहा गया है कि शिव का स्वातन्त्र्य कभी भङ्ग नहीं होता।[13] किन्तु यदि सृष्टि को शिव के स्वरूप में ही निहित मान लिया जाए तो काश्मीर शैव शास्त्र के इन कथनों का कोई मूल्य नहीं रह जाएगा। अतः यही मान्य होना चाहिए कि सृष्टि-प्रलय शिव के स्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है और स्वातन्त्र्य में यह अर्थ निहित है कि शिव-सृष्टि न करना चाहे तो सृष्टि नहीं होगी। सृष्टि करना न करना पूरी तरह से शिव की स्वतन्त्रेच्छा पर निर्भर है। किन्तु यदि सृष्टि-कार्य को शिव का स्वरूप लक्षण माना जाए तो सृष्टि-विषयक स्वातन्त्र्य का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा।

शक्ति का स्तर भेद भी सृष्टि को स्वातन्त्र्य मानने का शास्त्रीय आधार है। चित्आनन्द को स्वरूप शक्ति कहा गया है किन्तु इच्छा, ज्ञान और क्रिया को स्वरूप शक्ति नहीं कहा गया है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया को केवल शक्ति कहा गया है। सृष्टि को इच्छा-शक्ति का ही विकास कहा गया है न कि चित् या आनन्द-शक्ति का।

इसका भी यही अर्थ हुआ कि चिदानन्द शिव के नित्य स्वरूप में है और इच्छा, ज्ञान, क्रिया उसकी स्वातन्त्र्य-क्रिया है। चिदानन्द के स्तर पर जो शक्ति या क्रिया होती है वह केवल अहंविमर्श रूप (Self-Consciousness, 'I am') है, यह उसका स्वरूप लक्षण होने से शिव में नित्य ही रहेगा; दूसरे शब्दों में शिव सृष्टि करे अथवा न करे अहंविमर्श उसमें नित्य रहेगा। अहंविमर्श स्वरूपवाली क्रिया या शक्ति शिव की स्वरूप शक्ति है, यही क्रिया शिव की नित्य क्रिया है जिससे शिव के विरहित होने का कोई प्रश्न नहीं होता किन्तु इच्छा, ज्ञान, क्रिया-वाली शक्ति का स्वरूप अहंमिदम्विमर्श (I am this) रूप है जो तभी होता है जबकि शिव सृष्टि करता है। इसीका प्रतीक शिव का नटराज रूप है। शिव जब सृष्टि-प्रक्रिया से रहित होकर केवल अपने स्वरूप में स्थित रहता है (जिसकी प्रतीक शाम्भवी मुद्रा है) तो उस समय अहंमिदम्विमर्श नहीं रहता, वरन् केवल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अहंविमर्श रहता है। अत: यह स्पष्ट है कि शक्ति अथवा विमर्श के दो स्तर मानना परमावश्यक है। शक्ति के इस स्तर-भेद को न मानने से भ्रान्ति (Confusion) हो सकती है।

स्वातन्त्र्य के भेद

सामान्यतया स्वातन्त्र्य के दो भेद किये जाते हैं। एक सत्तास्वातन्त्र्य (Freedom-from) तथा दूसरा क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) । काश्मीर शैव दर्शन में शिव में दोनों प्रकार के स्वातन्त्र्य का होना माना गया है। अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म में केवल सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom from) मानता है; क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) नहीं मानता। यह सम्भवत: इसलिए नहीं माना गया है कि क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) मानने से ब्रह्म में अपूर्णता आ सकती है। किन्तु काश्मीर शैव-दर्शन में शिव में सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) और क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) दोनों ही माना गया है क्योंकि काश्मीर शैव शास्त्र के अनुसार दोनों में वस्तुत: कोई विरोध नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom–to) का सम्बन्ध कर्म से नहीं है बल्कि क्रिया से है जो अपूर्णता का द्योतक नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) का अर्थ यदि कर्म-स्वातन्त्र्य से लिया जाय तब उसका सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) से विरोध हो सकता है, जैसा कि सम्भवत: अद्वैत-वेदान्त मानता है। किन्तु काश्मीर शैव-दर्शन में क्रिया स्वातन्त्र्य (Freedom-to) का अर्थ कर्म-स्वातन्त्र्य से नहीं अपितु क्रिया-स्वातन्त्र्य से है अत: इसका सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) से कोई विरोध नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) ही तो स्वातन्त्र्य का असली अर्थ है। यदि शिव में सृष्टयादि कर्म करने का स्वातन्त्र्य नहीं है तो शिव के सन्दर्भ में स्वातन्त्र्य शब्द का प्रयोग करना औपचारिकता मात्र ही होगी।

स्पन्द-सिद्धान्त

काश्मीर शैव-दर्शन में शिव का यह क्रिया-स्वातन्त्र्य काश्मीर शैव शास्त्र का स्पन्द-सिद्धान्त[१४] है। सामान्यत: समस्त मानवीय क्रियाओं को हम दो वर्गों में बांट सकते हैं। एक वह जो ऐच्छिक (Voluntary or volitional) होता है, उसमें कर्ता को प्रयास या आयास (effort) करना पड़ता है। इसी को कर्म कहा जाता है। दूसरा वह है जिसमें कर्ता को प्रयास नहीं करना पड़ता वरन् अपने आप होता है। इसमें कर्ता को आयास नहीं करना पड़ता, वरन् यह अनायास (effortless or automatic) होता है। इस अनायास क्रिया को पुन: दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक वह जो अनायास होते हैं किन्तु यान्त्रिक (mechanical) होते हैं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैसे स्वसन् क्रिया या सहज क्रिया (Reflex action) आदि। दूसरे, वह जो अनायास होते हैं किन्तु यान्त्रिक नहीं होते वरन् उसमें कर्ता का स्वातन्त्र्य बना रहता है जैसे आनन्द में उपस्थित क्रिया। काश्मीर शैव दर्शन में इसी को शिव का क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) कहा गया है जिसका पारिभाषिक नाम स्पन्द (Spontaneity or spontaneous activity) है।

इस स्पन्द की तीन-चार विशेषताएँ हैं जो शिव के क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) को एक ओर कर्म से तथा दूसरी ओर यान्त्रिक क्रिया से भिन्न करते हैं। स्पन्द में इच्छाशक्ति (will) को आयास (effort) नहीं करना पड़ता, वरन् यह अनायास स्वाभाविक रूप से होता है। दूसरे, उसमें कर्ता को बाध्यता नहीं होती, कर्ता उसे चाहे तो नहीं होने दे सकता है; इसीलिए स्पन्द को स्वातंत्र्य कहा जाता है। तीसरे, कर्ता को क्रिया का ज्ञान रहता है, यान्त्रिक-क्रिया जैसी अज्ञात नहीं रहती। चौथे, स्पन्द में आनन्द की अनुभूति होती है; वस्तुतः स्पन्द आनन्द का ही स्वाभाविक उच्छलन (Overflowing or emanation) है।

स्पन्द को आनन्द का सहज उच्छलन माना जाता है तथा सृष्टि को भी आनन्द का सहज उच्छलन ही कहते हैं।[१५] यहाँ यह भ्रान्ति हो सकती है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही है क्योंकि शिव का स्वरूप ही आनन्द है तथा आनन्द का सहज उच्छलन ही सृष्टि है। किन्तु सृष्टि शिव के स्वरूप में नहीं है क्योंकि आनन्द के इस उच्छलन में शिव का स्वातन्त्र्य निहित है। सृष्टि को आनन्द का सहज उच्छलन कहने का तात्पर्य यह है कि शिव अपने आनन्द के लिए ही सृष्टि करता है; उसमें शिव का कोई प्रयोजन निहित नहीं है। आनन्द का यह उच्छलन शिव के स्वरूपानन्द से ही होता है किन्तु उसमें शिव का स्वातन्त्र्य है।

शिव की इच्छा ही सृष्टि रूप में प्रकाशित होती है।[१६] काश्मीर शैव-शास्त्र के इस कथन से सामान्यतया यही अर्थ लगाया जाता है कि सृष्टि अव्यक्त रूप में शिव में नित्य विद्यमान रहती है।[१७] किन्तु शिव में सृष्टि का नित्य होना (पूर्व-स्थिति) नहीं माना जा सकता क्योंकि तब सृष्टि का प्रकाशन होना आवश्यक होगा तथा ऐसी स्थिति में शिव का स्वातन्त्र्य नहीं होगा। अतः शिव की इच्छा के ही सृष्टि-रूप धारण करने का तात्पर्य यह नहीं है कि सृष्टि अव्यक्त रूप से शिव में नित्य रहती है, बल्कि इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि सृष्टि किसी बाह्य उपादान से निर्मित नहीं है; यह शिवेच्छा से ही निर्मित है।

शिव की सिसृक्षा शिव के स्वरूप में ही उद्भूत होती है किन्तु शिव के स्वरूप में आवश्यक रूप से अनुस्यूत नहीं है। शिव की सिसृक्षा भी स्पन्द रूप है।[१८] इसका उत्थित होना शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि शिव में जो सृष्टि-विषयक इच्छा है, वह यद्यपि अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त होनेवाले ऐच्छिक कर्म (Voluntary action) जैसा प्रतीत होती है किन्तु यह अंग्रेजीवाला ऐच्छिक कर्म नहीं है क्योंकि शिव को आयास (effort) नहीं करना पड़ता, वरन् इच्छा स्वाभाविक रूप से अनायास शिव में उत्थित होती है। अतः यह शिव की स्पन्दात्मक इच्छा या संकल्प (Spontaneous willing) है न कि ऐच्छिक कर्म (voluntary action) है। स्पन्दात्मक इच्छा (Sportaneous willing) कहने में विरोधाभास (paradox) दीख सकता है किन्तु इसमें कोई वास्तविक विरोध नहीं है। शिव में सृष्टि की इच्छा उठती है इसलिए इसे इच्छा या संकल्प नाम दिया जाता है। किन्तु चूंकि यह संकल्प स्वाभाविक रूप से अनायास उठता है, इसलिए इसको स्पन्द कहा जाता है। तार्किक दृष्टि से ऐसा मानना संगत है कि मन में संकल्प अपने आप स्पन्द रूप में उठता है। अतः "स्पन्दात्मक संकल्प" (Sportaneous willing) कहने में कोई विरोध नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि को शिव का स्वभाव कहने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। एक दृष्टि से तो सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप भी कहा जा सकता है क्योंकि जो कुछ हो रहा है वह स्वरूप में ही तो हो रहा है, स्वरूप के बाहर कुछ भी नहीं है। हाँ, स्वरूप-शक्ति और शक्ति का स्तर-भेद करने की आवश्यकता तब पड़ती है जब हम इस प्रश्न को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि सृष्टि शिव का आवश्यक कार्य (necessary action) है या नहीं। यहाँ यह स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ती है कि सृष्टि शिव का आवश्यक कार्य नहीं है और इस अर्थ में सृष्टि उसका स्वरूप नहीं है।

— कैलाशपति मिश्र

शोध छात्र, दर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी (उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. काश्मीर शैव दर्शन से हमारा तात्पर्य "प्रत्यभिज्ञा दर्शन" से है।

२. स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्द रूपो। शि. दृ. वृ. पृ. ६

३. यथा न्यग्रोधवीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थः विश्वमेतच्चराचरम्॥ क्षेमराज (पराप्रा.)

४. एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विचित्रान्सृष्टिसंहारान्विधत्ते युगपद् विभुः॥
— बोधपंचदशिका, श्लोक ६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५. अतएव प्रतिक्षणं प्रमातृसंयोजनावियोजनावैचित्र्येण परमेश्वरो विश्वं सृष्टि संहारादिना प्रपंचयति।
– ई. प्र. वि. भा. प्र. १९,

६. देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा।
– माण्डूक्य कारिका १–९

७. शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।
– तंत्रालोक भा. ३, आ.५–४०

८. तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः'।
एक एव स्थितः शक्तः शिव एवं तथा तथा। शि. दृ. आ. ४–५

९. यदा स्वहृदयवर्तिनमुक्तरूपार्थतत्वं बहिःकर्तुमुन्मुखो भवति तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते। – महेश्वरानन्द, महार्थमंजरी

१०. न सन्न चासत्सन्न च तन्नोभयोज्झितम्।
दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तमम्। – तन्त्रालोक, २–२८

११. ई. प्र. वि. भा. १०, पृ. १४

१२. तस्य स्वतन्त्रभावो हि किं किं यन्न विचिन्तयेत्। – तन्त्रालोक, १–१३६

१३. नहि तस्य स्वतंत्रस्य कापि कुत्रापि खण्डना। – तंत्रालोक, २–४७

१४. श्री भगवतः स्वातन्त्र्य शक्तिः किंचिच्चलत्तात्मकधा त्वर्थानुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता। – स्पन्द निर्णय, पृ. १

१५. स्फारयस्याखिलमात्मना स्फुरन्, विश्वमामृशतिरूपमामृशन यत्स्वयंनिजरसेन घूर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम्। – शिवस्तो. १३–१५

१६. यदेतदाभासनं यासाविच्छा, सा क्रिया, अस्य भगवतोनिर्मातृत्वम्।
– भास्करी, भा. २, ४, श्लोक १

१७. परामर्शो हि चिकीर्षारूपेच्छा, तस्यां च सर्वमन्तर्मूतं निर्मातव्यमभेद कल्पे नास्ते। – ई. प्र. वि. मा. २, पृ. १८१

१८. स्पन्द निर्णय, पृ. ३।

० ० ०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मननात्मक स्वतःस्फूर्ति द्वारा मुक्ति*

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य (१८७५–१९४९) द्वारा सांख्य-दर्शन पर प्रस्तुत विचारों को संक्षेप में व्यक्त करना है। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने "इण्डियन इन्स्टीटयूट ऑफ फिलासफी, अमलनेर" में सन १९३७ में सांख्य-दर्शन पर ९ भाषण दिए थे। ये भाषण "स्टडीज इन सांख्य" के नाम से 'स्टडीज इन फिलासफी' जिल्द संख्या में संकलित हैं।[१] इन भाषणों के विषय हैं :–

१. दुःख अमङ्गल (ईविल) के रूप में,
२. मनन आध्यात्मिक प्रकार्य के रूप में,
३. आत्मा का शरीर : (दी बॉडी आफ दी सेल्फ)
४. कारणात्मक एवं अकारणात्मक अभिव्यक्ति
५. काल, दिक् एवं कार्य-कारण भाव
६. वस्तुगत तत्त्व
७. आत्मा या पुरुष
८. प्रकृति
९. गुणों से सम्बन्ध।

आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के ये भाषण सांख्य-दर्शन का एक मौलिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। भट्टाचार्य ने अपने इस प्रस्तुतीकरण में ईश्वर कृष्ण की 'सांख्य कारिका' तथा विज्ञान भिक्षु के 'प्रवचन-भाष्य' के साथ 'सांख्य-सूत्रों' का उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र के तथा अन्य भाष्यकारों के ग्रन्थों, विशेषकर युक्तिदीपिका का सन्दर्भ ग्रन्थों के रूप में उपयोग किया है। लेकिन उन्होंने सभी महत्वपूर्ण एवं विवादास्पद बिन्दुओं की सजीव एवं मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की है।

भट्टाचार्य इस मत के माननेवाले हैं कि सांख्य-दर्शन का बहुत-सा साहित्य अप्राप्य है। अतः प्राचीन काल से लेकर आज तक के टीकाकारों के बीच की कड़ियों या परम्परा में निरन्तरता दिखाई नहीं देती। सांख्य-दर्शन एक विशाल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिकल्पनात्मक (स्पेक्यूलेटिव) तत्वमीमांसीय तन्त्र हैं। अतः इस विषय पर कोई भी अध्ययन अस्पष्टता दोष से मुक्त नहीं हो सकता। दूसरी ओर सांख्य-दर्शन को एक सुव्यवस्थित एवं नवीन तन्त्र के रूप में प्रस्तुत करने की इच्छा एवं आवश्यकता इसलिए प्रतीत होती है कि सांख्य-दर्शन का बहुत-सा साहित्य काव्यात्मक एवं रहस्यात्मकता से पूर्ण है तथा टीकाकार काव्यात्मकता एवं रहस्यात्मकता से छुटकारा दिलाने में कोई सहायता नहीं करते। यह बात सही है कि सभी प्राचीन भारतीय दार्शनिक तंत्रों की रचनात्मक व्याख्या करने की आवश्यकता है। यहाँ रचनात्मक व्याख्या से तात्पर्य यही हो सकता है कि वर्तमान पदावलि में उन विचारों को प्रस्तुत किया जाए। दूसरे शब्दों में, किसी प्राचीन तन्त्र को समसामयिक समस्याओं के सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न किया जाए एवं प्रचलित पदावलि में प्रस्तुत किया जाए। भट्टाचार्य ने सांख्य-दर्शन की बीच की खोई हुई कड़ियों को अपनी कल्पना द्वारा जोड़ने का प्रयत्न किया है तथा उसे समसामयिक सन्दर्भ में रखने का प्रयास किया है। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य स्वयं यह बात स्वीकार करते हैं कि यह कार्य जोखिम का है लेकिन ऐसा भी है कि जिसे किये बिना सांख्य-दर्शन को समझा भी नहीं जा सकता। फलतः सांख्य-दर्शन की इस प्रकार की व्याख्या अपेक्षित भी है। सांख्य-दर्शन, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार, "एक निर्भीक एवं रचनात्मक दर्शन है" तथा "यह न तो धार्मिक अनुभव का स्पष्ट निरूपण है जैसा कि वेदान्त प्रमुख रूप से है और न ही यह न्याय के समान विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक है। यह परिकल्पनात्मक अन्तर्दृष्टि पर आधारित है तथा विश्लेषणकर्ता के सम्मुख प्रत्येक स्तर पर कल्पनात्मक आत्म-निरीक्षणात्मक प्रयास की माँग प्रस्तुत करता है।"[२]

सांख्य-दर्शन के बारे में आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के रचनात्मक विचारों को प्रस्तुत करने से पूर्व हम सर्वप्रथम सांख्य-दर्शन के कुछ केन्द्रीय प्रत्ययों का संक्षिप्त परिचय देंगे। इसके उपरान्त भट्टाचार्य द्वारा बताई गई उस पद्धति को प्रस्तुत करेंगे जिसे वे सांख्य-दर्शन को समझने के लिए अनिवार्य मानते हैं।

सांख्य-दर्शन के प्रमुख स्रोत हैं— कपिलकृत "सांख्य-प्रवचन सूत्र" तथा ईश्वरकृष्ण कृत 'सांख्य-कारिका'। सांख्य दर्शन के विद्वानों को सन्देह है कि 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' कपिल की रचना है या नहीं। इस बारे में प्रो. चन्द्रधर शर्मा[३] का मानना है कि कपिल, गौतम बुद्ध के पहले हुए तथा उनका ईश्वरवादी 'सांख्य-सूत्र' बहुत पहले ही लुप्त हो गया था। उनका मत है कि ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका, जो कि उपनिषदों की परम्परा से हटकर नास्तिकवादी एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है, सांख्य तन्त्र का प्रथम प्राप्य ग्रन्थ है। इन रचनाओं के अतिरिक्त गौड़पाद का 'सांख्यकारिका भाष्य' वाचस्पति मिश्र की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'तत्वकौमुदी' तथा विज्ञान भिक्षु का 'सांख्य प्रवचन भाष्य' सांख्य दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनमें 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य' ईश्वरवादी दृष्टिकोण की ओर उन्मुख हैं। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने इनमें किसी भी ग्रन्थ को एकमात्र आधार नहीं माना है बल्कि उन्होंने इस दर्शन की केन्द्रीय समस्याओं की सभी स्रोतों से व्याख्या करने का प्रयास किया है।

कपिल अपने सूत्र का प्रारम्भ दुःख (पेन) की समस्या से करते हैं। तीनों प्रकारों के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए उसे जानना मनुष्य का चरम लक्ष्य (पुरुषार्थ) है[४] तथा इस पुरुषार्थ का क्या अर्थ है, इसके वर्णन से सूत्र का समाप्ति होती है। दुःख के बारे में आप कोई भी दृष्टिकोण लें। प्रकृति एवं पुरुष के बीच भेद न करना बन्धन का कारण है तथा इस बन्धन को नष्ट करना कठिन है। पुरुष तथा प्रकृति के बीच पूर्ण एवं स्पष्ट भेद करना ही पुरुषार्थ है।[५]

सांख्य दर्शन में, निम्न प्रमुख बिन्दुओं में निहित तत्त्वों का विश्लेषण किया गया है—

१. पुरुष एवं प्रकृति (आदि शाश्वत तत्व),

२. अविभेदीकरण का कारण,

३. अ-विभेदीकरण के परिणाम,

४. इसके परिणाम अर्थात अविभेद द्वारा उत्पन्न बन्धन को नष्ट करने के साधन।

५. पूर्ण ज्ञान का स्वरूप जो (प्रकृति एवं पुरुष) विभेदीकरण (अर्थात् पुरुषार्थ) हैं।

प्रकृति— दो शाश्वत तत्वों में से एक हैं। इसकी सत्ता एवं स्वरूप के बारे में इससे उत्पन्न विकृतियों (इवोल्युट्स) द्वारा माना जाता है। यह प्रधान अव्यक्त, अनुमेय, जड़, एवं शक्ति है। प्रकृति के स्वरूप एवं इसकी सत्ता के बारे में ईश्वरकृष्ण की 'सांख्य-कारिका' की नवीं एवं पन्द्रहवीं कारिकाएँ द्रष्टव्य हैं।[६]

सांख्य-दर्शन 'सत्कार्यवाद' में विश्वास करता है। कार्य-कारण के सम्बन्ध में सांख्य का मत है कि सभी भौतिक कार्य (वस्तुएँ) प्रकृति के परिणाम (मॉडीफिकेश) हैं[७]। अपने इस मत की पुष्टि में सांख्य-दर्शन ने कई युक्तियाँ दी हैं (देखिए कारिका ९)। 'सांख्य-कारिका' की नवीं कारिका में जो युक्तियाँ दी गई हैं ईनके अनुसार परिणाम या उत्पाद वस्तुएँ अव्यक्त के, जिसे प्रधान एवं प्रकृति कहा गया है, मात्र व्यक्त रूप हैं।

पुरुष, प्रकृति के तीन गुणों— सत्व, रजस् एवं तमस्—की साम्यावस्था में हलचल करता है जिससे प्रकृति में विकास या परिणाम होता है। यह हलचल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनन (रिफ्लैक्शन) या सान्निध्य के कारण होती है। सांख्य-दर्शन में पुरुष की सत्ता के लिए भी बहुत-सी युक्तियाँ दी गई हैं।[८] पुरुष सभी प्रकार के परिणामों (विकारों) से मुक्त एवं शुद्ध हैं।

पुरुष विशुद्ध एवं स्वतन्त्र चेतना है। यह दिक्, काल, गुण (मेरिट) अवगुण, बन्धन एवं मोक्ष से परे है लेकिन अज्ञान के कारण पुरुष स्वयं को बुद्धि से जो स्वयं में उसका ही मनन है, अहं-बोध (आई-कान्श्यसनैस) से तादात्म्य करता है। बन्धन, आत्म एवं अनात्म में भेद न करने के कारण होता है। क्योंकि बन्धन अज्ञान के कारण होता है अत: मोक्ष ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, अज्ञान केवल ज्ञान के द्वारा ही दूर हो सकता है।[९] यही नहीं, प्रकृति की मुक्ति के लिए कार्य करता है।[१०] विकास के सभी अंग (चरण) पुरुष के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं।[११] पुरुषार्थ– जो मनुष्य का चरम लक्ष्य है– मोक्ष दिलाने-वाले ज्ञान की प्राप्ति है।

१. मनन का स्वरूप

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने सांख्य-दर्शन के प्रमुख (उपरोक्त) तत्वमीमांसीय प्रत्ययों पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। उनके द्वारा प्रत्येक प्रत्यय पर दिए गए नवीन विचारों को प्रस्तुत करना इस लेख में सम्भव नहीं है। यहाँ हम केवल एक ही बिन्दु– सांख्य-दर्शन में मनन का स्वरूप– पर उनके विचारों को प्रस्तुत करेंगे। इस बिन्दु पर उन्होंने अपनी 'स्टडीज इन साँख्य' में बहुत बल दिया है।

प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था मात्र पुरुष के सान्निध्य से भङ्ग हो जाती है। सान्निध्य की कभी-कभी मनन के रूप में व्याख्या की जाती।[१२] कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य इसे मुक्त करनेवाली प्रक्रिया के रूप में (इज ए फ्रीइंग प्रोसेस) वर्णित करते हैं। मनन स्वयं को शरीर से स्वतन्त्र करता है अथवा स्वयं आत्मा के सूक्ष्म शरीर के रूप में यह (मनस) स्वयं को मुक्त करता है (१४३/१७)[१३] अत: कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार सांख्य का पुरुषार्थ मनन द्वारा प्राप्त किया जाता है।

मनन द्वारा पुरुषार्थ प्राप्त करने की प्रक्रिया को हम, जैसा कि कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य मानते हैं, दुख की समस्या से प्रारम्भ करते हैं। कपिल (कारिका १·१) के अनुसार जगत् तीन प्रकार के दुःखों– आध्यात्मिक (मानसिक एवं शारीरिक दुःख), अधिभौतिक (प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न दुःख) तथा अधिदैविक (अति भौतिक कारणों से उत्पन्न दुःख) से युक्त है। मनुष्य का लक्ष्य इन दुःखों एवं पीड़ाओं से छुटकारा प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करना है।

दुःख से मुक्त होने की कामना (विश) दुःखी की अनुभूति पर मनन करने की कामना दुःख का निर्माण करती है। जिसे दूर करने की कामना नहीं की जाती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह दुःख अनुभव नहीं किया जाता । अतः कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार, "दुःख पर मनन इस अर्थ में बुराई (ईविल) है, दुख की सम्भावना है (१ : १३९–२) । कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य दो प्रकार के दुखों में भेद करते हैं– (अ) वह जो मनन द्वारा व्यक्त होता है तथा द्वितीय (ब) क्योंकि यह मनन ही है जो दुःख की भावना को उत्पन्न करता है (लाता है) जो स्वयं में दूसरा दुख या बुराई (ईविल) है । दुःख के इन दो भावों के अनुरूप वे दो प्रकार की कामनाओं में भेद करते हैं–(अ) दुःख से मुक्त होने की कामना, (ब)– दुःख की सम्भावना से मुक्त होने की इच्छा । प्रथम प्रकार की कामना को वे पार्थिव या लोकपरक (सैक्यूलर) कामना कहते हैं और द्वितीय प्रकार की कामना को वे आध्यात्मिक कामना से अभिहित करते हैं ।

भट्टाचार्य के अनुसार "कामना करने का अर्थ है यह सोचना कि जिसकी कामना की जाती है उसे प्राप्त किया जाता है" । दूसरे शब्दों में, मनन यह स्पष्ट करता है कि परम स्वतन्त्रता एवं दुःख की सम्भावना से स्वतन्त्रता अर्थात् मनन को प्राप्त किया जा सकता है । आध्यात्मिक कामना की दृष्टि से यह स्वतन्त्रता एक परम तथ्य नहीं है क्योंकि यह मनन ही है जो इसे निर्मित करता है। लेकिन सांख्य के यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार दुःख ही सत् है । फिर भी सांख्य इसके भ्रमात्मक पहलू को स्वीकार करने की त्रुटि नहीं करता । दुःख की अनुभूति में निहित भ्रम बौद्धिक है । "दुःख पर मनन" में यह निहित है कि मैं दुःख से मुक्त हो सकता हूँ तथा आश्चर्य भी करता हूँ कि मैं अब तक इससे प्रभावित हूँ । कोई व्यक्ति दुःख से प्रभावित होने को अस्वीकार कर सकता है । खैर, दुःख का भाव आत्मा (सेल्फ) का है तथा यह आत्मा का विरोधी भी है क्योंकि आत्मा दुख के भाव का विरोध करता है । इस सन्दर्भ में कोई व्यक्ति कह सकता है कि आत्मा स्वयं का विरोध करता है तथा इस प्रकार वह स्वयं के लिए विषय तथा अनात्मा (नॉट-सेल्फ) है । दुख के भाव का यह विषयकरण बौद्धिक भ्रम है (१ : १३८–८)

इस प्रकार भट्टाचार्य के अनुसार अनुभूत दुख (फैल्ट पेन) एक ओर मानसिक तथ्य है और आत्मा का भ्रमात्मक लगाव (१ : १३९–१०)। अतः वास्तविक दुख से मुक्ति स्वयं मनस का रागात्मक (अफैक्टिव) अनुभव है तथा दुख की सम्भावना से मुक्ति इसकी परम स्वतन्त्रता है । प्रथम स्वतन्त्रता पूर्णता के लिए द्वितीय स्वतन्त्रता की माँग करती है और सतत इसके साथ है ।

जिस बिन्दु पर भट्टाचार्य बल देना चाहते हैं वह है मनन द्वारा आन्तरीकरण प्रक्रिया की निरन्तरता । भट्टाचार्य यह बताते हैं कि सांख्य आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के साथ पार्थिव या लोकपरक (सेक्यूलर) स्वतन्त्रता की निरन्तरता को स्वीकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करता है। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता स्वतन्त्र प्रक्रिया के रूप में अहंगत (ईगोइस्टिक) कामना या अहंकार नहीं है। यह केवल मनस को आत्मा से विभेदित करती है।

भट्टाचार्य आध्यात्मिक प्रक्रिया का मनन से तादात्म्य करते हैं। उसके अनुसार मनन से अथवा दुख की सामान्य सम्भावना से आत्मा को स्वतन्त्र करने की आध्यात्मिक प्रक्रिया मनन ही है और कुछ नहीं। तथा पहले से ही अहंकार या अहम्गत मनोवृत्ति, जो संकल्प को प्रतिबन्धित करती है, से ऊपर है। लेकिन इसी सन्दर्भ में भट्टाचार्य का कहना है कि मनन या ज्ञान स्वतन्त्रता के लिए पूर्ण साधन नहीं है। यह केवल उसका मात्र प्रारम्भ है।

२. सांख्य दर्शन में मनन का स्थान

मनुष्य का स्वरूप देहयुक्त है अतः दुख ही एक ऐसी चीज़ है जिसे मननात्मक कामना में सर्वप्रथम जाना जाता है। इसीलिए कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य कहते हैं कि मनन दुख के भाव पर मनन के रूप में प्रारम्भ होता है। उनका मानना है कि मनन प्राथमिक रूप से दुःख पर मनन है। लेकिन यह सभी स्तरों पर स्वतन्त्रता दिलानेवाली प्रक्रिया है (१ : १४३–१६)। सांख्य दर्शन में मनन स्वयं से ज्ञातृत्व प्रक्रिया की दशा में, एक अनुभव है।

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य पुरुष एवं प्रकृति के बीच बताये गये भेद के आधार पर भी मनन के प्रत्यय का विश्लेषण करते हैं।

पुरुष के ज्ञान में मनन की भूमिका

सांख्य में पुरुष की विवेचना "विशुद्ध चेतना" के रूप में की गई है। कुछ विद्वानों का[१४] मत है कि पुरुष के इस प्रकार के प्रत्यय को स्वीकार करते हुए सांख्य पुरुषबहुत्व (या आत्मबहुत्व) के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं कर सकता। लेकिन भट्टाचार्य यह सिद्ध करने का प्रयत्न ही नहीं करते कि सांख्य को सामान्य परम पुरुष (यूनीवर्सल एब्सोल्यूट पुरुष) के प्रत्यय को तार्किक-रूप से अन्त में स्वीकार करना चाहिए। लेकिन वे यह मानते हैं कि "मुक्त आत्म के रूप में अथवा इसके स्वतन्त्र वास्तविक स्वरूप में, आत्म अन्तर्वस्तु रहित चेतना के रूप में विचार किया जाता है। आत्म विशुद्ध चेतना है। वह न तो शरीरयुक्त चेतना है और न ही किसी विषयक के रूपवाले अन्तर्वस्तु की चेतना है (१ : १९२–११६-१७) वास्तव में देखा जाए तो मनस् के विभिन्न परिष्कार आत्म के अंश नहीं हैं बल्कि विषय हैं जिनके बारे में विषयी को चेतना होती है। अतः सभी विषयों से पृथक् चेतना ही आत्म का अनिवार्य स्वरूप है।

भट्टाचार्य के अनुसार 'आत्म, मनन में तत्काल जाना जाता है, वास्तव में उसका अनुमान नहीं किया जाता' (१ : १९२–११६–१७)। इस सन्दर्भ में मनन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का अर्थ है विवेक का आवसानिक (टरमीनल) मनन। विवेक के इस आवसानिक मनन के लिए स्वतन्त्र या मुक्तात्मा अनिवार्यतः अन्तर्वस्तु रहित ज्ञान के रूप में प्रकट है। लेकिन ज्ञाता के रूप में आत्म का अनुमान किया जाता है (देखिये कारिका–१९)। इसका अनुमान प्रमुख रूप से शरीर के एकत्व (यूनिटी) की व्याख्या के रूप में किया जाता है।

मुक्तात्मा को लेकर दो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं: १. यह क्यों कहा जाता जाता है कि मुक्तात्मा का अनुमान नहीं किया जा सकता, तथा २. क्या विशेष आत्माएँ मुक्ति के उपरान्त बनी रहती हैं ?

प्रथम प्रश्न के उत्तर में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य यह कहेंगे कि अपने को मुक्त करने की प्रक्रिया या मनन की अन्तिम अवस्था में महत् या बुद्धि का जिसमें पुरुष के बारे में मनन देहयुक्त अहं (या अहंकार) हो जाता है, प्रकृति में लय हो जाता है और आत्मा की मुक्ति के रूप में परिणत हो जाता है। जब अन्तिम तत्व (महत् या बुद्धि) का लय हो जाता है तब विषय-चेतना नहीं रहती है। जहाँ चेतना का विशिष्टीकरण नहीं होता वहाँ अनुमान सम्भव नहीं है। मुक्त आत्मा को अन्तर्वस्तु रहित विशुद्ध चेतना के रूप में समझा जाता है। अब यह साक्षिन् नहीं है क्योंकि अब इसकी चेतना के लिए कोई विषय नहीं होता।

द्वितीय प्रश्न का उत्तर इस प्रकार होगा : क्योंकि मुक्त आत्मा स्वयं चेतना है, इसकी स्वयं की चेतना इसकी मननात्मक चेतना है। इस मननात्मक चेतना की सत्ता केवल बुद्धि में ही व्यक्त होती है। स्वयं में यह अचेतन तथा अव्यक्त है। दूसरे शब्दों में, यह चेतन रूप में वैयक्तिक नहीं हो सकती तथा जब बुद्धि का लय हो जाता है तब इसे अपनी स्वयं की सत्ता का ज्ञान नहीं रहता। तब यह वैयक्तिक है या नहीं, ऐसा कभी भी नहीं कहा जा सकता। अतः इस अर्थ में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य भी अन्य वेदान्तियों के समान, यह विश्वास करते हैं कि "वेदान्त एवं सांख्य के बीच इस बिन्दु को लेकर जो मतभेद है वह समाप्त हो जाता है। (१ : १९७–१२६)

सांख्य के इस मत को कि प्रकृति का कोई भी तत्व (बुद्धि भी नहीं) उस वैयक्तिकता को जानने में सहायता नहीं कर सकता है, भ्रमात्मक है, यह कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य स्वीकार करते हैं। इस प्रकार का मत अद्वैत वेदान्त का है। अद्वैत वेदान्त वैयक्तिकता को युक्ति के आधार पर अस्वीकार करने की कोशिश नहीं करता। इसके लिए (वैयक्तिक आत्म की अस्वीकृति के लिए) वह आध्यात्मिक भाव या शास्त्र के आत्मतत्व को स्वीकार करता है। (१९८–१२७)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अतः हम देखते हैं कि आत्म के बारे में अद्वैत के निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए, सांख्य के मनन को आध्यात्मिक सहजबोध में परिवर्तित करना होगा।

प्रकृति के ज्ञान में मनन की भूमिका

हम ऊपर देख चुके हैं कि पुरुष का सीधा सम्बन्ध एकमात्र बुद्धि से होता है। बुद्धि का विवेक या मनन ही इसे पुरुष से विभेदित करता है। इस विभेदीकरण प्रक्रिया में बुद्धि का लय हो जाता है तथा इसके पुरुष के साथ अव्यक्त भेद स्पष्ट होते हैं। तत्वों के अव्यक्त भेद के क्षेत्र में मनन का कोई स्थान नहीं है। (१ : १९८–१२७)।

मनन की तत्वों की ओर उर्ध्वगामी गति का स्थान प्रकृति के विकास में ही है। साख्य ने प्रकृति को, एस. के. मिश्र[१५] के अनुसार, यथार्थवादी अर्थ में ही समझा। प्रकृति के वस्तुगत तत्वों की व्याख्या करते समय भट्टाचार्य ने भी सांख्य के इस यथार्थवादी दृष्टिकोण को बनाये रखा। यही कारण है कि ज्ञातृत्व-प्रक्रिया को उन्होंने एक यथार्थवादी की गम्भीरता के समान ही लिया। भट्टाचार्य ने मनन एवं ज्ञातृत्व प्रक्रिया (नोइंग प्रोसेस) के स्तरों का निम्न प्रकारेण वर्णन किया है-

"सभी ज्ञान मननात्मक है अर्थात इसमें आत्म से विभेदीकरण निहित है। हम बाह्य विषय को भौतिक शरीर से (सदेह) संयुक्त के रूप में आत्म से विभेदीकरण करने से प्रारम्भ करते हैं। इसके उपरान्त भौतिक शरीर (देह) को आत्म से जो भौतिक देह से संयुक्त है अलग करते हैं। इस प्रकार भौतिक शरीर (देह) को मुझे (मी) के रूप में न जानकर अवैयक्तिक ब्रह्माण्डीय (कॉसमिक) भूत के रूप में जानते हैं। इसके उपरान्त हम उत्तरोत्तर रूप से मानसिक शरीर को संकल्प के रूप में आत्म से अलग करते हैं, इस प्रकार एक ओर ब्रह्माण्डीय तन्मात्रा का प्रत्यय प्राप्त हैं तो दूसरी ओर ब्रह्माण्डीय इन्द्रिय का; और तब ज्ञातृत्व आत्म के रूप का तथा उससे ब्रह्माण्डीय तत्व अहंकार का तथा अन्त में ब्रह्माण्डीय तत्व के रूप में बुद्धि से युक्त विशुद्ध आत्म का विचार आता है। यह द्वितीय मनन अथवा विभेदीकरण क्रमशः उत्तरोत्तर रूप (प्रोग्रैसिव) में होता है लेकिन मानसिक शरीर तब तक रहता है जब तक बुद्धि स्वयं विषय के रूप में जानी जाती है। अपने विशुद्ध भावों में विशुद्ध आत्म से अलग के रूप में बुद्धि का ज्ञान विवेक है जो मनन का लक्ष्य तथा सभी मनन में भौतिक है। वह मनन जो मानसिक शरीर को एक विषय बनाता है विभिन्न स्तरों में एकाकी प्रक्रिया है। शरीर अपना आकार का त्याग तब तक नहीं करता जब तक विशुद्ध बुद्धि इसे नहीं छोड़ती (१ : १९१, ९२–११८)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्म एवं प्रकृति के तत्वों को उत्तरोत्तर विभेदीकरण तथा उपनिषदीय तत्वमीमांसा के प्रति मनोवैज्ञानिक दृष्टि में आत्मा की विशुद्ध चेतना के बारे में विकासात्मक परिभाषा के बीच समानता देखी जा सकती है। लेकिन इनमें महत्व-पूर्ण अन्तर भी है। प्रथम सांख्य में यह मनन द्वारा स्वतन्त्रता (मुक्ति) प्रक्रिया है जबकि द्वितीय में मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं द्वारा आन्तरीकरण प्रक्रिया है। अन्तर कुछ भी हो लक्ष्य (मननात्मक प्रक्रिया द्वारा निष्कर्ष पर पहुँचना) समान ही है। इस बात को ध्यान में रखते हुए कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने कहा था कि, "दर्शन मननात्मक चेतना से प्रारम्भ होता है।" (२ : १२५–१)

मनन पर मनन

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, दर्शन मनन से प्रारम्भ होता है। यह मनन में ही विकसित होता है तथा मनन में ही इसकी परिसमाप्ति होती है। अतः यहाँ यह आवश्यक है कि हम भट्टाचार्य के मनन के प्रत्यय को कुछ स्पष्ट करने का प्रयत्न करें।

१. भट्टाचार्य का एक मत यह है कि मनन दुख पर मनन के रूप में प्रारम्भ होता है। (१ : १४३–१६)

२. "मनन सभी स्तरों पर मुक्ति दिलानेवाली प्रक्रिया है तथा ज्ञातृत्व प्रकार्य है।" (१ : १४३–१७)

३. "सांख्य दर्शन के लिए मनन स्वाभाविक एवं आध्यात्मिक दोनों ही है।" (१ : १४४–१९) सांख्य दर्शन में दुख से मुक्ति पाने की स्वाभाविक ईहा (सचेत इच्छा) को भट्टाचार्य चेतन कामना एवं प्राकृतिक मनन के रूप में व्याख्यायित करते हैं। आध्यात्मिक मनन से उनका तात्पर्य मनस की आत्म-अनुकूलन प्रक्रिया की अवसायी या अन्तिम अवस्था है (१।१४५–२०) : विभिन्न तत्वों में प्रकृति की अभिव्यक्ति निम्नगामी गति है जो पुरुष के मनन द्वारा होती है। इसे आत्म की भोग की ओर प्रगामी गति के रूप में समझा जाता है तथा प्राकृतिक जीवन कहा जाता है। आध्यात्मिक मनन मुक्ति दिलानेवाली प्रक्रिया है, प्राकृतिक जीवन से छुटकारा दिलाता है तथा ऊर्ध्वगामी गति का परिचायक है (१ १४४–१८)। मुक्ति की ओर मनन की प्रतिगामी गति तथा (आत्मा की) भोग की प्रगामी गति को लेकर दो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं–

(अ) क्या आध्यात्मिक गति तथा प्राकृतिक जीवन एक ही क्रम में हैं?

(ब) क्या यह जीवन से उत्पन्न होती है अथवा जीवन में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती है?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इन समस्याओं का भट्टाचार्य यह कहकर समाधान प्रस्तुत करते हैं कि वेदान्त के अनुसार मुक्ति की ओर मननात्मक प्रक्रिया आश्चर्यजनक (स्व प्रवृत्ति) रूप से होती है और प्राकृतिक जीवन का अङ्ग नहीं है जबकि सांख्य दर्शन के अनुसार यह जीवन से उत्पन्न होती है तथा उससे अबाधित (१ : १४६–२३)। जीवन से, जो कि स्व-उत्पन्न है, भिन्न मनन का कम-से-कम प्रारम्भ तो है।

४. यह हमारे अनेक अनुभवों में से एक अनुभव है। "यह न केवल असंयमी प्रयास है लेकिन अनुभव के लिए नवीन नहीं है।" जिसने मनन प्रारम्भ कर दिया है तथा यह समझ लिया कि मनन स्वाभाविक है, उसके लिए सांख्य का केवल इतना निर्देश है (यदि उसे निर्देश कहा जा सके तो) कि यदि संकल्प है तो स्वयं उसे अवांछनीय दुख के रूप में मानकर उसे विषय रूप में नहीं देखना चाहिए और अधिक व्यक्त आध्यात्मिक दृष्टि के सन्दर्भ में, निर्देश यह है कि प्रकृति अथवा जीवन के प्रति वितृष्णा-भाव अथवा सन्यास-भाव से बचना चाहिए। मनन पर जोर देने की आवश्यकता नहीं है, न ही उसके होने से उससे चमत्कृत होने की जरूरत है। यह मानना चाहिए कि वह स्वभाववत् है तथा वह स्वयं अपने को चरितार्थ कर लेगा। जिसमें मनन नहीं है उसे मनन के लिए उकसाना निरर्थक है, परन्तु जिसमें वह आविर्भूत हुआ है, परन्तु अपने पूर्ण परिमाण में नहीं, वह उसको और अधिक गहन करने में इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता है कि वह उसे स्वतः अपनी पूर्णता प्राप्त करके दे तथा उसे गलत दिशा देने से बचे अथवा उस पर जोर डालकर उसे लुप्त न होने दे। मनन के अन्तर्विषय पर ध्यान लगाने का संकल्प तो किया जा सकता है परन्तु ऐसा ध्यान स्वयं मनन को गहराई नहीं देता। यद्यपि मनन अपनी स्वतःस्फूर्त (स्पॉन्टेनियस) गहराई से अपनी अन्तर्वस्तु को स्वयं स्थिर करता है अथवा उसका उद्घाटन करता है (१ : १४६–४७–२४)। अतः सांख्य में मनन की स्वाभाविक आत्मोन्मुखता की अवधारणा है। मनन की आध्यात्मिक प्रक्रिया प्रारम्भ से ही अहंकार से ऊपर है। यह आध्यात्मिक मुक्ति-प्रक्रिया के रूप में तत्वमीमांसीय ज्ञान या साधन है। उदाहरण के रूप में इन्द्रिय से मुक्त करना आत्म को (जिससे शरीर प्रगामीरूप से विलग है के रूप में) जानना है। आत्म उससे जो भी शरीर के रूप में स्थित है विलग है। अतः मनन में दो बातें निहित हैं–

१. शरीर से आत्म को मुक्त करना, तथा
२. तत्वमीमांसीय सत्ताओं को जानना

मनन की दो प्रक्रियाएँ– नाम्नः– मुक्त करना तथा ज्ञान, धर्म एवं दर्शन एक दूसरे की साधन नहीं हैं। प्रत्येक स्वयं से एक दूसरे में प्रवेश करती हैं। मनन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के बारे में निष्कर्ष रूप से भट्टाचार्य कहते हैं कि सांख्य दर्शन में विषय को आत्म से पूर्णरूपेण पृथक् रूप में जानने के अतिरिक्त मुक्त करना प्रक्रिया नहीं है तथा आत्मा से केवल शरीर ही भ्रमवश सम्मिलित किया जाता है। (१ : १४७–४८–२६)

अद्वैत दर्शन पर इस दृष्टिकोण को लागू करना इतना स्पष्ट है कि इस पर और अधिक विवेचना की आवश्यकता नहीं है।

मनन में अनुमान, आस्था एवं योग

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का मत यह है कि अनुमान, आस्था एवं योग जिनके द्वारा तत्वों को जाना जाता है, सभी अनुभवातीत मनन या स्वाभाविक आध्यात्मिक प्रक्रिया में निहित हैं। अनुभवातीत मनन, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, सांख्य तत्वमीमांसा का साधन है (१ : १४९–२९)। इस प्रक्रिया में यह आस्था निहित है कि इस (प्रक्रिया) का प्रातिभज्ञान की ओर निर्बाध मार्ग है। जिस चीज का प्रातिभज्ञान किया जाता है वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो प्रदत्त है केथवा आन्तरिक प्रत्यक्ष में अन्तर्निहित है। जिस प्रातिभज्ञान की यहाँ बात की जा रही है वह तत्वमीमांसीय सत्ताओं के नारे में प्रतिपत्तिमूलक निश्चय है तथा इसे लौकिक प्रमाणों (ज्ञान के साधनों) द्वारा नहीं समझा या सिद्ध किया जा सकता। भट्टाचार्य इस प्रकार के विश्वास को शास्त्र में आस्था कहते हैं। (१ : १४९–२९)

श्रुति में विश्वास

शास्त्रों में आस्था का स्वरूप क्या है? क्या इसे प्रागानुभाविक रूप से स्वीकार किया जाता है? भट्टाचार्य की दृष्टि में द्वितीय प्रश्न का उत्तर होगा– 'नहीं'। मननात्मक प्रक्रिया से उत्पन्न आस्था को विचार के समक्ष विचार से स्वतन्त्र एक प्रस्तुति के रूप में समझा जाना चाहिए। इस प्रकार की प्रस्तुति की सम्भावना में विश्वास श्रुति में विश्वास है। किसी अन्तर्वस्तु में सत् के रूप में यह मननात्मक विश्वास तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा अज्ञेय वास्तव में एक ऐसी चीज है जो अभिव्यक्त होता है "क्योंकि जो इन्द्रियों के सम्मुख प्रस्तुत नहीं है वह अनभिव्यक्त है।" (१ : १५०–४०)

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि भट्टाचार्य के अनुसार मनन दर्शन के लिए सब कुछ है (बी ऑल एन्ड ऑल) प्रातिभज्ञान प्रतिपत्तिमूलक निश्चय है अथवा तत्वमीमांसीय सत्ताओं में आस्था है तथा इस प्रकार की आस्था विचार के लिए कुछ अन्तर्वस्तु की प्रस्तुति है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा इसे नहीं जाना जा सकता। यह शास्त्र में अथवा श्रुति में आस्था है।

– के. एल. शर्मा

दर्शन विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

* कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने अपने एक लेख " दी कन्सैप्ट ऑफ दी एब्सोल्यूट एण्ड इट्स् ऑलटरनेटिव फॉर्मस् " में चेतना के तीन स्वरूप प्रकारों- ज्ञान प्रक्रिया (नोइंग), भाव तथा संकल्प के माध्यम से तीन वैकल्पिक पर, क्रमशः सत्य, मूल्य एवं स्वतन्त्रता को मनन द्वारा कैसे प्राप्त किया जा सकता है, पर चर्चा की है। दूसरे शब्दों में ज्ञान-प्रक्रिया द्वारा जो ' परम ' है, प्राप्त होता है यह सत्य है, भाव का परम ' मूल्य ' है तथा संकल्प का ' परम ' स्वतन्त्रता है। परम को प्राप्त करने की प्रक्रिया में ' मनन ' (रिफ्लैक्शन) की महत्वपूर्ण भूमिका है। मनन के कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य स्तर स्वीकार करते हैं। ' स्टडीज इन सांख्य ' नामक लेख का मुख्य उद्देश्य ' ज्ञान प्रक्रिया द्वारा मुक्ति ' को बतलाया है। ' स्टडीज इन योग फ़िलासफी ' में उन्होंने संकल्प द्वारा मुक्ति (या स्वतन्त्रता) को दर्शाया है। अपने एक अन्य लेख ' दी कान्सैप्ट ऑफ रस ' में उन्होंने भाव द्वारा स्वतन्त्रता पर चर्चा की है। कृ. च. भट्टाचार्य के ये लेख उनकी पुस्तक **स्टडीज इन फिलासफी** जिल्द – २ में संकलित हैं। मेरे इस लेख का उद्देश्य कृ. च. भट्टाचार्य द्वारा ' स्टडीज इन सांख्य ' लेख में वर्णित ' स्वतन्त्रता या मुक्ति को मनन प्रक्रिया द्वारा किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ' कि व्याख्या प्रस्तुत करना है। जहाँ तक मुझे ज्ञान है सांख्य-दर्शन को समझने के लिए कृ. च. भट्टाचार्य ने जो पद्धति दी है उस पर समकालीन भारतीय दार्शनिकों का ध्यान नहीं गया है।

१. भट्टाचार्य कृष्णचन्द्र : स्टडीज इन फिलासफी जि. १, (सम्पादक गोपीनाथ भट्टाचार्य), प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, कलकत्ता (९५६) पृ. १२५–२२४

२. वही, प्राक्कथन।

३. शर्मा, चन्द्रधर– ए क्रिटीकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलासफी (राइडर एण्ड कम्पनी, लन्दन १९६०) पृ. १५०

४. कपिल : दी सांख्य फिलौसफी ऑफ कपिल (अनुवादक : जगमोहन लाल, ऑरफियस पब्लिशिंग हाउस, एडिनबरो, १९२१, पृ. १)

५. वही, पृ. २५६

६. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वस्य सम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्॥ ९॥

७. भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारण कार्य विभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य॥ ५॥

८. सन्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषो ऽस्ति भोक्तृभावात्कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥ १७॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

९. धर्मेण गमनमूर्ध्वंगमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

१०. औत्सुक्यनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

११. स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकांवृत्तिम्।
पुरुषार्थ एवं हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम् ॥ ३ ॥

१२. कारिका, २०

१३. उपरोक्त संकेतों का अर्थ है प्रथम जिल्द संख्या, पुनः पृष्ठ संख्या तथा फिर पैराग्राफ संख्या। अतः इससे तात्पर्य है जिल्द सं. १, पृष्ठ संख्या १४३ के १७ वें पैराग्राफ को देखें। आगे भी इसी प्रकार के संकेतों का प्रयोग किया गया है।

१४. सी. डी. शर्मा, वही, पृ. स. १६८ तथा व्ही. वी. श्रीखण्डे : रीसैन्ट इण्डियन फिलौसफी (सं.– कालीदास भट्टाचार्य) पृ. सं. २८५–८६

१५. रीसेण्ट इण्डियन फिलौसफी (सं. कालीदास भट्टाचार्य) पृष्ठ १३६

□ □

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिन्दू परम्परा में कर्म की अवधारणा

I

भारतीय मूल की दार्शनिक एवम् धार्मिक परम्पराओं में कर्म सम्बन्धी अवधारणा अपना एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। बल्कि ऐसा कहा जा सकता है कि कुछ अन्य तथ्यों के साथ कर्म की अवधारणा की उपस्थिति ही हिन्दू, बौद्ध, जैन तथा सिख जैसे भारतीय मूल के धर्मों को पाश्चात्य मूल के धर्मों की तुलना में एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है। यों तो अपने साररूप में यह अवधारणा उपर्युक्त सभी परम्पराओं में प्रायः एक ही रूप में क्रियाशील मानी जाती है, तथापि इनके विशिष्ट सन्दर्भों में इसकी कुछ विशेषताएँ और भिन्नताएँ भी हैं। इसलिए इसके समस्त पहलुओं के पूर्ण विवेचन के लिए हमें उपर्युक्त परम्पराओं में से प्रत्येक के अलग-अलग सन्दर्भ में जाना होगा। परन्तु यहाँ हम अपना सम्बन्ध सिर्फ हिन्दू धर्म एवम् दर्शन में व्याप्त इस अवधारणा के स्वरूप एवम् इसके कुछ विशिष्ट पहलुओं के विश्लेषण से ही रखेंगे, अन्य परम्पराओं में निहित इसके स्वरूप आदि से नहीं।

'कर्म' शब्द का साधारण अर्थ तो है क्रिया या कार्य, परन्तु हिन्दू आदि परम्पराओं में जिस सन्दर्भ में कर्म-सिद्धान्त की चर्चा की जाती है उस सन्दर्भ में इस शब्द के साथ अपने साधारण अर्थ के अलावा कई अन्य महत्त्वपूर्ण तथा सारगर्भित पहलू सम्मिलित हो जाते हैं और कर्म की अवधारणा एक जटिल नैतिक अवधारणा का रूप ले लेती है। मूल रूप में यह अवधारणा इस अर्थ का प्रतीक है कि मनुष्य के द्वारा किया गया कोई भी कार्य बिना अपने अनुरूप फल उत्पन्न किये समाप्त नहीं होता (कृतप्रणाशः) और उसका कर्ता किसी भी प्रकार उसके फल से बच नहीं सकता। फिर यह बात भी इसके अंतर्गत निहित है कि अपने द्वारा नहीं किये गये कर्मों के लिए (अर्थात् दूसरों के द्वारा किये गये कर्मों के लिए) किसी भी स्थिति में कोई भागीदार नहीं होता (अकृताभ्यागमः)।[1] जो जैसा करेगा उसके अनुरूप फल भोगना ही पड़ेगा, उससे वह किसी भी प्रकार बच नहीं सकता। फिर इसका विलोम भी उतना ही सत्य है, अर्थात् यह भी उतना ही सत्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है कि जो जो कुछ भी फल भोग रहा है वह उसके अपने ही मूल कर्मों का परिणाम है, उसके लिए अन्य किसी व्यक्ति को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। एक और महत्वपूर्ण बात जो कर्म की अवधारणा के साथ सम्बद्ध है वह यह है कि यह कोई आवश्यक नहीं कि किसी कर्म का फल किसी को तुरन्त मिल जाय। कर्मों से मानो एक प्रकार की अमिट शक्ति निकलती है जिसका विनाश नहीं होता। कर्मों की समाप्ति के बाद भी यह शक्ति किसी-न-किसी प्रकार फलों की सम्भावना के साथ बनी रहती है और समय पाकर भविष्य में फल पैदा करती है जिसका भागी कर्म करनेवाले को बनना ही पड़ता है। यह भविष्य वर्तमान जीवन में ही किसी समय आ सकता है या इसके परे किसी भावी जीवन में भी। इस प्रकार यहीं पर कर्म की अवधारणा के साथ पुनर्जन्म की अवधारणा आवश्यक रूप से चली आती है। दोनों ही अवधारणाएँ हिन्दू परम्परा में (बौद्ध, जैन आदि में भी) सापेक्ष अवधारणाएँ हैं— एक के बिना दूसरे का सम्पूर्ण अर्थ व्यक्त नहीं होता। यदि कोई अपने कर्मों के फल इस जीवन में प्राप्त नहीं कर पाता तो उनके लिए उसे फिर से जन्म लेकर एक नवीन जीवन में प्रवेश करना पड़ता है। बल्कि यह पुनर्जन्म भी अपने द्वारा किये गये मूल कर्मों के अनुरूप ही होता है। हिन्दू परम्परा में चौरासी लाख योनियों की कल्पना है और ऐसी मान्यता है कि अपने विगत कर्मों के अनुरूप ही किसी को इन योनियों में से किसी एक में जन्म लेना पड़ता है। पुराणों में इस तथ्य की विशद चर्चा है कि किस प्रकार के कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य को किस प्रकार की योनि में जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार आज अपने वर्तमान जीवन में जो कोई जो कुछ भी हैं वह अपने विगत जीवन के कर्मों के फलस्वरूप तथा वर्तमान जीवन के उसके जो कर्म हैं वे उसके भावी जीवन की आधारशिला तैयार कर रहे हैं। सामान्य तौर पर ये सारी बातें कर्म की हिन्दू अवधारणा के साथ सम्बद्ध हैं।

II

कर्म की उपर्युक्त अवधारणा भारतीय धार्मिक तथा दार्शनिक परम्परा में प्राचीनतम काल से चली आ रही है। इस अवधारणा की नींव सचमुच वेदों में ही है और पीछे चलकर उपनिषदों में तथा अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों में यह अवधारणा स्पष्टतर एवं प्रखरतर होती चली गई है। वेदों में उपस्थित ऋत तथा इष्टापूर्त की दो अवधारणाओं में इस अवधारणा की जड़ संयुक्त रूप में निहित मालूम पड़ती है। यों तो ऋत की अवधारणा एक बहुत ही समृद्ध अवधारणा है तथा इसके अन्दर कई तत्व सम्मिलित हैं, तथापि अपने एक महत्वपूर्ण पहलू में यह विश्व में व्याप्त एक सामान्य व्यवस्था, खासकर नैतिक व्यवस्था, का प्रतीक है जिसके अनुसार प्रत्येक कर्म अपने अनुरूप उचित फल पैदा करता ही है और कर्म

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करनेवाले को उस फल का भागी होना ही पड़ता है। इष्टापूर्त की अवधारणा के साथ मृत्योपरान्त जीवन तथा उस जीवन में अपने मूल कर्मों के फलों की प्राप्ति की अवधारणा निहित है। वेदों में तो यह अवधारणा इस तथ्य के प्रतीक के रूप में उपस्थित होती है कि जो कोई इस जीवन में देवताओं को बलि तथा पुरोहितों को दान आदि देता है उसे इन कर्मों के फलस्वरूप मृत्योपरान्त स्वर्ग तथा पितरों के साहचर्य की प्राप्ति होती है। परन्तु पीछे चलकर यही अवधारणा थोड़ी विस्तृत हो जाती है जिसमें सिर्फ बलि आदि से सम्बन्धित कर्मों के स्थान पर किसी भी प्रकार के कर्म चले आते हैं तथा स्वर्गादि के जीवन का स्थान पुनर्जन्म ले लेता है। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि कर्म की अवधारणा के साथ जो एक मूल धारणा यह सम्बद्ध है कि किसी के द्वारा किये गये कर्म किसी बैंक में जमा उस धनराशि के समान है जिसे बाद में भुनाया जा सकता है, वह धारणा इष्टापूर्त की अवधारणा में भी निहित है और वहीं से यह कर्म की अमधारणा में प्रवेश करती है। इस प्रकार स्पष्टत: कर्म की अवधारणा के विकास में ऋत तथा इष्टापूर्त दोनों ही अवधारणाओं का योगदान है और ये दोनों अवधारणाएँ वेदों में मौजूद हैं।

ऋत तथा इष्टापूर्त की वैदिक अवधारणाओं में निहित कर्म की यह अवधारणा बाद के हिन्दू धर्म-ग्रन्थों तथा दार्शनिक परम्पराओं में और भी अधिक स्पष्ट सामने आती है तथा एक अर्थ में समस्त हिन्दू आस्था की रीढ़ सिद्ध होती है। उपनिषदों में, रामायण तथा महाभारत जैसे धर्म-ग्रन्थों में तथा अन्य पुराणों में एवं न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि हिन्दू दार्शनिक सिद्धान्तों में यह अवधारणा बहुत ही स्पष्ट एवं प्रमुख भूमिका अदा करती है। न्याय का 'अदृश्य' एवं मीमांसा का 'अपूर्व' इसी के प्रतिरूप हैं तथा अन्य हिन्दू दार्शनिक परम्पराओं में भी यह किसी-न-किसी रूप में मौजूद है ही। अत: हमें कुछ गहराई में जाकर देखना चाहिए कि कहाँ तक और किस अर्थ में यह अवधारणा हिन्दू धार्मिक एवं वैचारिक परम्परा को एक विशिष्ट रूप प्रदान करती है तथा कहाँ तक हिन्दू परम्परा के अन्य पहलुओं के साथ इसकी संगति है। इतना ही नहीं, हमने कहा है कि हिन्दू परम्परा में यह अवधारणा मूलत: एक नैतिक अवधारणा के रूप में आती है। तो हमें यह भी देखना चाहिए कि कहाँ तक यह अवधारणा एक कठोर एवं निष्पक्ष नैतिक व्यवस्था के प्रतीक के रूप में अपनी स्थिति को सदैव एक संगत स्तर पर निभा पाती है तथा कहाँ तक एक सार्थक एवं वास्तविक नैतिकता को प्रश्रय दे पाती है।

किस योनि में जन्म लेना पड़ता है, इस रूप में नहीं कि भूत के किन विशिष्ट कर्मों का सम्बन्ध वर्तमान जीवन की ठीक-ठीक किन स्थितियों से होता है। परन्तु इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

III

एक अर्थ में हिन्दू परम्परा में कर्म की अवधारणा की उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि हिन्दू वैचारिक पद्धति प्रारम्भ से ही वैज्ञानिक रही है। कर्म की हिन्दू अवधारणा के निर्माण एवं विकास के पीछे जो दो प्रमुख आस्थाएँ निहित मालूम पड़ती हैं वे ये हैं कि विश्व में किसी भी शक्ति का विनाश नहीं होता तथा प्रत्येक घटना के पीछे कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। ये दोनों आस्थाएँ वस्तुतः दो प्रमुख आधुनिक वैज्ञानिक नियमों– शक्ति की अनश्वरता का नियम तथा कारण-कार्य नियम के परिचायक हैं। कह सकते हैं कि कर्म की अवधारणा इन दोनों ही वैज्ञानिक आस्थाओं का सम्मिलित नैतिक प्रतिरूप है। कोई भी कार्य बिना फल उत्पन्न किये नहीं रह सकता, इस मान्यता के पीछे शक्ति की अनश्वरता के नियम का हाथ है। जैसे विश्व में किसी भी शक्ति का विनाश नहीं होता, सिर्फ उसका रूप परिवर्तन हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों से उत्पन्न शक्ति का भी विनाश नहीं होता, फलों के रूप में सिर्फ उसका परिवर्तन हो जाता है। कर्मों से उत्पन्न शक्ति अनश्वर है, किसी भी स्थिति में बिना फल उत्पन्न किये उसका विनाश नहीं हो सकता। कोई भी– यहाँ तक कि ईश्वर भी– कर्मों को फल उत्पन्न किये बिना समाप्त नहीं कर सकता। फिर यह मान्यता कि अपने वर्तमान जीवन में जो जो कुछ भी है वह अपने पूर्व जन्म के अपने ही कर्मों के फलस्वरूप, कारण-कार्य नियम के नैतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में कारगर होने का उदाहरण है। कोई कार्य अकारण नहीं होता। अतः वर्तमान जीवन में जिसकी जो स्थिति है वह भी अकारण नहीं है, उसके पीछे ठोस कारण है। और वह कारण है व्यक्ति द्वारा अपने पूर्व जन्म में किये गये अपने ही कर्म। इस प्रकार कर्म की अवधारणा में इस प्रश्न का एक तार्किक उत्तर निहित है कि, क्यों मनुष्य-मनुष्य में जन्म से ही शारीरिक, आर्थिक आदि अनेकों दृष्टियों से काफी भेद है। प्रत्येक की स्थिति उसके अपने ही पूर्व कर्मों का परिणाम है। किसी का भी किसी खास स्थिति में जन्म पाना आकस्मिक नहीं है, उसके पीछे ठोस कारण है।

IV

परन्तु इस वैज्ञानिक पक्ष के बावजूद कर्म की हिन्दू अवधारणा के साथ तार्किक एवं नैतिक दोनों ही प्रकार की कठिनाइयाँ हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि हिन्दू परम्परा में ही मौजूद कुछ अन्य तत्वों के साथ इस अवधारणा में निहित तत्वों का मेल नहीं है। एक तरफ तो कर्म की अवधारणा के साथ ये दो बातें बिलकुल निरपवाद रूप में सम्बद्ध मालूम पड़ती हैं कि अपने कर्मों के फल से कोई किसी प्रकार बच नहीं सकता तथा दूसरे के कर्मों का किसी भी स्थिति में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कोई भागीदार नहीं हो सकता, परन्तु दूसरी ओर कई हिन्दू धर्मग्रन्थों में अनेकों ऐसे अवतरण मिलते हैं जो उपरोक्त बातों का स्पष्ट विरोध करते हैं। उदाहरण के लिए 'भगवद्गीता' में भगवदकृपा के द्वारा अच्छे-बुरे सभी प्रकार के कर्म-फलों से छुटकारा पाने की बात कही जाती है। वहाँ बतलाया जाता है कि जो कोई अपने सभी प्रकार के कर्मों को भक्तिपूर्वक ईश्वर पर अर्पित कर देता है वह अच्छे-बुरे सारे कर्मों के बन्धन से छुटकारा पा जाता है।[२] उसी प्रकार धर्मशास्त्रों में कई स्थानों पर यह विचार व्यक्त किया गया है कि अपने कर्मों को दूसरे पर हस्तान्तरित कर खुद उनके परिणामों से बचा जा सकता है।[३, ४] फिर हिन्दू जीवन-पद्धति में यह आम धारणा मालूम पड़ती है (जिसका आधार शायद वेदों में ही है) कि दान, तप, बलिदान आदि जैसे कर्मों के द्वारा मनुष्य अपने पाप कर्मों के दुष्परिणामों से छुटकारा पा सकता है। यदि ये बातें सत्य हैं तो फिर यह कठोर नियम कहाँ रह जाता है कि अपने कर्म-फल से कोई किसी प्रकार बच नहीं सकता? फिर धर्मशास्त्रों में ही यह बात भी कही गई है कि किसी के कर्म के परिणामों में भागीदार उसके सगे-सम्बन्धी या परिवार के अन्य सदस्य भी हो सकते हैं।[५] परन्तु यदि ऐसी बात है तो फिर यह कठोर धारणा कहाँ कायम रह पाती है कि दूसरे के द्वारा किये गये कर्मों के लिए कोई किसी भी स्थिति में भागीदार हो ही नहीं सकता? उपरोक्त सारी बातें स्पष्टतः कर्म की अवधारणा में निहित मूल भावना के विरुद्ध जाती हैं।

फिर विश्लेषण के आधार पर यह देखा जा सकता है कि कर्म की अवधारणा सिर्फ कुछ बाह्य विरोधों से ही ग्रस्त नहीं है बल्कि इसके अन्दर कुछ ऐसे तत्व मौजूद हैं जो इसे एक प्रकार के अन्तर्विरोध का भी शिकार बना देते हैं। साधारणतः इस अवधारणा को एक नैतिक अवधारणा के रूप में लिया जाता है, परन्तु कुछेक दृष्टियों से इसके अन्तर्गत ही अनैतिकता के भाव निहित हैं। हमने देखा है कि इस अवधारणा के साथ यह तथ्य सम्बद्ध है कि अपने वर्तमान जीवन के दुष्कर्म का परिणाम मनुष्य को अपने भावी जीवन में भुगतना पड़ता है। परन्तु यहाँ एक बहुत ही महत्वपूर्ण नैतिक प्रश्न इस रूप में उपस्थित होता है कि किसी को भी उसके उन कर्मों के लिए दण्डित करना कहाँ तक न्यायोचित है जिनके अपने द्वारा कभी किये जाने की उसे चेतना भी नहीं है। यदि व्यक्ति को इस बात की निश्चित चेतना होती कि अपने किन कर्मों के परिणामस्वरूप वह कौन-सा फल भोग रहा है तो अपने को सचमुच दण्ड का अधिकारी समझकर वह किसी प्रकार एक आन्तरिक सन्तोष का अनुभव करता तथा आगे के लिए अपने अन्दर सुधार लाने का भी प्रयास करता। कोई भी व्यक्ति किसी कर्म के लिए दण्ड का अधिकारी तभी हो सकता है जब वह सचमुच वही व्यक्ति हो जिसने दण्ड से सम्बन्धित कर्म

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रिया था और उसे वही व्यक्ति तभी कहा जा सकता है जब उसके भूत तथा वर्तमान जीवन की चेतना आदि में एक तारतम्य हो, एक क्रमबद्ध लगाव हो। परन्तु इस सम्बन्ध में उसे बिलकुल अन्धकार में रखकर दण्डित करना एक उचित न्याय-व्यवस्था का परिचायक नहीं है, बल्कि एक अदृश्य मनमाने शासन-चक्र का परिचायक है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि यद्यपि व्यक्ति को अपने विगत जीवन के कर्मों की स्पष्ट व्यक्तिगत चेतना नहीं होती, फिर भी शास्त्रों के आधार पर इस बात का तो ज्ञान उसे होना ही चाहिए कि अपने किन विगत कर्मों के परिणाम-स्वरूप वह क्या फल भोग रहा है तथा अपने किन वर्तमान कर्मों के चलते भविष्य में उसकी क्या गति होगी। परन्तु यह तर्क बहुत उपयुक्त नहीं है, चूंकि सबसे पहली बात तो यह है कि शास्त्रों में कर्मों तथा उनसे उत्पन्न फलों का इतना विशद विवरण नहीं है कि उनसे प्रत्येक सम्भव कर्म तथा उससे सम्बद्ध फल का एक निश्चित ज्ञान हो जाए। फिर दूसरी बात यह है कि शास्त्रों में वर्णित कर्मों तथा उनसे सम्बद्ध फलों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध मालूम नहीं पड़ता, ताकि एक निश्चित कर्म से एक निश्चित फल की उत्पत्ति विवेकपूर्ण, विश्वासप्रद तथा तर्कसङ्गत प्रतीत हो। ऐसा लगता है कि बिलकुल एक मनमाने ढङ्ग से कुछ कर्मों को कुछ फलों के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है, जिन्हें शास्त्रों के प्रति निष्ठा के आधार पर परस्पर सम्बद्ध मान लिया जा सकता है, परन्तु वैसा मानने के पीछे कोई अनुभवजन्य या तर्कसंगत आधार मालूम नहीं पड़ता। कर्म की अवधारणा के अन्तर्गत वैज्ञानिक कारण-कार्य नियम का पुट विद्यमान माना जाता है, परन्तु हम देख सकते हैं कि जिन घटनाओं या तथ्यों के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध होता है उनमें एक प्रकार का अनिवार्य, आन्तरिक सम्बन्ध पाया जाता है। परन्तु कर्मों एवं उनसे सम्बद्ध माने जानेवाले फलों के बीच ऐसे किसी सम्बन्ध का सर्वथा अभाव मालूम पड़ता है। तीसरी बात यह है कि शास्त्रों में कार्य-फल सम्बन्धों की अधिकांश चर्चा इस रूप में है कि किस प्रकार के कर्म के परिणाम-स्वरूप किसी को किस योनि में जन्म लेना पड़ता है, इस रूप में नहीं कि भूत के किन विशिष्ट कर्मों का सम्बन्ध वर्तमान जीवन की ठीक-ठीक किन स्थितियों से होता है। परन्तु इस रूप में ये चर्चाएँ एक कठोर कारण-कार्य व्यवस्था के रूप में प्रत्येक कार्य और उसके सुनिश्चित फल की व्याख्या करने में असमर्थ रह जाती हैं। फलतः नैतिक मार्गदर्शन की कोई निश्चित दिशा इनसे स्पष्ट नहीं होती। फिर चौथी बात यह है कि शास्त्रों के इन विवरणों से मनुष्येतर जीवों की स्थिति में कभी किसी सुधार की तो सम्भावना ही नहीं मालूम पड़ती, चूंकि उन्हें तो शास्त्रों का कोई ज्ञान नहीं हो सकता। उनकी स्थिति में सुधार की आशा तभी की जा सकती थी, जब जीवों को अपने विगत कर्मों तथा उनके परिणामों की साक्षात चेतना होती। इसके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभाव में ऐसा लगता है कि मनुष्येतर जीव कभी किसी विकसित योनि में पुनर्जन्म के भागी हो ही नहीं सकते।

एक बात और है और वह यह कि, शास्त्रों में अच्छे या बुरे कर्मों के रूप में जिन कर्मों की चर्चा है उनमें से अनेकों ऐसे हैं जिनका वास्तविक नैतिकता के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं मालूम पड़ता और यह समझ में नहीं आता कि एक नैतिक दृष्टि से उनके करने या न करने के साथ किसी अच्छे या बुरे परिणाम का क्या सम्बन्ध हो सकता है ? उदाहरण के लिए, काले दाँतवाले व्यक्ति के साथ रहने, तीर-धनुष बनानेवाले का साथ करने, बड़े भाई के समक्ष शादी करने, आदि जैसे कार्यों को भी बुरा माना गया है, जिनके बुरे परिणाम निश्चित हैं।[६] इस प्रकार कर्म की अवधारणा के अन्तर्गत कुछ नैतिक कर्म ही सम्मिलित नहीं हैं, बल्कि अनेकों ऐसे कर्म भी सम्मिलित हैं जिनके सम्बन्ध में साधारणतः यह नहीं सोचा जा सकता कि उनका भी सम्बन्ध कुछ अच्छे या बुरे परिणामों के साथ हो सकता है। तो इस स्थिति में कैसे हिन्दू परम्परा में विद्यमान कर्म की अवधारणा को एक निश्चित नैतिक अवधारणा के रूप रूप में लिया जा सकता है जो नैतिक मामलों में हमारा मार्गदर्शन करती हो ? इसके अन्तर्गत तो इतने विविध प्रकार के कर्म सम्मिलित हैं कि एक नैतिक मार्गदर्शक के रूप में इसका सारा मूल्य ही समाप्त हो जाता है। इस ज्ञान के बावजूद भी अच्छे कर्मों के अच्छे तथा बुरे कर्मों के बुरे फल प्राप्त होते हैं, किसी भी व्यक्ति के लिए अपने सामान्य ज्ञान के द्वारा यह समझ पाना सम्भव नहीं है कि उसका कौन विशिष्ट कर्म अच्छे कर्म की श्रेणी में आयेगा और कौन बुरे कर्म की श्रेणी में। सिर्फ शास्त्रों के ज्ञानवाले ही ऐसा बतला सकते हैं। और फिर शास्त्रों के आधार पर यह ज्ञान पा लेने के बाद भी एक विवेकशील तथा तर्कप्रिय व्यक्ति के लिए बहुत स्थितियों में यह समझ पाना कठिन है कि क्यों किसी विशिष्ट कर्म को अच्छे कर्म की श्रेणी में और किसी दूसरे को बुरे कर्म की श्रेणी में रखा गया है। इन कर्मों के साथ जो फल सम्बद्ध बतलाये गये हैं उनके सम्बन्ध में भी ऐसे व्यक्ति को उसी प्रकार की कठिनाई हो सकती है। तो इस प्रकार कर्म की अवधारणा में निहित तत्वों से कोई व्यवस्थित नैतिक दिशानिर्देश मिलता हुआ प्रतीत नहीं होता।

फिर कर्म की अवधारणा एक दूसरे रूप में भी नैतिकता का धरोहर न होकर उसका विरोधी सिद्ध होती है। इस अवधारणा के अन्तर्गत निहित तत्वों के अनुसार कोई भी व्यक्ति यदि कष्ट पाता है तो वह नैतिकता के इस कठोर नियम के अन्तर्गत कि, जो जैसा करता है वह वैसा ही फल भोगता है। अब यदि ऐसे व्यक्ति के प्रति कोई दया, प्रेम आदि का भाव प्रगट कर उसके कष्ट निवारण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आदि का प्रयास करे तो कहा जा सकता है कि या तो उसके ऐसा करने का कोई अर्थ नहीं है, चूंकि किसी को अपने दुष्कर्म के फल से कोई नहीं (खुद ईश्वर भी नहीं) बचा सकता या ऐसा कर वह व्यक्ति विश्व में व्याप्त अटूट नैतिक व्यवस्था की स्वतन्त्र क्रियाशीलता में बाधा उत्पन्न कर रहा है और इस प्रकार एक अनैतिक कर्म कर रहा है। इस दृष्टि से कर्म की अवधारणा प्रेम, दया, करुणा आदि जैसे आवश्यक नैतिक गुणों को प्रश्रय देने में सिर्फ असमर्थ नहीं रह जाती बल्कि इनके प्रति विरोध उपस्थित करती है।

कर्म की अवधारणा को हिन्दू परम्परा में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रतीक माना जाता है, चूंकि ऐसा समझा जाता है कि इसके अन्दर यह मूल भाव निहित है कि व्यक्ति अपने भविष्य का नियामक खुद है, वह जैसा करता है उसी के अनुरूप भविष्य की प्राप्ति उसे होती है। परन्तु विश्लेषण करने पर यह धारणा भी भ्रामक सिद्ध होती है। कर्म की अवधारणा के साथ पुनर्जन्म या सन्सार की अवधारणा अनिवार्य रूप से आबद्ध है, परन्तु यदि हम यह पूछें कि सन्सार का प्रादुर्भाव ही क्यों हुआ, सबसे प्रारम्भ में कौन से कर्म किसी व्यक्ति के संसार में आने के कारण हुए, तो इस सम्बन्ध में शायद हिन्दू उत्तर यह होगा कि संसार अनादि है। परन्तु हम यहाँ यह देखें कि ऐसा कहने का अर्थ क्या है और यह कथन किन अन्य बातों को आपादित करता है। ऐसा कहने का शायद यह अर्थ है कि संसार अनन्तकाल से ऐसे ही चला आ रहा है, किसी निश्चित बिन्दु पर कभी इसका प्रारम्भ नहीं हुआ। परन्तु इसका तो स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि विभिन्न व्यक्तिगत सत्ताएँ अनन्तकाल से शतरंज की मुहरों की तरह विश्व-पटल पर फेंक दी गई हैं और वे कर्मों की शक्ति के कारण एक के बाद एक जीवन प्राप्त कर इसके चक्के में पीसी चली जा रही हैं। और इस प्रकार किसी के भी वर्तमान जीवन तथा सुख-दुख का मूल कारण बिलकुल रहस्यपूर्ण है। व्यक्ति मौलिक रूप से एक अन्धकारमयी एवं रहस्यमयी नियति के बन्धन में बन्धा हुआ है जिसमें स्वनिर्धारण या आत्म-स्वातन्त्र्य के लिए कहीं कोई स्थान नहीं मालूम पड़ता।

यही नहीं, यदि किसी व्यक्ति की स्थिति को उसके जीवन-मरण-पुनर्जीवन के लगातार क्रम में कहीं बीच से भी उठाकर देखा जाए तो कर्म की अवधारणा के आलोक में उसके लिए वास्तविक अर्थ में इच्छास्वातन्त्र्य या स्वनिर्धारण का कहीं कोई प्रश्न ही नहीं है। व्यक्ति अपनी चेतना, इच्छा, भावना अर्थ के साथ वर्तमान में जिस किसी भी स्थिति में है वह अपने भूत कर्मों के ही परिणाम-स्वरूप और इसलिए वह जो कुछ भी करेगा उसके मूल निर्धारक उसके भूत कर्म ही होंगे। उसकी वर्तमान वासनाएँ, इच्छाएँ आदि सचमुच उसके भूत कर्मों से उत्पन्न संस्कारों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के परिणाम हैं। इसलिए व्यक्ति स्वतन्त्र कभी नहीं है, किसी-न-किसी रूप में वह अपने द्वारा किये गए भूत कर्मों का ही गुलाम बना रहता है। 'महाभारत' इसी सत्य को प्रश्रय देता है जब वह कहता है कि मनुष्य सिर्फ इसी अर्थ में स्वतन्त्र है कि उसके वर्तमान कार्य उसके विगत कार्यों के द्वारा निर्धारित होते हैं। जिस प्रकार सोने या चांदी के तरल रूप में डाल दिये जाने पर उजला पीतल इन द्रव्यों के रंग को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार अपने विगत कर्मों पर पूर्णतः निर्भर रहनेवाला प्रत्येक जीवधारी भूतकाल के अपने कर्मों से ही अपना वर्तमान रंग ग्रहण करता है।[७] उसी प्रकार शंकर ने भी अपने 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' में बतलाया है कि व्यक्ति का प्रत्येक वर्तमान कार्य उसके विगत कार्यों के द्वारा निर्धारित है। उनके अनुसार यद्यपि जीव स्वयं कार्य करता है, तथापि उससे ऐसा कराता है ईश्वर, और ईश्वर ऐसा कराने में सदैव व्यक्ति के विगत कार्यों का ध्यान रखता है।[८] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कर्म की अवधारणा के आलोक में व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता कभी नहीं है।

इतना ही नहीं, हमारे वास्तविक अनुभव तथा आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के सिद्धान्त आदि भी कर्म की अवधारणा में निहित तत्वों का विरोध करते हैं। उदाहरण के लिए कर्म की अवधारणा के साथ यह बात सम्बद्ध है कि किसी भी व्यक्ति में जो शारीरिक दोष आदि मौजूद हैं वे उसके भूत जीवन के गलत कर्मों के परिणाम हैं। परन्तु आधुनिक चिकित्साशास्त्र बतलाता है कि बहुत सारे रोग वंशानुगत होते हैं और इसलिए व्यक्ति उन्हें अपने कर्मों के चलते नहीं बल्कि अपने माँ-बाप के चलते ग्रहण करता है। इस प्रकार यदि यह कहा जाए कि अपने पूर्वजों के दुष्कर्म का परिणाम व्यक्ति को भुगतना पड़ता है, तो यह कर्म की अवधारणा में एक आत्म-विरोध पैदा करता है और यदि यह कहा जाए कि आकस्मिक रूप से ऐसा होता है तो फिर यह दावा समाप्त हो जाता है कि कर्म की अवधारणा नैतिकता के क्षेत्र में कारण-कार्य सिद्धान्त का प्रतीक है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि यद्यपि कर्म की अवधारणा हिन्दू परम्परा में अपना एक बहुत ही विशिष्ट स्थान रखती है तथा इसने हिन्दू जीवन के वैचारिक तथा व्यावहारिक दोनों ही पक्षों को काफी प्रभावित भी किया है, तथापि समीक्षात्मक विश्लेषण करने पर यह तार्किक अथवा नैतिक किसी दृष्टिकोण से खरी नहीं उतरती। यह वाह्य तथा आन्तरिक दोनों ही प्रकार के विरोधों से ग्रसित है— बाह्य विरोध से इस अर्थ में कि, हिन्दू परम्परा के कई अन्य तत्वों के साथ इसका मेल नहीं है तथा आन्तरिक विरोध से इस अर्थ में कि, एक नैतिक अवधारणा के रूप में इसमें कुछ अन्तर्विरोध निहित हैं। फिर एक कठोर नैतिक व्यवस्था के प्रतीक के रूप में मान्यता रखते हुए भी वास्तविक नैतिकता को प्रश्रय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देने में यह कई अर्थों में असमर्थ है। इसके अन्दर निहित तत्व नैतिकता को प्रश्रय देने के लिए न तो अनिवार्य हैं और न पर्याप्त– अनिवार्य इसलिए नहीं चूंकि, जैसा हमने देखा है, इसके अन्दर निहित कठोर नैतिक व्यवस्था कुछ अर्थों में नैतिकता के लिए सहायक सिद्ध न होकर बाधक सिद्ध होती है, और पर्याप्त इसलिए नहीं चूंकि सिर्फ सामान्य तौर पर ऐसा कह देने से कि जो जैसा करता है वैसा फल पाता है तब तक वास्तविक नैतिकता को बल नहीं मिल सकता जब तक व्यक्ति को अपने वर्तमान जीवन में इस बात की निश्चित चेतना नहीं हो कि अपने किन विशिष्ट भूत कर्मों के फलस्वरूप वह क्या फल भोग रहा है।

दर्शनशास्त्र विभाग
भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर

केदारनाथ तिवारी

टिप्पणियाँ

१. देखिए महाभारत, वनपर्व, २१३; २२–२३।

२. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
– भगवद्गीता, अ. ९, श्लो. २६–२८।

३–४, प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम्॥
– मनुस्मृति, अ, ६, श्लो. ७९।
अन्नादे भ्रूणहामार्ष्टि पत्यौ भार्याऽपचारिणी।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम्॥
– मनुस्मृति, अ. ८ श्लोक ३१८।

५. भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्वाऽग्नीनन्त्यकर्मणि।
पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च॥"
– मनुस्मृति, अ. ५, श्लोक १६८।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दण्डो हि समूहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ "
– मनुस्मृति, अ. ६, श्लोक २८ ।

६. इस सम्बन्ध में देखिए, मनुस्मृति, अध्याय ३, श्लोक १५०–१६६ ।

७. महाभारत, शान्तिपर्व, २७६ : ११

८. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, II. ३·४२

(" The Lord indeed causes to the soul to act, but the soul acts itself. Moreover, the Lord causing it to act now has regard to its former efforts, and the caused acts in a former existence having regard to efforts previous to that existence, a regressus, against which considring the eternity of the samsara, no objection can be raised. "

– ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य) के थिबू (Thibaut) द्वारा किए गये अंग्रेजी रूपान्तर से ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सार्त्र के दर्शन में 'चेतना'

अस्तित्ववाद के प्रसंग में ज्याँ-पाल सार्त्र का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है विशेष रूप में इस दृष्टि से कि इन्होंने मानव-जीवन की गतिविधियों का सूक्ष्म अध्ययन कर, न केवल दर्शन वल्कि साहित्य के क्षेत्र में भी, उनके महत्व पर प्रकाश डाला है। सार्त्र का विश्वास है कि संसार की सारी स्थितियाँ और घटनाएँ व्यक्ति के जीवन से भिन्न नहीं, वरन् उनसे मानवीय अस्तित्व की सारी चीज़ें नियन्त्रित होती हैं। इस कारण इस विषयगत संसार का मानवीय अस्तित्व से बहुत ही निकट का सम्बन्ध है। हेगल आदि बौद्धिक चिन्तकों ने जीवन की इन आकस्मिक स्थितियों को निरर्थक समझ उनकी उपेक्षा की थीं, क्योंकि वे सारे तत्व जो अस्तित्व के निर्माण में आवश्यक है, उन्होंने उन्हें निर्मूल (de trop) और अनावश्यक समझा। किन्तु सार्त्र की राय में उन स्थितियों की अवज्ञा कर संसार को किसी बौद्धिक सूत्र में आबद्ध मानना अपनी आँखों पर पर्दा डालना है। अतः संसार का वास्तविक ज्ञान तभी संभव है जब चेतना और विषयगत संसार इन दोनों का संयोग होता है, क्योंकि मानवी अस्ति के दोनों पक्ष, अर्थात् पोर-सोइ (pour soi) तथा एन-सोइ (en-soi), जो 'अपने लिए अस्ति' तथा 'अपने-आप में अस्ति' के प्रमाण हैं, एक ही सत्ता के भिन्न प्रकार हैं। यहाँ इस लेख में हम सार्त्र के अनुसार, 'अपने लिए अस्ति' अर्थात् मानवीय सत्ता के चेतन तत्व की विशेषताओं पर विचार करेंगे।

यह निर्विवाद है कि मानवीय सत्ता की अभिव्यक्ति उसकी चेतना से ही होती है। संसार की अन्य वस्तुएँ जो निर्जीव है, संसार की स्थितियों से उनका कोई क्रियात्मक सम्बन्ध नहीं है। अतः व्यक्ति के अस्तित्व का प्रमाण उसकी चेतना है। सार्त्र के अनुसार, मानवीय अस्तित्व में व्याप्त यह चेतना स्वभावतः स्वच्छन्द है और विषय-शून्य होने पर भी जीवन की प्रत्येक अवस्था में यह अपने अस्तित्व को स्वयं प्रमाणित करती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वच्छन्दता सम्प्रत्यय

चेतना के स्वच्छन्द स्वरूप की व्याख्या सार्त्र ने अपनी पुस्तक ' दि साइकोलाजी ऑफ इमैजिनेशन '[1] में की है। 'कल्पना' में किसी विषय की प्रतिभा अवस्तुता या शून्यता के रूप में मानस-पटल पर होती है। ' कल्पन ' में किसी वस्तु की अनुपस्थिति रहती है, जबकि प्रत्यक्ष में उसका हमें साक्षात् अनुभव होता है। इस प्रकार सार्त्र के अनुसार ' कल्पना ' शून्यता का प्रमाण है, क्योंकि किसी कल्पना के प्रसंग में सभी विषय केवल शून्यता या अवस्तुता के रूप में ही होते हैं। अतः कोई भी कल्पना या प्रतिमा कितनी भी सजीव, सबल और आकर्षक क्यों न हो, वह किसी विषय की अभिव्यक्ति शून्यता में ही करती है।[2]

' कल्पना ' की शून्यता जैसी विशेषता को ध्यान में रखते हुए यह सोचने को हम विवश हो जाते हैं कि चेतना कैसे किसी ऐसे विषय को उपस्थित कर पाती है, जो सत्तावान वस्तुओं की तुलना में शून्य है। इस सम्बन्ध में सार्त्र का मत है कि किसी कल्पित विषय या प्रतिमा को चेतना संसार की वस्तुओं से पृथक् रखकर ही उस पर विचार करती है। अर्थात् संसार की स्थितियों से अपने को स्वतन्त्र रखने की क्षमता के कारण ही चेतना किसी कल्पित विषय या प्रतिमा को व्यक्त कर सकती है। अतः चेतना किसी कल्पना या प्रतिभा के वस्तुशून्य स्वरूप को अपनी असीम स्वच्छन्दता के कारण ही निरूपित कर पाती है। यह स्वच्छन्दता चेतना की बाह्य विशेषता नहीं, बल्कि उसके वास्तविक स्वरूप का परिचायक है।

अतः सार्त्र की राय में चेतना स्वभावतः पूर्णतया स्वच्छन्द है जिसके फलस्वरूप किसी मनोव्यथा (anguish) या संतापजनक परिस्थिति में भी व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र रख सकता है। यह ठीक है कि संसार की स्थितियों से वह दूर नहीं, किन्तु उनका प्रभाव चेतना पर बहुत काल तक नहीं रहता। ' लसलसे और चिकने ढलान की तरह विशेषता न केवल वस्तुओं की है, वरन् मनुष्य की प्रकृति की भी। संसार की घटनाएँ कुछ क्षण के लिए मानों व्यक्ति में चिपक जाती हैं और पुनः कुछ समय उपरान्त वे न जाने कितनी दूर हो जाती हैं।[3] व्यक्ति के अस्तित्व की भी यही विशेषतः है जो उसकी चेतना के विलक्षण स्वरूप से स्पष्ट होती है। अतः सार्त्र ने मानवीय अस्तित्व को एक ऐसे ही चिकने ढलान के रूप में माना है जिस पर किसी विषय का प्रभाव अधिक काल तक टिकना सम्भव नहीं और उससे उसका शीघ्र मुक्त हो जाना स्वाभाविक है।

चेतना की इस स्वाभाविक स्वच्छन्दता पर यदि ध्यान दिया जाए तो यह स्पष्ट होगा कि सार्त्र ने यहाँ उसी पद्धति का अनुसरण किया है जिसे विश्व की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्याख्या में डेकार्ट ने की थी। अर्थात् संसार की सत्ता पर डेकार्ट ने शंका व्यक्त की और इस दृष्टि से समस्त वस्तुजगत् को उन्होंने स्वप्नवत् माना। अतः शंका करने या संसार की सत्तावान् वस्तुओं में अविश्वास करने की प्रक्रिया में व्यक्ति अपने को विषयगत संसार से स्वतन्त्र रखता है। चिन्तन-प्रक्रिया की यह विशेषता उसकी स्वाभाविक स्वच्छन्दता का ही प्रमाण है, क्योंकि वस्तुजगत् की साक्षात् सत्ता को निर्मूल या भ्रमवत् मानना संसार में शून्यता का प्रसारण है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि चेतना की तह में व्याप्त शून्यता उसकी स्वाभाविक स्वच्छन्दता से भिन्न नहीं, बल्कि दोनों एक ही अर्थ के सूचक हैं। अतः सार्त्र का विश्वास है कि शून्यता किसी प्रकार अस्ति से ही विकसित हुई है, इसलिए अस्ति के परिप्रेक्ष्य में ही (on the surface of being) शून्यता कोई महत्व रखती है। इस दृष्टि से चेतना की स्वच्छन्दता में ही निहित मानवी अस्ति की शून्यता भी होती है, जो व्यक्ति को संसार की स्थितियों से पृथक् रखती है।

चेतना और अहम्

यदि चेतना स्वयं स्वच्छन्द और अस्तित्ववान् है तो व्यक्ति के अहम् (ego), अर्थात् उसके 'मैं' के साथ चेतना का क्या सम्बन्ध है? क्या व्यक्ति की चेतना उसकी स्वयं प्रेरणा या 'मैं' के द्वारा संचालित नहीं होती? सार्त्र ने अपनी संक्षिप्त पुस्तक 'दि ट्रांसेन्डेन्स आफ दि ईगो'[*] में चेतना तथा अहम् के अन्तर्गत सम्बन्ध पर विचार करते हुए यह स्वीकार किया है कि चेतना एक विशुद्ध, निर्विघ्न और स्वतन्त्र सत्ता है जो व्यक्ति के अहम् के द्वारा संचालित नहीं होती। अतः सार्त्र की राय में चेतना अहम् से भी परे है। इस दृष्टि से मानव-चेतना आत्मा का कोई वास्तविक स्वरूप नहीं, वरन् उसका एक आकस्मिक गुण है जो अवस्था विशेष में उत्पन्न होता है।

हसरेल ने चेतना को कभी स्वतन्त्र नहीं माना और इसे निरन्तर अहम् के साथ ही रखा है। इस दृष्टि से हसरेल के अनुसार चेतना स्वभावतः वैयक्तिक है, क्योंकि चेतना की क्रियाओं को अहम् ही नियन्त्रित रखता है।

किन्तु सार्त्र ने चेतना की स्वाधीनता को निर्विघ्न बनाए रखने के उद्देश्य से उसे व्यक्ति के अहम् से भी पृथक् माना है। उनके अनुसार अहम् हमारी अभिज्ञता का विषय है जिसे किसी चिन्तन-प्रक्रिया के परिवेश में हम जानते हैं, जैसे जब कोई यह कहता है कि 'मैं अमुक विषय से अवगत हूँ'; अन्यथा अहम् से मानव-चेतना का कोई सीधा सम्पर्क नहीं रहता। चेतना की स्वाभाविक सम्बद्धता पर, जो अहम् से परे है, विचार करते हुए सार्त्र यह कहते हैं कि चेतना स्वयं असीम स्वच्छन्दता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तथा स्वतन्त्रता से परिपूर्ण है और इसका आधार एकमात्र उसकी शून्यता है, अर्थात् चेतना का निर्माण शून्य से हुआ है और इस दृष्टि से, सार्त्र के अनुसार चेतना की सारी क्रियाएँ किसी 'मैं' के द्वारा संचालित नहीं होतीं। अत: 'हमारा सचेतना जीवन का प्रतिक्षण किसी अन-अस्तित्व की संरचना है, न कि स्व व्यक्ति की।[५] नित्से ने भी यही कहा था कि यह हमारा भ्रम है कि हमारी प्रवृत्तियाँ किसी 'मैं' के द्वारा संचालित होती है। किन्तु नित्से ने इतना अवश्य माना था कि संविद की क्रियाएँ व्यक्ति की सहज प्रवृत्तियों (instincts) के द्वारा गुप्त रूप से संचालित होती हैं। सार्त्र इस सहज प्रवृत्ति से भी भिन्न, किर्केगार्ड के विचारों के अनुकूल, यह मानते हैं कि चेतना के प्रसंग में किसी प्रकार निश्चयात्मकता या पूर्वनिर्धारण की बात नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर चेतना को स्वच्छन्द और निर्विघ्न नहीं कहा जा सकता।[६]

अत: सार्त्र की राय में चेतना की अन्तर-वस्तु कुछ भी नहीं। उसका अनुभवातीत स्थल शून्य है, क्योंकि संसार के सभी विषय, या तो वे भौतिक, मनोभौतिक या मनोवैज्ञानिक हों, चेतना से पृथक् होते हैं। अर्थात् जब व्यक्ति का अहम् ही चेतना से परे है तो अन्य के विषय में कोई प्रश्न ही व्यर्थ है।[७] अतः सार्त्र के अनुसार यह संविद तत्व न केवल पूर्णतया स्वाधीन हैं, बल्कि वह शून्य भी हैं, क्योंकि संसार की सारी स्थितियाँ एक अर्थ में चेतना की परिधि से परे हैं, जिसके कारण चेतना विषय-विहीन केवल शून्यता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

शून्यता सम्प्रत्यय

सार्त्र की सत्ता मीमांसा में शून्यता सम्प्रत्यय का एक विशेष महत्व है जो एक दृष्टि से सत्तावान् है, किन्तु दूसरी दृष्टि से शून्यता के अतिरिक्त वह और कुछ भी नहीं। सार्त्र का विश्वास है कि हमारे जीवन की सारी क्रियाएँ मानवी अस्तिं में व्याप्त इसी शून्यता को व्यक्त करती हैं, क्योंकि मनुष्य की चेतना जब किसी विषय को प्रकाशित करती है या इस– विषयगत संसार से अपना सम्पर्क जोड़ती है तो उसका एकमात्र अभिप्राय उस सत्ता को प्राप्त करना होता है जो वह नहीं है। अतः यद्यपि शून्यता एक दृष्टि से अस्तित्व का बहिष्कार है, तथापि दूसरी दृष्टि से वही मानवीय अस्ति की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन भी है। इस अर्थ में शून्यता मानवीय अस्ति के साथ ही रहती है।[८] चेतना मूलत: एक संज्ञानात्मक तत्व है जो ज्ञान की प्रत्येक अवस्था में विद्यमान रहती है। इस दृष्टि से, सार्त्र के अनुसार, वह वस्तुजगत् से पृथक् भी नहीं रह सकती।

चेतना के सम्बन्ध में इस शून्यता सम्प्रत्यय की सम्पुष्टि सार्त्र ने कई युक्तियों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के द्वारा की है। उदाहरणार्थ, किसी निर्णय की क्रिया में भावात्मकता के अतिरिक्त निषेधात्मक तत्व भी अन्तर्निहित रहता है, अन्यथा 'अमुक वस्तु ऐसी है' कहने का कोई तात्पर्य नहीं हो सकता। उस वस्तु को वैसी होने की सम्भावना नहीं भी हो सकती, इसलिए उस भावात्मक निर्णय का कोई महत्व है। अतः सार्त्र का विश्वास है कि निषेध के अभाव में किसी प्रश्न का या किसी विषय पर चिन्तन करने का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से निषेधात्मकता भावात्मक निर्णय के साथ ही सम्बन्ध रहकर सभी प्रकार के विचारों में एक विशेष लोकोत्तर इकाई प्रदान करती है।[९]

यहाँ सार्त्र के विचारों का समर्थन विट्गेन्स्टाइन के लेखों द्वारा भी होता है जब वे किसी भावात्मक परिवेश में ही निषेध को अन्तर्निहित पाते हैं।[१०] अतः सार्त्र यह मानते हैं कि निषेध के अभाव में किसी प्रश्न का या किसी विषय पर चिन्तन करने का कोई तात्पर्य नहीं हो सकता, क्योंकि किसी शून्यता से उद्विग्न होकर ही चेतना अपने से परे जाना चाहती है।

हैडेगर के विचारों के अनुकूल सार्त्र भी यह स्वीकार करते हैं कि चेतना मानवीय अस्तित्व में व्याप्त एक प्रक्षेपी या योजनात्मक (Projective) तत्व है, जो संसार में शून्य बनकर आती है और भविष्य के लिए किसी कार्य-विधि की पूर्व कल्पनाएँ करती है। अतः व्यक्ति के जीवन में कुछ भी पूर्व निश्चित नहीं मानी जा सकती। सभी विषय उसकी इच्छा स्वातन्त्र्य पर आश्रित हैं। चेतना के समक्ष संसार की सारी चीज़ें उससे पृथक् शून्यता और अन-अस्तित्व के रूप में हैं। शून्यता न तो अस्तित्व के पहले और न बाद में होती है, वह तो निरन्तर मानवी अस्ति के साथ ही है और इस कारण वह कभी भी हमसे पृथक् नहीं। सार्त्र की राय में शून्यता अस्तित्व के हृदय में ही एक कीड़े की तरह कुण्डली मारे रहती है, जिसके कारण व्यक्ति अन्यान्य वस्तुओं का तिरस्कार कर किसी इच्छित वस्तु का चुनाव करता है। इस निषेध के स्वरूप का निरूपण करने के सन्दर्भ में सार्त्र एक दृष्टान्त देते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार वैज्ञानिकों के अनुसार सारे संसार की सृष्टि अणु-तत्वों के संगठन से हुई है, और यदि उनमें एक भी अणु का विघटन होता है तो सारे विश्व में कोलाहल मच जाना स्वाभाविक है, उसी प्रकार मानवी चेतना एक छोटा-सा अणु-तुल्य निषेध है जो उथल-पुथल के द्वारा सारे संसार की सृष्टि से लिए पर्याप्त होता है।[११]

अतः मानवी-अस्ति संसार के साथ बराबर विद्यमान रहती है, क्योंकि संसार से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं है। हैडेगर की तरह सार्त्र भी यह मानते हैं कि मानवीय चेतना और वस्तु-जगत् एक-दूसरे से विलग नहीं रह सकते।[१२] यही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एकमात्र कारण है कि सत्तामीमांसीय प्रत्यात्मक सिद्धान्त और वस्तुवादी विचार एक दूसरे के प्रतिकूल रहने के फलस्वरूप संसार की समुचित व्याख्या करने में असफल रहे हैं। अतः सार्त्र का विश्वास है कि संसार का वास्तविक ज्ञान तभी सम्भव है, जब चेतना और वस्तु-जगत् इन दोनों का संयोग होता है, क्योंकि ये दोनों एक ही अस्ति के भिन्न प्रकार हैं। चेतना के लिए संसार इसलिए भी अनिवार्य है कि पृथक् रहकर वह केवल शून्य रहना नहीं चाहती। सार्त्र कहते हैं कि जैसे कोई रंग-बिना आकार का या ध्वनि बिना आघात की नहीं हो सकती, उसी प्रकार मानवीय अस्ति संसार से पृथक्, अमूर्त रूप में नहीं रह सकती।[१३]

निष्कर्ष

सार्त्र के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व संसार की स्थितियों से न बिल्कुल पृथक् है और न निरन्तर साथ होता है। वह संसार के विषयों के साथ कुछ क्षण के लिए होता है और पुनः उनसे वह पृथक् हो जाता है। इस दृष्टि से मानवी अस्ति अपने लिए केवल शून्यता के रूप में है, क्योंकि उसकी अन्तर-वस्तु कुछ भी नहीं। अहम् के साथ तादात्म्य होने पर वह अपने को क्रियाशील, आलसी या मन्द आदि विभिन्न मानसिक स्थितियों के रूप में व्यक्त करती है। अहम् तो संसार की अन्य वस्तुओं की तरह चेतना से इतर अपने में अस्ति के रूप में है, जो अपने से परे नहीं जा सकता।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस शून्यता के रूप में व्यक्ति का अस्तित्व संसार में निर्मूल है, बल्कि संसार की सारी स्थितियों और घटनाओं का प्रभाव उसके दैनिक जीवन पर पड़ता है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि संसार के अन्तर्गत किसी ने उसे परित्याग कर दिया है और वह निराधार है। अतः व्यक्ति को अपने जीवन में जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह उसके अपने सद्विचारों और तद्अनुरूप कर्मों का ही फल है।[१४] इस दृष्टि से सार्त्र यह कहते है कि मनुष्य के अस्तित्व की संरचना उसकी अन्तःप्रेरणा से ही आरम्भ होती है, न कि वस्तु-जगत् से; क्योंकि जो भी वस्तुगत ज्ञान है वह जीवन की वास्तविकता से सदा दूर होता है।[१५] इस अर्थ में मानवीय अस्ति के विकास में यद्यपि सार्त्र को किर्केगार्ड की तरह ईश्वर जैसी किसी अपर सत्ता की आवश्यकता नहीं होती, तथापि किर्केगार्ड के समान वे भी यह विश्वास करते हैं कि सत् आत्मगत है और संसार की सृष्टि का आधार मानवीय चेतना है।

— ब्रजकिशोर प्रसाद

दर्शन विभाग
मगध विश्वविद्यालय
बोधगया (बिहार)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

1. Sartre, Jean-Paul, The Psychology of Imagination, New York, The Phil. Library, Inc, 1948. (This reference to be cited hereafter as PI.)
2. ' Alive, appealing and strong as an image is, it presents its object as not-being. ' PI, p. 18.
3. " Sliminess is a characteristic not only of things, but also of human beings... of our thoughts, even in so far as they stickily hold to the past. " Passmore, J; A Hundred Years of Philosophy; Penguin Books Ltd; London, 1968, pp. 493–94.
4. Sartre, Jean-Paul, The Transcendence of the Ego, trans. William & Kirkpatrick, New york, Noonday Press, 1937 (Hereafter to be cited as TE)
5. ' Each instant of our conscious life reveals to us as a creation ex-nihilo this tireless creation of which we are not the creators. ' TE. pp. 98–99.
6. ' Transcendental consciousness is an impersonal spontaneity. ' TE, p. 98
7. ' Since all physical, psycho-physical, and psychic objects, all truths, all values are outside it, since my me has itself ceased to be any part of it... TE. p. 93.
8. ' Negation is a refusal of existence. By means of it a being (or a way of being) is posited, then thrown back to nothingness .. that nothingness haunts beings. ' Sartre, Being and Nothingness, Trans. Hazel E. Barnes, Paper Back, Mathuen & com. & H. (Hereafter to be cited as BN)
9. ' Nothingness... would derive its origin from negative judgements, it would be a concept establishing the transcendental unity of all these judgements. ' BN, p. 6.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

10. 'The totality of existing states of affairs also determines which states of affairs do not exist.' & 'The positive proposition necessarily presupposes the existence of the negative proporition. Tractatus, 2.05 & 5.5151 (3).

11. 'The For–itself is like a tiny nihilation which has its origin at the heart of being, and this nihilation is sufficient to cause a total upheaval to happen to the In-itself' BN, pp. 617–18.

12. "The concrete is man within the world in that specific union of man with the world which Heidegger, for example, calls being-in-the-world."– BN., p. 3.

13 'The For-itself without the In-itself is a kind of abstraction; it could not exist any more than a colour could exist without form or a sound without pitch' BN. p. 621.

14. 'Man is not other than a series of undertakings, that he is the sum, the organisation, the set of relations that constitute these undertakings.'

J. Sartre, Existentialism and Humanism, Trans. Maggret, Philip; Methuen, London, 1963, p. 42.

15. "The reality of every one's existence proceeds thus from the 'inwardness' of man, not from anythiug that the mind can codify, for objectified knowledge is always at one or more removes from the truth." Ibid. p. 6.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुमितिकरण की समस्या

अनुमिति-करण की समस्या भली प्रकार समझने के लिए अनुमान की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करनी आवश्यक है। महर्षि पाणिनि के अनुसार अनुमान शब्द दो प्रकार से निष्पन्न किया जा सकता है– १) " अनुमितिः अनुमानम् " तथा २) अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्। प्रथम में " अनु " पूर्वक " मा " धातु में " ल्युट् " प्रत्यय भाव अर्थ में किया गया है जबकि दूसरे में करण अर्थ में। प्रथम, भाव अर्थ में अनुमित्यात्मक ज्ञान का परिचायक है और द्वितीय, करण अर्थ में अनुमिति ज्ञान के साधन का द्योतक है।[1] इन व्याकरण सम्मत भावार्थक और करणार्थक व्युत्पत्तियों को न्यायशास्त्र में प्रयुक्त करने का श्रेय न्यायभाष्यकार वात्स्यायन को है। उन्होंने प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, प्रमिति, आदि पदों की सरल एवम् सारगर्भित परिभाषाएँ दी हैं। उपलब्धि को ज्ञान तथा उसके साधन को प्रमाण बतलाते हुए उन्होंने करणार्थक प्रमाण व्युत्पत्ति–" प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम् " का स्पष्ट उल्लेख किया है जिसे वे प्रमाण सामान्य के साथ ही प्रमाण विशेष–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द पर भी लागू करते हैं। करणार्थक व्युत्पत्ति के साथ भावार्थक व्युत्पत्ति–" प्रमतिः प्रमाणम् " का स्पष्ट उल्लेख उनके भाष्य में उपलब्ध नहीं होता।[2] इस न्यूनता की पूर्ति उद्योतकर के " न्यायवार्तिक " में की गई है जहाँ उन्होंने दोनों की व्याख्या भी की है।[3] बाद में तो प्रायः सभी दार्शनिकों ने इनको अपना लिया है।

अनुमिति और अनुमान की भाँति " करण " लक्षण भी " पाणिनि-सूत्र " में प्रथमतः मिलता है। उन्होंने करण लक्षण " साधकतमं करणम् "[4] सूत्र द्वारा अभिव्यक्त किया है। अर्थात कार्य की सिद्धि के लिए जो सर्वाधिक रूप से साधक हो, उसे करण कहते हैं। आशय यह कि जो जिस कार्य के लिए सबसे अधिक आवश्यक हो, अतिशय रूप से सहायक हो तथा सर्वोत्कृष्ट कारण हो वह उस कार्य का करण कहा जाता है। एक कार्य के अनेक कारण होते हैं। इनमें से कुछ साधारण कारण तथा कुछ असाधारण कारण होते हैं। साधारण कारण कार्यमात्र

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात् समस्य कार्यों के लिए आवश्यक माने जाते हैं। इनकी संख्या नौ है। इनके अतिरिक्त जितने भी विशेष कारण होते हैं वे असाधारण कारण कहलाते हैं। असाधारण कारणों में भी जो अतिशय-युक्त यानी प्रकृष्ट होता है वह करण कहलाता है और कारणता का सम्पादन करनेवाला अतिशय-प्रकर्ष है व्यापार। इसीलिए करण का लक्षण "व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम्" अर्थात् जो व्यापार द्वारा जिस कार्य का असाधारण कारण होता है वह उस कार्य का करण कहलाता है। आशय यह कि जिसके व्यापार और क्रिया के फल की निष्पत्ति के बीच कोई व्यवधान न हो वही करण है। प्रमिति और प्रमाण की भाँति करण, व्यापार और फल की चर्चा भी "न्यायभाष्य" में प्रथमतः उपलब्ध होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण की व्याख्या करते हुए उन्होंने इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को प्रमाण (अर्थात् करण) कहा है। "वृत्ति" पद के दो अर्थ-सन्निकर्ष और ज्ञान प्रदर्शित करते हुए उन्होंने उसकी व्यापार के रूप में चर्चा की है और पदार्थ ज्ञान तथा हान-उपादान-उपेक्षा ज्ञान को फल के रूप में। इस इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को यदि करण माना जाए तो पदार्थज्ञान व्यापार और हान-उपादान-उपेक्षा ज्ञान फल होंगे तथा इन्द्रिय को यदि करण माना जाए तो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष व्यापार और पदार्थज्ञान प्रमिति रूप फल होगा। अतः न्यायशास्त्र में उक्त करण लक्षण के प्रथम पुरस्कर्ता भी वे ही प्रतीत होते हैं। उदयनाचार्य ने भी अपनी "किरणावली" में लोकव्यवहार की दृष्टि से इस लक्षण को मान्य किया है किन्तु "न्यायकुसमाञ्जलि" में शिव को प्रमाण रूप में सिद्ध करते हुए दूसरा ही लक्षण प्रतिपादित किया है–

"फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्" अर्थात् जो फल प्राप्ति के मध्य को अवान्तर व्यवधान न हो उसे करण कहते हैं।[६] जैसे अनुमिति स्थल में लिंग-परामर्श को यदि करण माना जाए तो उसके अव्यवहित उत्तरक्षण में अनुमिति हो जाती है। इस लक्षण को व्यापारविहीन इसलिए माना जाता है कि लिंगपरामर्श और फल अनुमिति के बीच किसी अवान्तर व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती।

"अनुमिति करणं अनुमानम्" यह अनुमान सामान्य लक्षण उपलब्ध होते हुए भी अनुमान के विशेष लक्षणों में काफी मतभेद पाए जाते हैं। इस मतवैभिन्यता के मूल में भी संभवतः करण की उक्त व्यापारसहित तथा व्यापाररहित परिभाषाएं ही निहित जान पड़ती हैं। दार्शनिक ग्रन्थों में विभिन्न अनुमान-लक्षणों का अवलोकन करने पर करणविषयक मतभेदों का वर्गीकरण चार वर्गों में किया जा सकता है–

१. हेतु, हेतुदर्शन तथा हेतुविषयक ज्ञान,
२. ज्ञात, ज्ञायमान या परामृश्यमाणहेतु,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३. व्याप्तिज्ञान या व्याप्यतावच्छेदप्रकारक ज्ञान,

४. लिंगपरामर्श या व्याप्यताप्रकारक ज्ञान

उक्त करणविषयक समस्याओं को समझने के लिए उनमें प्रयुक्त होनेवाले कुछ परिभाषिक शब्दों को जान लेना आवश्यक है। उदाहरण के लिए हम निम्न अनुमान का प्रयोग करेंगे।

प्रतिज्ञा– गुब्बारे में हवा भरी हुई है.

हेतु– फूला हुआ होने से,

अन्वय उदाहरण– "जो-जो फूला हुआ रहता है उस-उसमें हवा भरी रहती है" जैसे सायकल की दूकान पर फूला हुआ ट्यूब

व्यतिरेक उदाहरण– "जिस-जिसमें हवा नहीं भरी हो वह-वह फूला हुआ भी नहीं रहता" जैसे, फूटा हुआ ट्यूब,

उपनय– यह भी फूला हुआ है,

निगमन– अतः गुब्बारा भी फूला हुआ है।

इस अनुमान स्थल में "गुब्बारा" पक्ष या अधिकरण, "फूला हुआ होना" हेतु, साधन, या लिंग, "हवा भरी हुई होना" साध्य या लिंगी, कहलाता है। साध्य और साधन का नियत साहचर्य सम्बन्ध व्याप्ति तथा पक्ष में हेतु की अनिवार्य उपस्थिति को पक्षधर्मता सम्बन्ध कहते हैं। अनुमान घटित व्याप्ति हेतु में ही वहती है। इसीलिए हेतु को व्याप्ति का आश्रय कहा जाता है। साध्य के बरावर या न्यून देश-काल में रहने के कारण हेतु को व्याप्य और साधन के बरावर या उससे अधिक देश-काल में रहने के कारण साध्य व्यापक कहलाता है।

व्याप्य मात्र में रहनेवाला अवच्छेदक धर्म व्याप्यता का अवच्छेदक कहलाता है। जैसे, "फूला हुआ होना" हेतु में "फूला होनापन" अवच्छेदक धर्म है; यह धर्म जिस ज्ञान में प्रकार रूप से भासित होता है उसे व्याप्ततावच्छेदकप्रकारक ज्ञान कहेंगे। व्याप्ति को ही व्याप्यता कहा जाता है। और यह जिस ज्ञान में (व्याप्ति) विशेषण के रूप में प्रतीत हो उसे व्याप्यताप्रकारक ज्ञान कहा जायेगा। प्रकृत स्थल में हम धूम से वह्नि के अनुमान को वर्ण्य विषय की सरलता हेतु प्रयुक्त करेंगे।

लिंग परामर्श में हेतु का तीन बार अवलोकन होता है–

१. वह्नि व्याप्यो धूमः

२. धूमवान् पर्वतः

३. वह्निव्याप्त धूमवान् पर्वतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रसोईघर में धूम और अग्नि को नियत रूप से साथ-साथ देखने पर हेतु धूम का प्रथम ज्ञान होता कि अग्नि के साथ नियत रहने से "धूम अग्नि का व्याप्य है।" हेतू का दूसरा ज्ञान तब होता है जब हम उसे पर्वत पर देखते हैं – "पर्वत धूमवाला है" तथा दूसरे ज्ञान से पहले गृहीत हुए धूम का ज्ञान व्याप्ति का स्मरण होकर तृतीय हेतु ज्ञान "वह्नि की व्याप्ति से युक्त धूमवाला पर्वत है" होता है।

प्रथम वर्ग को उपस्थापित करते हुए कहा जा सकता है कि कुछ प्राचीन न्याय शास्त्रियों ने लिंग से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को लैंगिक कहा है। अत: इनके मत में लिंग ही साधकतम करण माना गया है। वैशेषिक सूत्र में कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी, एवं समवायी लिंगों से होने वाले ज्ञान को लैंगिक कहा गया है। इसी प्रकार "अनुयोगद्वारसूत्र" में भी पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमान के भेद-प्रभेदों में अनेक हेतुओं के द्वारा अनुमान किए गए हैं। मीमांसक शबर स्वामी, सांख्याचार्य माठर तथा गौड़पाद, बौद्ध नागार्जुन तथा असंग का अनुमान-भेदों का विवेचन भी लिंग को अनुमितिकरण सिद्ध करता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु ये मत उचित नहीं जान पड़ते क्योंकि मात्र लिंग को ही यदि अनुमितिकरण मान लिया जाये तो सुप्त, मूर्छित अथवा अन्ध पुरुष आदि जिन्होंने लिंग धूम को देखा तक नहीं है उनको भी लिंगी अग्नि का ज्ञान होना चाहिए किन्तु होता नहीं है। इसी प्रकार भ्रमस्थल में भी धूलिपटल में धूम का भ्रम होने से "पर्वत वह्निमान है" ऐसी अयथार्थ अनुमिति होती है। यहाँ पर लिंग के न होते हुए भी अनुमिति होती है अत: केवल लिंग को अनुमितिकरण नहीं माना जा सकता। इस आक्षेप से बचने के लिए यदि यह कहा जाये कि लिंगदर्शन या लिंगज्ञान विषयक ज्ञान को अनुमितिकरण माना जा सकता है। क्योंकि अनुमाता व्यक्ति केवल लिंग से नहीं वरन् लिंग ज्ञान से अनुमिति करता है। किन्तु यह ज्ञान भी यदि मात्र लिंग विषयक हो तो उस से भी अनुमिति कदापि नहीं होगी। क्योंकि जिस व्यक्ति को यह ज्ञान न हो कि जहाँ-जहाँ धूम रहता है वहाँ-वहाँ अग्नि रहता है तो वह पर्वत पर धूम को देखकर भी "पर्वत अग्नि युक्त है धूमयुक्त होने से" इत्याकारक अनुमिति नहीं कर सकेगा। जिसने धूम और अग्नि के व्याप्ति सम्बन्ध को रसोईघर आदि गृहीत नहीं किया है अथवा उक्त सम्बन्ध ग्रहण करने के पश्चात् भी जिसे "पर्वत पर धूम है" इत्याकारक धूम का ज्ञान होने पर भी व्याप्ति सम्बन्ध का स्मरण न हुआ हो तो उसे केवल लिंग ज्ञान से "पर्वत अग्नि-युक्त है" यह अनुमिति नहीं हो सकती।

लिंग अथवा लिंग से साध्य की अनुमिति निष्पन्न न होने के कारण दार्शनिकों ने द्वितीय वर्ग का आश्रयण किया है। साध्य के साथ जिस हेतु की व्याप्ति निश्चित हो चुकी है उसे ज्ञात या ज्ञायमान लिंग कहते हैं। इसी प्रकार जो साधन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कभी परामर्श का विषय बन चुका है उसे परामृश्यमाप लिंग कहते हैं। 'न्याय-भाष्य' की तृतीय 'न्यायसूत्र' (१।१।३) की व्याख्या में जो अनुमान लक्षण दिया गया है उसमें ज्ञात लिंग का निवेश हुआ है। [10] उदयन इसे परामृश्यमाप लिंग के रूप में व्यक्त करते हैं। बौद्धों के द्वारा त्रैरूप्य हेतु द्वारा तथा जैनों के साध्या-विनाभूत लिंग के द्वारा जो अनुमान किए गए हैं उनमें भी ज्ञात लिंग को अनुमिति करण माना गया है। [11] अनुमान मात्र के लिए लिंग का सिद्ध अर्थात् ज्ञात अवस्था में रहना आवश्यक है क्योंकि अज्ञात साधन केवल अपनी योग्यता अथवा स्वरूप से साध्य का ज्ञान कराने की क्षमता नहीं रखता। कहा भी गया है "स्वयं असिद्धः कथं परान् साधयति"। जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय अपनी योग्यता से, अज्ञात रह कर भी, रूप ज्ञान करवाती है उस प्रकार साधन अज्ञात रह कर साध्य ज्ञान नहीं करवा सकती। अतः प्रथम वर्ग के आरोपों को इस वर्ग पर नहीं लागू किया जा सकता क्योंकि इन्होंने केवल लिंग अथवा लिंगज्ञान को अनुमिति करण नहीं माना है प्रत्युत ज्ञात लिंग को। इस प्रकार साध्य की व्याप्ति से प्रमित होकर जब कोई लिंग अनुमिति करण बनता है तो असत् लिङ्ग स्वरूप भ्रमस्थल में होने वाले लिङ्गाभास युक्त विशेषण से युक्त नहीं होता। इस मत का खण्डन करते हुए गंगेश के समर्थन में विश्वनाथ ने कहा कि अतीत और अनागत लिङ्ग से जो यथार्थ अनु-मिति होती हैं वे यहाँ सम्पन्न नहीं होने पायेंगी क्योंकि उनके कारणीभूत लिङ्ग अव्यवहित पूर्वगामी कारण नहीं हैं। जैसे "यह पाकशाला वह्निवाजी होगी, भावी धूम होने से" तथा 'यह पाकशाला वह्निवाली थी, अतीत धूम होने से' यहाँ पर अनागत धूम अथवा अतीत धूम द्वारा अनुमिति नहीं होनी चाहिए क्योंकि अनु-मितिकरण अनागत धूमात्मक लिङ्ग अथवा विशिष्ट अतीत धूमात्मक लिङ्ग उन-उन कालों में विद्यमान नहीं है, जिससे उन्हें ज्ञात या ज्ञायमान कहा जा सके। अतः ये मत भी युक्तिसंगत नहीं जान पड़ते। [12]

इस न्यूनता का परिहार करने लिए ही संभवतः मीमांसकों ने तथा वेदान्त-परिभाषाकार ने व्याप्ति ज्ञान को करण माना है। व्यापार के प्रसंग में दोनों में मत वैभिन्य है। प्रथम जहाँ व्याप्तिस्मरण को व्यापार कहते हैं वहीं द्वितीय व्याप्ति संस्कार को। [13] इस मत को मान लेने पर उक्त अतीत अनागत विषयक अनु-मितियाँ सरलता से सम्पन्न हो जाती हैं। इन का कथन है कि लिङ्ग परामर्श की अपेक्षा व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक रूप से व्याप्ति ज्ञान को मानने में लाघव भी है और इसे मान लेने पर व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान की विशिष्ट प्रतीति मानना भी आवश्यक नहीं हैं। क्योंकि लिङ्गपरामर्श रूप विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान को स्वीकार करने पर गौरव दोष होता है। ऐसा मानने पर प्रथम क्षण में धूम-दर्शन, द्वितीय क्षण में व्याप्ति स्मरण, तृतीय क्षण में लिङ्गपरामर्श और चतुर्थक्षण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में अनुमिति होती है । जबकि मीमांसक मत में प्रथम क्षण में 'धूमवान् पर्वतः' यह ज्ञान, द्वितीय क्षण में वह्नि० व्याप्यो धूमः इत्याकारक व्याप्तिस्मरण होकर तीसरे क्षण में अनुमिति हो जाती है । अतः मीमांसामत में एक ज्ञान और एक क्षण कालकृत लाघव है । फिर व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक करण मान लेने पर " पर्वत धूमवान् है " इस पक्षधर्मतामूलक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान तथा 'वह्निव्याप्यो धूमः' इस व्याप्ति स्मरणात्मक ज्ञान में धूमत्व व्याप्यतावच्छेदक धर्म के रूप में दोनों में प्रकार रूप से रहता है अतः दोनों को संयुक्त करने की आवश्यकता नहीं है । [14] इस मत का खण्डन करते हुए गंगेश ने कहा है कि व्याप्ति को चरम कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि फलोत्पत्ति रूप अनुमिति का वह अव्यवहित कारण नहीं है ।[15]

चतुर्थ वर्ग में नैयायिकों ने लिङ्गपरामर्श को अनुमिति करण कहा है। न्यायभाष्यकार की अनुमान सूत्र (१।१।५) की व्याख्या में दी गई अनुमान परिभाषा से विदित होता है कि यहाँ उन्हें प्रमित लिङ्ग की अपेक्षा लिङ्ग परामर्श ही अनुमिति करण के रूप से अभीष्ट है । भाष्य की व्याख्या करते हुए उद्योतकर ने लिङ्गी-लिङ्गी सम्बन्ध दर्शन अर्थात् व्याप्तिज्ञान और लिङ्गपरामर्श को अनुमिति के करण के रूप में प्रथमतः उपस्थापित किया है किन्तु " आनन्तर्य प्रतिपत्ति " को सकल अनुमानों की आवश्यक शर्त बतलाते हुए उन्होंने लिङ्ग परामर्श को अधिक युक्तिसंगत माना है क्योंकि प्रथम विकल्प व्याप्तिज्ञान के अव्यावहित उत्तरक्षण में अनुमिति नहीं होती । [16] वाचस्पति मिश्र ने भी लिङ्गपरामर्श को ही अनुमितिकरण माना है । आचार्य गंगेश ने भी लिङ्गपरामर्श को ही अनुमिति साधक अनुमान कहा है, परामर्श मात्र को नहीं । यदि परामर्शमात्र को करण माना जाए तो " द्रव्य व्याप्यमन् पर्वतः " इस ज्ञान से भी " पर्वतो वह्निमान् " यह अनुमिति हो सकती है क्योंकि यह ज्ञान भी परामर्शरूप ही है । किन्तु इस से उक्त अनुमिति कदापि नहीं हो सकती । व्यापारवद् आसाधारणं कारणं करणम् " को करण मानने वाले लिङ्ग परामर्श में भी व्यापार की कल्पना कर कहते हैं कि लिङ्गपरामर्श करण और उसका संस्कार व्यापार माना जा सकता है । किन्तु गंगेश इसे मान्य नहीं करते क्योंकि वे लिङ्गपरामर्श को चरम कारण मानते हैं और संस्कार की उत्पत्ति उसके उपरान्त होती है । अतः संस्कार के उत्पत्ति काल में अनुमिति हो जाएगी तब संस्कार को व्यापार कैसे माना जा सकता है । इसलिए लिङ्गपरामर्श ही करण हो सकता है । [17] मीमांसकों के उक्त आक्षेपों का निराकरण करते हुए नैयायिक लोग कहते हैं कि जिस पुरुष को व्याप्यतावच्छेदक (धूमत्व) का ज्ञान नहीं हुआ है उसे "वह्निव्याप्यवान् पर्वतः" इस ज्ञान से अनुमिति होती है । आशय यह कि वह्नि का व्याप्य धूम या आलोक अथवा इंधन पर्वत में अवश्य है, यह विशेष रूप से ज्ञान न होने पर भी उसे सामान्यतः पर्वत में वह्नि के व्याप्य का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निश्चय है। यह यियम है कि जिस आत्मा में जिस धर्म वाली व्याप्यवत्ता का निश्चय हुआ करता है, उस निश्चय से उसके उत्तर क्षण में उसी आत्मा में, उस धर्मवाली व्यापकता का भी निश्चय हो जाता है। जैसे "वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वत:' यह पर्वत धार्मिक व्याप्यवत्ता का निश्चय समवाय सम्बन्ध से जिस आत्मा में जिस काल में, उत्पन्न होता है, उसी आत्मा में व्याप्यवत्ता निश्चय द्वारा "पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक पर्वतधार्मिक अनुमितिरूप व्यापकवत्ता निश्चय को भी उत्पन्न कर देगा। मीमांसा मत मान्य करने पर ऐसा नहीं होना चाहिए, क्योंकि पूर्वोक्त ज्ञान उनके मतानुसार व्याप्यतावच्छेदक प्रचारक ज्ञान नहीं है। क्योंकि "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत:" इस ज्ञान में व्याप्यतावच्छेदक धर्म "धूमत्व" प्रकारक नहीं है। यदि यह कहा जाये कि यह ज्ञान व्याप्यतावच्छेदक प्रचारक ज्ञान न होने के कारण अनुमिति का उत्पादन करने में असमर्थ है तो उचित नहीं क्योंकि इस ज्ञान से होनेवाली अनुमिति प्राय: सभी को मान्य है। दूसरे, यदि व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान को ही अनुमिति में कारण माना जाए तो केवल "धूमवान् पर्वत:" इस ज्ञान से भी अनुमिति होनी चाहिए क्योंकि यह ज्ञान भी धूमांश में व्याप्यतावच्छेदक धर्म 'धूमत्व" प्रकारक भी है और धूम पर्वत में रहने वाला धर्म होने के कारण पक्ष का धर्म भी। किन्तु केवल पक्षधर्मता ज्ञान से अनुमिति कहीं भी नहीं होती। फिर व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान की अपेक्षा व्याप्यताप्रकारक अर्थात् व्याप्ति प्रकारक पक्षधर्मताज्ञान को करण स्वीकार कर लेने पर न्याय लक्षण में अवच्छेदक का निवेश न होने से लाघव है। यदि इस दोष का परिहार करते हुए मीमांसक यह कहें कि सहकारी कारणभूत उपर ज्ञान से विशिष्ट जो व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान है वही अनुमिति के प्रति कारण है तो यह भी युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता क्योंकि जिस स्थल में रमेश को "वह्निव्याप्यो धूम:" यह स्मरणात्मक व्याप्ति ज्ञान हुआ और उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में महेश को "धूमवान् पर्वत:" यह व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान हुआ तो वहाँ भी अनुमिति होनी चाहिए, किन्तु होती नहीं। अत: उनके द्वारा उठाई गई सभी आपत्तियाँ निरस्त हो जाती हैं।[१८]

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अनुमिति ज्ञान में व्याप्ति-ज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान दोनों ही अपरिहार्य हैं। इसीलिए अनुमिति के करण के रूप में दोनों का सन्निवेश होना आवश्यक जान पड़ता है। लिङ्ग या लिङ्गज्ञान, ज्ञात या ज्ञानमान तथा परामृश्यमाण लिङ्ग को करण माननेवालों ने पक्षधर्मता पर अधिक बल दिया है जबकि व्याप्तिज्ञान के माननेवालों ने व्याप्ति पर। किन्तु दोनों मत एकांगी जान पड़ते हैं। इसी प्रकार व्याप्यतावच्छेदक प्रकार के ज्ञान के अन्तर्गत विशकलित खण्ड ज्ञान "धूम अग्नि का व्याप्य है" और "पर्वत धूम-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

युक्त है" से सर्वत्र अनुमिति नहीं हो सकती। इसी गुत्थी को सुलझाने के लिए सम्भवतः नैयायिकों ने विशिष्ट ज्ञान रूप लिङ्गपरामर्श की मान्यता को स्वीकार किया है। व्याप्ति को हेतु का विशेषण बना देने पर उक्त दोनों विशकलित ज्ञान (व्याप्ति और पक्षधर्मता) पक्ष में समाविष्ट हो जाते हैं। लिङ्गपरामर्श न तो केवल व्याप्तिज्ञान है और न ही मात्र पक्षधर्मता ज्ञान किन्तु व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान है।

स्वार्थानुमान में अनुमान प्रक्रिया मानसिक रहती है। अतः उसमें व्याप्ति और पक्षधर्मता के प्रतिपादक (वाक्यों) के द्वारा सरलता से निष्कर्ष निकाला जा सकता है उसमें दोनों को सन्निविष्ट करनेवाले किसी तीसरे वाक्य की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। किन्तु परार्थानुमान में यह बात नहीं होती। इसमें हम अपने द्वारा ज्ञात तथ्यों को, दूसरों को, शब्दों के माध्यम से समझाना चाहते हैं। अतः सुगमता से समझने के लिए दोनों ज्ञानों को समष्टिमूलक एक ही वाक्य में प्रस्तुत करना श्रेयस्कर है। फिर भी यह न ही कहा जा सकता कि लिङ्गपरामर्श सभी अनुमानों के लिए आवश्यक है और न ही यह कहा जा सकता है कि वह अनुमिति के लिए कहीं भी अपेक्षित नहीं रहता। इससे अनुमान सन्देहरहित, सुदृढ़ और विश्वसनीय बन जाता है।

दर्शन विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर (म. प्र.)

— **व्रजनारायण शर्मा**

टिप्पणियाँ

१. ल्युट् च। करणाधिकरणयोश्च। पाणिनि सूत्र ३।३।११५, ११७
२. उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति......प्रमीयतेनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाण शब्दः तद्विशेषसमाख्यया अपि तथैव व्याख्यानम्। न्याय भाष्य पृ. २४
३. सर्वं च प्रमाणं स्वविषयं प्रति भावसाधनम्, प्रमितिः प्रमाणमिति। विषयान्तर प्रति करण साधनम्, प्रमीयतेनेनेति प्रमाणम्। न्याय वार्तिक पृ १८४
४. साधकतमं करणम्। पाणिनि सूत्र १।४।४२
५. साधारणकारणत्वं कार्यत्वावच्छिन्न कार्यता निरूपित कारणताशालित्वम्। साधारण कारण ९ प्रकार के हैं :—१. ईश्वर, २. ईश्वरीय ज्ञान, ३. ईश्वरीय इच्छा, ४. ईश्वरीय प्रयत्न, ५. अदृष्ट, ६. कार्य-प्रागभाव, ७. दिक्, ८. काल, एवं प्रतिबन्धक-अभाव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

असाधारण कारणत्वं कार्यत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्न कार्यतानिरूपित कारणताशालित्वम् । – न्यायबोधिनी पृ २५

६. न्याय भाष्य पृ. २३, २६

७ किरणावली पृ. ४७५; न्याय कुसुमाञ्जलि ४।५–६

८. देखिए "भारतीय दर्शन में अनुमान", अध्याय ४

९. न्यायदीपिका पृ. ६७; शिखामणि तथा मणिप्रभा पृ. १६४–६५

१०. मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानम् । न्या. भाष्य, पृ. २४

११. देखिए, भारतीय दर्शन में अनुमान, अध्याय ४ ।

१२. तत्त्वचिन्तामणि पृ. १२८४, पृ. २४, पृ. १३०१–२, सिद्धान्तमुक्तावली २, पृ. ३–४ ।

१३. वेदान्त परिभाषा पृ. १६४–६५ ।

१४. कारिकावली का ६६ पर मुक्तावली तथा विलासिनी टीका ।

१५. तत्त्वचिन्तामणि पृ. १३१३–१३ ।

१६. लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसम्बध्यते । लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृति सम्बध्यते । स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षर्थोनुमीयते । न्या. भाष्य पृ. ३२ ।

१७. न्यायवार्तिक पृ. २९३ ।

१८. तत्त्वचिन्तामणि पृ. १३१२–१३ ।

१९. सिद्धान्त मुक्तावली २, पृ. ९–११, विलासिनी टीका पृ. ९–१३; तत्त्वचिन्तामणि पृ. १२१६–१७ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मण्डन मिश्र की प्रत्यक्ष-मीमांसा

अधुनातन दार्शनिक परिवेश में प्रत्यक्ष—सिद्धान्तों की वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानि तथा दार्शनिक विविधताओं के इस युग में बारह सौ वर्ष पूर्व के चिन्तन को सामने लाया जाता है तब भारतीय विद्यार्थी की नव्य चेतना पुरातनपन्थी आरोप भय से सिहर उठती है। इस सिहरन का सांस्कृतिक कारण न होकर प्रभावों द्वा आरोपित कारण है कि हमारे मन में अभिनव चिन्तन से इतनी परिव्याप्ति ली है जिससे मुक्त होकर हम पूर्वजों द्वारा निक्षिप्त निगूढ़ सम्पदा से पराङ्मुख रहने में ही सुरक्षित अनुभव करते हैं। परन्तु अधुनातन विचारधारा का प्रत्य स्वरूप जब इतिहास के पन्नों में से सर्चलाईट फेंकने लगता है तब विभाजक रेखा टूट जाती हैं और हम प्राचीनता तथा नवीनता का अपृथग्भाव देखने को विवश हो जाते हैं। यही विवशता मण्डन मिश्र की प्रत्यक्ष-मीमांसा को पुरस्कृत करने प्रेरणा है।

मण्डन मिश्र दर्शन के क्षेत्र में परिचित व्यक्ति हैं पर उसका कृती व्यक्तित्व कुमारिल और प्रभाकर के समान आधुनिक विद्यार्थी को चमत्कृत नहीं करता फिर भी मण्डन मिश्र का व्यक्तित्व तिरोहित नहीं रहा है। मीमांसा-दर्शन अद्वैतवादी मोड़ देनेवाले इस महामहिम मनीषी ने अद्वैतवेदान्त की अध्यात्ममूल प्रत्यक्ष धारणा को उपेक्षित कर जिस अभेदख्याति की स्थापना की है वह भारती दर्शन के इतिहास में अपूर्व है। गेस्टॉल्ट-मनोविज्ञान और क्षेत्रगति-मनोविज्ञान धाराएँ आज सुपरिचित हैं जो प्रत्यक्ष की अभेदपरक व्याख्या करती हैं। संक्षेप उनका अभिमत यह है कि भागों की अपेक्षा समुदाय अधिक होता है और प्रत्य में पहले वही उतरता है। निश्चय ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी पहल करनेवा अंशी पदार्थ होता है, अंशों के विभाग बाद में प्रत्यक्षगम्य होते हैं। यह स्थाप शुद्ध मनोवैज्ञानिक है। परन्तु जब हम अद्वैत-दर्शन की आधारशिला पर इसी समकक्ष तथा अधिक प्रौढ़ प्रत्यक्ष—मीमांसा पर दृष्टिपात करते हैं तब आश्चर्यचकि होना पड़ता है। मण्डन की स्थापना है कि अभेद ही वस्तु है, भेद परिकल्पना म है—"अभेद ही सत्य, अखण्ड तथा अनन्त है। अविद्या के कारण उस अभेद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वरूप निर्णय नहीं हो पाता। जिस प्रकार तरङ्गों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा तरङ्ग भेद से भिन्न दिखाई पड़ता है और भ्रमवश प्रतिबिम्बों की विविधता को यथार्थ मान लिया जाता है, उसी प्रकार अभेद में भेद की कल्पना की जाती है, जबकि सभी भेदों का उपादान अभेद है।"[1]

अद्वैत-वेदान्त में भेद को अनिर्वचनीय माना जाता है किन्तु मण्डन भेद को अनिर्वचनीय न मानते हुए भेद-प्रतीति को अनिर्वचनीय बताते हैं–"विकल्प-बुद्धि अनिर्वचनीय है जिसका कारण अनादि विकल्प-वासना है। मनुष्य का मन विकल्प-वासनाओं से इस प्रकार ग्रस्त हो जाता है कि वस्तुओं में पारस्परिक भेद का व्यवहार कर चलता है, जबकि वस्तुतः भेद कुछ होता ही नहीं कि उसे तत्त्व या या अतत्त्व के रूप में विचारणीय ठहराया जा सके।"[2] यहाँ अभिप्राय यह है कि जो दर्शन एक ही मूल उपादान कारण से विविधता का आविर्भाव स्वीकार करता है उसे प्रत्यक्ष में उस एकत्व की परिव्याप्ति स्थापित करनी चाहिए। यदि भेद सत्य रूप से प्रतिष्ठित हो जाए और प्रत्यक्ष में उसी का साम्राज्य प्रमाणित हो तो पारमार्थिक अद्वैत का कोई व्यावहारिक प्रमाण नहीं रह जाता। तत्त्व की अभेद-प्रख्या प्रत्यक्ष में अवतीर्ण होकर ही अपने को प्रमाणित करती है। इस तथ्य पर आशङ्का उठाकर मण्डन मिश्र ने कहा है कि "प्रत्यक्ष में अभेद की प्रख्या होती है। अतः जहाँ प्रख्याभेद दिखाई देता है वहाँ वस्तुभेद की स्थापना नहीं हो सकती क्योंकि एक ही आधार में अनेक की प्रतीति तर्क की दृष्टि से पराभूत हो जाती है।"[3] तात्पर्य यह कि पट की एकत्व बुद्धि में तन्तुओं की अनेकत्व बुद्धि बनती है, अतः अवयवी की समग्रता अवयवों के पार्थक्य को आत्मसात् कर लेती है। फलतः अभेद से बाहर भेद की कल्पना असम्भव रहती है। गेस्टाल्टमनोविदों का अतिप्रिय दृष्टान्त है कि तारकखचित रजनी का प्रत्यक्ष "गेस्टाल्टिक" किंवा अपृथग्भूत होता है। उसी में विविध नक्षत्र और उनकी रश्मियां बाद में विविक्त की जाती हैं। ऐसा ही मण्डन मिश्र का सिद्धान्त है।

मण्डन मिश्र का प्रत्यक्ष–सिद्धान्त समझने के लिए अद्वैत-वेदान्त से पृथक् उनके अभिमत को हृदयङ्गम करना अपेक्षित है।

(क) अद्वैतसम्मत अनिर्वचनीयतावाद में प्रत्यक्ष विषय-भेदों को सदसद्वि-लक्षण बताया जाता है। इसके विपरीत मण्डन मिश्र भेद को तत्त्वरूप या अतत्त्व-रूप से अनिर्वचनीय बताते हैं। स्पष्ट है कि उनके अनुसार अभेद-सत्ता पर प्रतिष्ठित भेद सत् तो है परन्तु अभेदात्मक तत्त्व में स्वरूप ग्रहण करने से उसे अतत्त्व नहीं कह सकते क्योंकि कारण की सत्ता से वह सत्तावान् है। साथ ही उसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तत्त्व भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अभेद से बाहर भेद की सत्ता प्रत्यक्ष नहीं हो सकती।

(ख) अद्वैत-वेदान्त में अनिर्वचनीय अविद्या को भावरूप या वस्तुरूप माना जाता है। परन्तु मण्डन मिश्र भेद को पूर्णतः अवस्तु घोषित करते हैं। फलतः कार्यभूत भेदों के प्रत्यक्ष मण्डन के अनुसार अवस्तु हैं। अभेदरूप वस्तु में प्रतिफलित होने के कारण उन्हें तत्त्व या अतत्त्व से अवाच्य माना गया है।

(ग) अद्वैत-वेदान्त भेदावस्था को विचारणीय ठहराकर उसे अनिर्वचनीय घोषित करता है। परन्तु मण्डन मिश्र उसे अवस्तु मानते हुए विचारार्थ उपेक्षणीय ठहराते हैं। तदनुसार भेद-प्रत्यक्ष पर विचार करना ही अविद्या का प्रसार है।

(घ) भेदों की अयथार्थता को मण्डन मिश्र ने प्रतिबिम्बवाद के साथ जोड़ा है। कार्यगत सभी भेद उनके अनुसार कारण के प्रतिबिम्ब हैं।

(ङ) मण्डन मिश्र ने प्रतिभास के समान ही व्यवहार को अवस्तुरूप विकल्प मात्र माना है। भेद का केवल वाचारम्भण (छान्दोग्य ६।१।४) होता है। तात्पर्य यह कि विकल्प या भेद शब्दों की उपाधि में आकार लेते हैं, परमार्थतः वे वस्तु-शून्य ही होते हैं।[४] उनका अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्षगोचर अभेद भेदसहिष्णु नहीं है, प्रत्युत सभी भेदों को अपने में समाहित रखता है, जिस प्रकार अग्नि के प्रकाशन, पाचन, दहन आदि विविध कार्य उसमें कोई भेद नहीं लाते। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत प्रत्यक्ष सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ निम्नलिखित हैं—

१. जाति, आकृति, गुण, क्रिया और द्रव्य को विचारकों ने पृथक् तत्त्व मानकर उनमें सम्बन्ध स्थापित किया है। इस प्रकार धर्मों को सत्य मानते हुए धर्मी को उनसे निर्मित बताया जाता है कि उक्त घटक अलग-अलग भासित होते हैं और तदनन्तर समवेतरूप से सविकल्प-प्रत्यक्ष में उतरते हैं। इसके विपरीत मण्डन मिश्र की स्थापना है कि अखण्ड समवाय में ही भेदों की कल्पना होती है जिन से व्यवहार चलता है। निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष अभिन्न समवाय का होता है। सविकल्पक में भेदों की कल्पना होती है।

(२) प्रत्यक्ष का मूल विषय समवेत स्वरूप होता है। अतः अभेद को लेकर ही अर्थ-क्रियाकारिता चलती है। उक्त जात्यादि के एकीभूत घट को ही जलाधार के रूप में व्यवहृत किया जाता है।

३. अन्य दर्शनों में भेद को समूह का घटक माना जाता है। इसके विपरीत मण्डन मिश्र के अनुसार अभेद में भेदों की कल्पना होती है क्योंकि तात्त्विक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एकत्व को बिना माने हुए प्रत्यक्ष से भेद की व्याख्या नहीं हो सकती। भेद पाँच प्रकार से देखा जाता है और सर्वत्र उसका अवस्तुत्व प्रमाणित होता है –

(क) वस्तुरूप विधि :

भेद को विधिरूप से वस्तु का स्वरूप मानने पर व्यावृत्ति की अपेक्षा होती है। अतद्व्यावृत्ति अथवा अपोह के बिना भेद प्रमाणित नहीं होता। अतः व्यावृत्ति रहित स्वरूप में भेद का कोई स्थान नहीं बन पाता।[६]

(ख) व्यवच्छेद :

व्यवच्छेद अथवा व्यावृत्ति अन्यवस्तु सापेक्ष है। वस्तु का अभेदस्वरूप प्रत्यक्ष होने के अनन्तर व्यवच्छेदरूप निषेध की कल्पना होती है। विधिरूप अभिन्न वस्तु का प्रत्यक्ष हुए बिना तत्सदृश अन्य वस्तु का व्यवच्छेद नहीं हो सकता। अतः व्यवच्छेद वस्तु भी अभिन्न रूप से ही प्रत्यक्ष-विधि में आकर व्यवच्छेदभागी बनता है जिससे अन्योन्याभाव की व्यवस्था होती है कि घट पट से भिन्न है। यहाँ घट और पट दोनों पहले एकीभूत रूप में प्रत्यक्षगोचर होकर ही अन्योन्याभाव के प्रतियोगी हो पाते हैं।[७]

(ग) यौगपद्य :

वस्तु का प्रत्यक्ष और अन्यवस्तु-व्यवच्छेद साथ-साथ नहीं हो सकते क्योंकि प्रत्यक्ष का कार्य व्यवच्छेदमात्र न होकर विधिरूप से वस्तुस्वरूप का निर्धारण है। अभेदरूप वस्तु के निश्चित हो जाने पर ही व्यवच्छेद का अवसर आता है।[८]

(घ) व्यवच्छेदपूर्वक विधि :

कुछ विचारक यह मानते हैं कि पहले व्यवच्छेद हो चुकता है, तदनन्तर वस्तुस्वरूप का निर्धारण होता है। तदनुसार व्यावृत्तिपूर्वक प्रत्यक्ष का विधान मान्य बनता है। इसकी आलोचना करते हुए मण्डन मिश्र ने स्थापित किया है कि किसी प्रमाणित विषय में ही अन्य प्रमाणित वस्तु का निषेध होता है। प्रमाणित भूतल में प्रमाणित घट का अथवा गो-पदार्थ से अश्व-पदार्थ का व्यवच्छेद किया जाता है। प्रतिषेध विषय और प्रतिषेध्य पदार्थ के प्रमाणसिद्ध हुए बिना निषेध भी किसका किसमें किया जाएगा ?[९]

(ङ) विधिपूर्वक व्यवच्छेद :

यदि माना जाए कि एक ही ज्ञानव्यापार में विधि और व्यवच्छेद का क्रम रहता है, तो असंगत है। वैषयिक ज्ञान के क्षणिक होने से एक क्षण में एक ज्ञान-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यापार वस्तुस्वरूप का विधान और अन्य वस्तु से उसकी व्यावृत्ति का क्रम नहीं ले सकता। दूसरे क्षण के ज्ञान से भी व्यवच्छेद तभी घटित हो सकता है जब व्यवच्छेद पदार्थ प्रमाणित हो और प्रमाणित पदार्थ तथा निषेध्य पदार्थ दोनों अपने-अपने स्वरूप में अभिन्न रहते हों।[10]

सारांश यह कि एक का विधान अन्य का व्यवच्छेद नहीं है। गो-ज्ञान से अश्व-व्यावृत्ति नहीं होती। यहां तक कि शुक्ति में रजतज्ञान के अनन्तर जब शुक्ति-ज्ञान होता है तब पूर्व ज्ञान का निषेध नहीं होता क्योंकि विधिरूप ज्ञान जब हो चुकता है तब उसका बाध क्या होगा? उत्तर काल में होने वाला ज्ञान बाधक नहीं हो सकता क्योंकि बाध्यज्ञान उसका सामना करने के लिए बुद्धि के क्षेत्र में उपस्थित ही नहीं होता।[11] यह मानते ही कि ज्ञान से अन्य का व्यवच्छेद होता है, ज्ञान का विधिस्वरूप ही नहीं बन पाता। एक विषय की विधि को अन्य का निषेध मान लेने पर समूहालम्बन ज्ञान में भेद की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ एक ही ज्ञान में अनेक रंगों का संसर्ग होता है। यदि भेद-प्रत्यय को सत्य मान लिया जाए तो नील, पीतादि में से किसी एक का ही प्रत्यक्ष हो रह जाएगा जिससे चित्र की समग्रता समाप्त हो जाएगी। यह चित्र का अभिन्न प्रत्यय (गेस्टाल्ट) इस तथ्य का प्रमाण है कि प्रत्यक्ष सदैव एकात्मक होता है। चित्र में भेद कर कल्पना तभी बनती है जब सभी रेखाओं और रंगों का पहले एकीभूत ज्ञान हो और तब उनके पार्थक्य की कल्पना की जाए। पार्थक्य या भेद को ही प्रत्यक्ष का सार मान लेने पर किसी एक रेखा या रंग का अन्य रेखा अथवा रंग से भेदमात्र का बोध होगा जिसमें सभी रेखाओं और रंगों का पृथक्-पृथक् विवेचन भी असम्भव होगा। तात्पर्य यह कि अन्य से व्यावृत्ति एक का प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्युत समुदित अभेद का प्रत्यक्ष होने के अनन्तर ही चित्र में सभी भेद कल्पित होते हैं।[12]

कुछ विचारक व्यावृत्ति का समर्थन करते हुए भेद-पक्ष की ओर से तर्क देते हैं कि व्यावृत्ति वस्तु का स्वरूप है। इस पर मण्डन मिश्र का कहना है कि व्यावृत्त पदार्थ यदि व्यावृत्ति से ही बनता तो उसे निषेधरूप कहना चाहिए। ऐसा अभावात्मक तत्त्व प्रत्यक्ष का प्रमेय नहीं हो सकता। फलतः वस्तुरूप से प्रमेय यदि भेदात्मक है तो उसकी भावात्मक सत्ता नहीं हो सकती और यदि यह कहा जाए कि व्यावृत्ति के बिना किसी वस्तु का स्वरूप ही स्थिर नहीं होता, इस अवस्था में भिन्नता की व्याख्या भी नहीं हो सकती क्योंकि भेद उन्हीं वस्तुओं का होता है जो पहले से स्वरूपसिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि अभेद-स्वरूप से प्रमाणित वस्तुओं में भेद के विकल्पात्मक प्रतिबिम्ब उभरते हैं, भेद वस्तु का स्वरूप नहीं हो सकता।[13]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि एक वस्तु का स्वरूपनिर्धारण दूसरी वस्तु की सापेक्षता से होता है। मण्डन मिश्र का कहना है कि अपेक्षा पुरुष धर्म है, वस्तुधर्म नहीं। हमारी अपेक्षा के बिना भी वस्तु का स्वरूप यथावत् रहता है।[१४] तात्पर्य यह है कि ज्ञान वस्तुतन्त्र होता है, पुरुषतन्त्र नहीं। स्वरूपस्थित वस्तु का उसके यथार्थ स्वरूप में ही ज्ञान होता है। पुरुष की अपेक्षा उसमें परिवर्तन नहीं ला सकती। ज्ञान का आकार वस्तु से निर्मित होता है, पुरुष से नहीं। कहा जाए कि अर्थक्रिया अथवा समर्थप्रवृत्तिजनकता के आधार पर जो वस्तुरूप निश्चित होता है उसमें सापेक्षता रहती है। सापेक्षता से ही प्रवृत्ति और निवृत्ति का निर्धारण होता है। अतः वस्तुस्वरूप में अपेक्षाजनित भेद निरन्तर अनुस्यूत रहता है। भेदवादी को उत्तर देते हुए मण्डन मिश्र ने कहा है कि अर्थक्रिया से जनित भेद पुरुष की विकल्पबुद्धि का फल है और वह अवश्य ही पुरुषतन्त्र है। परन्तु वस्तुस्वरूप में इससे भेद नहीं आता। अर्थक्रिया का भेद वस्तुस्वरूप की यथार्थता को नहीं बदल सकता। अग्नि जलाता भी है, पकाता भी है। यह क्रियाकृत भेद अग्नि का स्वरूपभेद नहीं है, प्रत्युत पुरुष की विकल्पबुद्धि का परिणाम है।[१२]

मण्डन मिश्र अद्वैतवादी विचारक हैं। शङ्कराचार्य के समान ही वे भेद को मायाजनित स्वीकार करते हैं। परन्तु व्यवहार में अभेद की सर्वत्र व्याप्ति स्वीकार करने में वे विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके विचारों का रहस्य यह है कि मायाजनित भेद को ही प्रत्यक्ष का विषय मान लिया जाए तो यह माया को मूलकारण स्वीकार करना हुआ। यदि मूल कारण अद्वैत ब्रह्म है तो कार्य-जगत् में उसका प्रकाश व्याप्त रहना चाहिए। इस प्रकार प्रत्यक्ष का विषय जो वस्तुस्वरूप बनता है वह अपनी अखण्डता में ही प्रमेय है। मोटे तौर पर तीन प्रतिपक्ष मण्डन मिश्र सामने रखे हैं – संसर्गवाद, अनेकान्तवाद और अत्यन्तभेदवाद। इन तीनों की समीक्षा करके उन्होंने स्वाभिमत अभेदवाद की स्थापना की है।

(क) संसर्गवाद

न्याय और वैशेषिक में समवाय सम्बन्ध से संघटित अवयव अवयवी के आरम्भक माने जाते हैं। यहाँ भेदपूर्वक अभेद स्थापित किया जाता है। अवयवों की भिन्नता और अवयवी की एकता दोनों को अयुतसिद्ध रूप में यथार्थ स्वीकार किया जाता है। इस पर मण्डन मिश्र का कहना है कि समवाय सम्बन्ध से यदि भेदों का अन्तर्धान हो सकता है और विविधता एकता में परिणत हो सकती है तो यह क्यों नहीं मान लिया जाता कि एकत्व ही यथार्थ है और नानात्व उसका प्रतिभास।[१६] नैयायिक यह कह सकता है कि समवाय सम्बन्ध में वह शक्ति है कि भेदों को अभेद में बदल लेती है। परन्तु यह तर्क प्रतिकूल दिशा में मोड़ा जा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकता है। संसर्ग भेद में अभेद न दिखाकर अभेद भेद का प्रकाशन करता है। न्यायवैशेषिक के सात रूपों में चित्ररूप अन्यतम है, उसे इस दर्शन में एक माना जाता है (वैशेषिक सूत्र ४–१–७६)। परन्तु चित्रवरण में रूपगत विविधता भी प्रत्यक्ष होती है। इसकी व्याख्या अभेद में भेद मानकर ही की जा सकती है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष के प्रमेय में यथार्थबुद्धि अभेद की होती है और उसीमें विकल्पबुद्धि के प्रतिभास उदय लेते हैं।[१७]

व्यवहार में ज्यों ही यह स्वीकार किया गया कि सम्बन्ध से भेद में अभेद स्थापित होता है त्यों ही सम्पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान कल्पनामात्र होकर रह जाएगा, क्योंकि प्रत्यक्ष में आनेवाली अखण्डता को अयथार्थ मान लेने पर प्रमेय का स्वरूप ही नहीं बनेगा कि प्रमा हो सके। उस दशा में समूचे ज्ञान पर से विश्वास उठ जाएगा।[१८]

(ख) अनेकान्तवाद

जैन-दर्शन के अनुसार द्रव्य में उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय की निरन्तरता रहती है। उदाहरणार्थ, द्रव्यरूप से सुवर्ण ध्रुव है जबकि कुण्डलादि पर्यायरूप से उत्पाद और विनाश का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसकी आलोचना करते हुए मण्डन मिश्र ने कहा है कि ध्रुवता के अभेद को लेकर ही पर्यायरूप भेदों की व्याख्या की जा सकती है। भेदों की नित्यता मान लेने पर ध्रौव्य की व्याख्या असम्भव होगी। अभेद को विना माने हुए यदि तीनों का समवाय माना जाए तो हर्ष, शोक और तटस्थता की व्याख्या न हो सकेगी। उदाहरणार्थ विनाश से शोक, अपूर्व उत्पत्ति से प्रीति और ध्रुवता से मध्यस्थता हो सकती है। परन्तु तीनों को एकत्र मान लेने पर तीनों की व्याख्या नहीं हो पाती।[१९]

उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय की एकान्तता मान लेने पर प्रवृत्ति और निवृत्ति की व्यवस्था नहीं बन पाती। इसके अतिरिक्त भेद और अभेद का अनेकान्त स्वीकार करने पर वस्तु की स्वरूपगत व्याख्या असम्भव है। कारण कि अनेकान्त में अभेदकल्पना भेदसापेक्ष और भेदकल्पना अभेदसापेक्ष होगी। अज्ञात भेद अभेद का उपादान नहीं हो सकता और असिद्ध अभेद में भेदों की कल्पना असम्भव है।[२०] ऐसी स्थिति में अनेकान्तवादी को भी अभेदरूप ध्रौव्य की सत्यता एकान्त रूप से मान्य करनी चाहिए।

(ग) अत्यन्तभेदवाद

बौद्ध-दर्शन निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही यथार्थ मानते हुए अतद्व्यावृत्त स्वलक्षण को ही परमार्थ सत् मानता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष में उभरनेवाला अभेद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संवृत्तिसत् या सामान्य-लक्षण होने के साथ-साथ मिथ्या है। संक्षेप में इसका खण्डन करते हुए मण्डन मिश्र ने कहा है कि अतद्व्यावृत्त स्वलक्षण पदार्थों में अत्यन्तिक अन्योन्याभाव न होकर औपाधिक है क्योंकि प्रत्यक्ष के अनुव्यवसाय में भासित होनेवाले पदार्थ स्वरूपतः भिन्न नहीं हो सकते। तदनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी अभेद का ही होता है। भेद की कल्पना बुद्धिविकल्प विशिष्ट सविकल्पक में ही हो सकती है। जिस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में कोई विकल्प नहीं होता उसमें भेदों की प्रमेयता असङ्गत है।[२१]

ऐसे अवसरों पर गेस्टाल्ट-मनोविद् सटीक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि रस, गन्ध, रूप आदि से संचलित खीर खाते समय भोक्ता को प्रथमतः गुणों का अलग-अलग ग्रहण नहीं होता। यही गेस्टाल्टिक अभेद है। भिन्न-भिन्न गुणों का ग्रहण बाद में कल्पित किया जाता है। यद्यपि मनोविज्ञान की यह व्यवस्था अद्वैत ब्रह्म को उपादान मानकर प्रतिष्ठित नहीं हुई है तथापि इससे व्यवहार की वैसी ही व्याख्या मिल जाती है जैसी कि मण्डन मिश्र को अभिप्रेत है। भारतीय काव्यशास्त्र में रसनिष्पत्ति की व्याख्या करते हुए पानक रस का दृष्टान्त दिया जाता है। किसी उत्तम पेय में मधुर और तिक्त आदि अनेक रस मिश्रित होते हैं। आस्वाद-कर्ता को जब भेद-प्रत्यय नहीं होता तभी रसनिष्पत्ति होती है। भेदों का विश्लेषण बाद में ही किया जाता है। बाहरी उदाहरणों से मण्डन मिश्र के आशय का स्पष्टीकरण होता है कि वे निर्विकल्प-क्षण में भेदों का पार्थक्य मान्य नहीं करते।

(घ) अभेदवाद की स्थापना

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष बौद्धों के समान ही न्याय-वैशेषिक मे भी व्याख्या पाता है। तदनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष वैशिष्ट्यावगाही होता है जबकि निर्विकल्पक वैशिष्ट्यानवगाही। कुमारिल, रामानुज, वल्लभाचार्य आदि विचारक निर्विकल्पक को भी वैशिष्ट्यावगाही मानते हैं। व्याकरण दर्शन में तो निर्विकल्पक भी नाम-रूपात्मक होता है; केवल रूपात्मक नहीं। कुमारिल की एक स्थापना यह है कि यद्यपि निर्विकल्पक में अभेद रहता है फिर भी उसमें सूक्ष्म रूप से अचेतन भेद अनुस्यूत होता है। इससे स्पष्ट है कि कुमारिल आदि भेद को यथार्थ मानकर उस पर प्रतिष्ठित अभेद की व्यवस्था देते हैं। इस पर मण्डन मिश्र का कहना है कि निर्विकल्पक ज्ञान से भेदरहित वस्तुमात्र का आलोचन और अचेतनरूप भेद की अनुस्यूति का प्रकाश मानना न केवल वदतोव्याघात है, अतिसाहस भी है।[२२]

निर्विकल्पक में होनेवाला अभेद-बोध ही परमार्थ है। सविकल्पक में अभेदांश यथार्थ। जिस प्रकार मुख एक होता है परन्तु वही जल, तैल और दर्पण आदि में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिबिम्बित होकर भेद ग्रहण करता है, उन भेदों से मुख का मूल अभेद न तिरोहित होता है, न प्रभावित । उसी प्रकार व्यावहारिक सविकल्पक प्रत्यक्ष में भासित होनेवाली विविधताएँ निर्विकल्पक अभेद पर प्रतिष्ठित हैं । ऐसी स्थिति में भेद को अभेद का अधिष्ठान मानना असङ्गत है क्योंकि भेद की विकल्प से परे कोई सत्ता नहीं होती ।[२३]

प्रत्यक्ष में आनेवाला विकल्पजनित भेद अभेद से अनुस्यूत रहता है । भेद का प्रत्यक्ष अभेदरूप अधिष्ठान के विना व्यवहार में नहीं आता । विकल्पबुद्धि से जनित होने के कारण सभी भेद मिथ्या हैं । एक ही चन्द्रमा अनेक तरङ्गों में प्रतिविम्बित होकर विविधता लेता है, परन्तु तरङ्गों के कम्पन में भी वह निष्कम्प रहता है ।[२४] इस विषय में ब्रह्मसूत्र कहता कहता है—

आभास एव च ॥ (२।३।५०)

अर्थात् जीवजगत् ब्रह्म का आभास है । इस सूत्र की व्याख्या से पूर्व शङ्कराचार्य ने अवच्छेदवाद और प्रतिबिम्बवाद के आधार पर अद्वैत की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है कि घटादि की गति से आकाशादि की गति भाषित होती है, फिर भी आकाश एक तथा निश्चल रहता है । जल से भरा हुआ पात्र कम्पन लेता है तो सूर्य का प्रतिबिम्ब काँपता दिखाई देता है, फिर भी सूर्य निष्कम्प है । इसी प्रकार अविद्याकल्पित सभी द्वैत विविध गतियाँ लेते हैं फिर भी अद्वैत तत्त्व निर्विकार रहता है ।[२५]

— आद्यादत्त अवस्थी

दर्शन विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर
(म. प्र.) ४७० ००३

टिप्पणियाँ

१. अभेदो वा परमार्थः । तस्यानविच्छिन्नस्यानन्तस्य तथा निश्चेतुमशक्तेः, अनादित्वाच्चाविद्यायाः, तदुपादानास्तद्विषया भेदपरिकल्पनाः । दृष्टा हि तरङ्गभेदादभिन्ने चन्द्रमसि भेदकल्पना । —ब्रह्मसिद्धि २।१२

२. तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयानादिविकल्पवासनोपादानविकल्प परिदर्शितशरीरोऽयमस्माद् भिन्नोऽयमनयोर्भेद इति व्यवहारं प्रवर्तयति । न भेदो नाम किञ्चिद् वस्तु यस्य तत्त्वमन्यत्वं वा किञ्चिद् विचार्येत । वही २।५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३. तथा च नैकात्म्येन प्रख्या युज्यते । अस्ति चेयम् । अतस्तया विरुद्धः प्रख्याभेदो न वस्तुभेद-व्यवस्थायै प्रभवति । स्वयं च व्याहतत्वादेकाधिकरणत्वेनोपपत्तेः । – वही, २।१३

४. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । –योगसूत्र, १।९

५. एकस्यैवेष महिमा भेदसम्पादनासहः ।
वह्नेरिव यदा भावभेदस्तदा मुधा ॥ –ब्रह्मसिद्धि २।८–९

६. वही, २।१

७. लब्धरूपे क्वचित् किञ्चित् तादृगेव निषिध्यते ;
विधानमन्तरेणातो न निषेधस्य सम्भवः ॥ –वही, २।२

८. वही ।

९. न व्यवच्छेदपूर्वकं विधानम् । यतः सिद्धे विषये सिद्धरूपमेव निषिध्यते-नेदमिह, नायमयमिति सिद्धे भूतले सिद्धो घटः, गवि वाश्वः न प्रतिषेध्यात् प्रतिषेधविषयाच्च विना प्रतिषेधोपकल्पते । –वही

१०. क्रमः संगच्छते युक्त्या नैकविज्ञानकर्मणोः ।
न सन्निहितजं तच्च तदन्यानशि जायते ॥ –वही २।३

११. विधानमेव नैकस्य व्यवच्छेदोन्यगोचरः ।
मा स्म भूदविशेषेण मा न भूदेकधीजुषाम् ॥ – वही, २।४

१२. तस्मान्नैकविधिरन्यव्यवच्छेदः । अपि च एकनियमादन्य-व्यवच्छेदे चित्रादिषु नीलादीनामेकदर्शनभाजां भेदो न सिध्येत्, एकज्ञानसंसर्गादेकत्र ज्ञानस्यानियमात् । वही

१३. न भेदो वस्तुनो रूपं तदभावप्रसङ्गतः ।
अरूपेण च भिन्नत्वं वस्तुनो नावकल्पते ॥ – वही, २।५

१४. पौरुषेयीमपेक्षा च न हि वस्त्वनुवर्तते ॥ – वही, २।६

१५. अर्थक्रियाकृते रूपभेदो न लभ्यते ।
दाहपाकविभागेन कृशानुर्न हि भेदवान् ॥ – वही, २।७–८

१५. भेदान्तर्धानसामर्थ्यं तस्य भेदेपि चेन्मतम् ।
हन्तैकस्यैव तत् किं न यदेवमवभासते ॥ वही, २।१३–१४

१८. दृष्टः संसर्गधर्मोयं यद्येकमापि वै तथा ।
नानावभासते चित्रं रूपमेकं तथा मतिः ॥ वही, २।१४–१५

१८. व्यवहारे परोपाधौ गर्वी धीर्व्यावहारिकी ।
अयथार्था यदा भावभेद-कल्पस्तदा मुधा ॥ – वही, २।१६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१९. उत्पादस्थितिभङ्गानामेकत्र समवायतः ।
प्रीति-मध्यस्थता-शोकाः स्युर्न स्युरिति दुर्घटम् ॥ — वही, २।२४

२०. आपेक्षिकत्वाद् भेदो हि भेदग्रहपुरस्सरः ।
नैकज्ञानं समीक्ष्यैकं ने भेदं तत्त्वहानतः ॥ — वही, २।२६

२१. अन्योन्याभावरूपत्वं सर्वेषां न प्रकल्पते ।
तत्रोपाधौ प्रतीयन्तां तथा भिन्ना न रूपतः ॥ — वही, २।२९

२२. आलोच्यते वस्तुमात्रं ज्ञानेनापातजन्मना ।
अचेत्यमानो भेदोपि चकास्तीत्यतिसाहसम् ॥ — वही, २।२७

२३. दर्पणादौ मुखस्येव भेदोऽभेदावलम्बनः ।
भेदावलम्बनोऽभेदो न तथा तदभावनः ॥ — वही, २।३०

२४. प्रत्येकमनुविद्धत्वादभेदेन मृषा मतः ।
भेदो यथातरङ्गाणा भेदाद्भेदः कलावतः ॥ — वही, २।३१

२५. यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोपि न परमार्थतो गच्छति, यथा चोदशशरावादिकम्पनात् तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेपि न तद्वान् सूर्यः कम्पते । — ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, २।३।४६

० ० ०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काव्य-भाषा की अनेकार्थता

काव्य-समीक्षण के क्षेत्र में काव्यार्थ एवं काव्य-भाषा का स्थान सदैव ही महत्वपूर्ण रहा है। विभिन्न काव्य-चिंतकों ने समय-समय पर इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'अनेकार्यता' अथवा 'अस्पष्टता' इस विचार-शृंखला की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। अनेकार्थता, सन्दिग्धता अथवा अस्पष्टता के महत्व को पाश्चात्य एवं भारतीय काव्य चिन्तकों ने मान्यता प्रदान की है। पाश्चात्य समीक्षा में इस अवधारणा का प्रारम्भ एजरा पाउण्ड, टी. एस. इलिएट प्रभृति चिन्तकों से माना जा सकता है। इन समीक्षकों ने इस मान्यता को स्थापित किया कि अन्य विधाओं की भाँति काव्य में भी विश्लेषण सम्भव है। केम्ब्रिज स्कूल के नाम से प्रसिद्ध, आइ. ए. रिचर्डस्, एफ. आर. लीविस एवं विलियम् एम्पसन जैसे समीक्षकों ने विश्लेषण के औजारों को तेज धार दी। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में एक नए काव्य-शास्त्र का अभ्युदय हुआ जिसमें तत्कालीन समीक्षकों ने काव्य-भाषा की 'अनेकार्थता, व्यंग्यधर्मिता, प्रतीकात्मकता, वक्रोक्ति' आदि में अधिक रुचि ली। इसी क्रम में विलियम् एम्पसन ने अनेकार्थता की अवधारणा को विशेष-रूप से परिभाषित एवं प्रतिष्ठित किया।

पाश्चात्य समीक्षा के इतिहास में 'अनेकार्थता' की अवधारणा नितांत नवीन हो सकती है किन्तु भारतीय काव्य चिन्तन परम्परा में काव्यार्थ की समस्या को ऋग्वेद काल से ही विभिन्न कोणों से विवेचित किया गया है। इस क्षेत्र में आनन्दवर्धन, कुन्तक प्रभृति काव्य चिन्तकों ने जो विचार लगभग दो सहस्त्र वर्ष पूर्व प्रतिपादित किए थे उनकी प्रतिछाया पाश्चात्य समीक्षा में विगत लगभग ६०—७० वर्षों में परिलक्षित हुई। इस अवधि में अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र में जिन विद्वानों ने महत्वपूर्ण कार्य किया उनमें रिचर्डस्, बट्रण्ड रसेल, एम्पसन एवं टिलियार्ड के नाम प्रमुख हैं। प्रस्तुत निबन्ध में आय. ए. रिचर्डस् तथा एम्पसन के विचारों पर ही विशेष विचार करते हुए भारतीय काव्य शास्त्र में प्रतिपादित अर्थ-सम्बन्धी अवधारणाओं के साथ तुलनात्मक विवेचन का प्रयत्न किया गया है।

सी. के. आग्डेन के सहयोग से लिखित "द मीनिंग ऑफ मीनिंग"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१९२३) में रिचर्डस् ने भाषा के संवेगात्मक (इमोटिव) एवं सन्दर्भात्मक (रिफरैन्शल) प्रयोगों की अवधारणा को प्रतिपादित किया जिसकी विस्तृत व्याख्या "द प्रिंसिपल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म (१९२४) में दी गई है। रिचर्डस् के अनुसार भाषा के संवेगात्मक प्रयोग का उद्देश्य संवेगों को उद्दीप्त करना अथवा दृष्टिकोण को प्रभावित करना होता है जब कि सन्दर्भात्मक प्रयोग का उद्देश्य वैज्ञानिक दृष्टि से किसी कथन अथवा तथ्य की सत्यता अथवा असत्यता को अभिव्यक्त करना है। रिचर्डस् के अनुसार काव्य संश्लिष्ट उक्तियों (सूडो स्टेटमेन्ट) से युक्त और सत्यासत्य की सीमा से मुक्त होता है और द्विविधात्मक विषयवस्तु की अभिव्यक्ति संश्लिष्ट भाषा में ही सम्भव है। इस प्रकार रिचर्डस् के अनुसार काव्य का लक्ष्य है, अनुभूति को समुचित मनोदृष्टि से आवृत्त करना। इसलिए प्रत्यक्ष सन्दर्भ से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। भाषा के दो पृथक् प्रयोगों को स्पष्ट करने के लिए रिचर्डस् ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है--

"यदि हम कहें कि इफेल टावर की ऊँचाई ९०० फीट है तो हम एक तथ्य को शब्दों के माध्यम से व्यक्त कर रहे हैं और इस उक्ति की सत्यता अथवा असत्यता को सिद्धान्ततः सिद्ध किया जा सकता है किन्तु जब हम कहते हैं कि 'काव्य एक आत्मा है' अथवा 'मनुष्य एक कीट' है तो हम सत्यासत्य की सीमा के परे जाकर शब्दों का प्रयोग, सम्भवतः एक निश्चित दृष्टि को जगाने के लिए कर रहे है।"

संवेगात्मक बनाम सन्दर्भात्मक प्रयोगों का वर्गीकरण भाषा के गद्य एवम् पद्य के मान्य वर्गीकरण से भी साम्य रखता है। सन्दर्भात्मक भाषा काव्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है और भाषा का संवेगात्मक प्रयोग ही काव्य का श्रेष्ठतम रूप है। रिचर्डस् के अनुसार संवेग और मनोभाव संवेगात्मक प्रयोग के प्रमुख घटक हैं। संवेगात्मक भाषा और वैज्ञानिक भाषा में तात्विक अन्तर यह यह होता है कि संवेगात्मक अभिव्यक्ति तथ्यात्मक वास्तविकता से परे मनोभावों को उद्दीप्त करती है और भाषा का सामर्थ्य उद्दीपन की मात्रा से निर्णीत होती है।

एम्पसन रिचर्डस् का शिष्य था। उसने भाषा की अनेकार्थता की अवधारणा को विस्तार देते हुए संश्लिष्ट अभिव्यक्तियों को काव्य के प्राण के रूप में स्वीकार किया। 'अनेकार्थता' (एम्बियुटी) पहले स्पष्टता के अभाव को सूचित करता था किन्तु रिचर्डस्, एम्पसन एवम् उनके अन्य समर्थकों ने इसे समस्त 'अर्थ वैविध्य के मूल स्रोत' के रूप में स्वीकार किया। अर्थ-विज्ञान (सेमैण्टिक) की दृष्टि से अनेकार्थता के विश्लेषण की तीन सम्भाव्य दिशाएं है। प्रथमतः अर्थ की प्रसङ्गानुकूलता, उपयुक्तता आदि के निश्चित करने का प्रयत्न। दूसरी दिशा में बाह्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तथा अज्ञात कारणों से उत्पन्न अर्थ-वैविध्य पर अधिक जोर दिया जाता है। प्रत्येक भाषा में ऐसे असंख्य शब्द होते हैं जो कालक्रम के प्रभाव से परिवर्तित अर्थ का बोध कराते हैं और स्वभावतः सन्दिग्ध अथवा अस्पष्ट हो जाते हैं। तीसरी स्थिति में शब्द-समूह की सम्पूर्ण संरचना को अधिक महत्त्व दिया जाता है– उदाहरण के लिए 'वृद्ध पुरुष व स्त्रियाँ' के दो अर्थ हो सकते हैं। 'अस्पष्टता' उस स्थिति में भी उत्पन्न हो सकती है जब एक शब्द के एक से अधिक अर्थ होते हैं। 'उसे कुर्सी दी गई' जैसे वाक्य में संरचना के कारण नहीं बल्कि शब्द की प्रकृति (कुर्सी = पद या आसन) से अस्पष्टता उत्पन्न हुई है।

शब्द की संवेदनशीलता ही अस्पष्टता को अस्तित्व प्रदान करती है। ग्लीसन के अनुसार 'अस्पष्टता भाषा की एक विशिष्टता है।' सामान्य प्रयोग में प्रत्येक शब्द का अपना अर्थ होता है कि अर्थ का क्षेत्र विस्तार शब्दों की तुलना में अधिक होता है। लेखक अथवा वक्ता, शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अभिप्राय से करता है जिसकी जानकारी के अभाव में विचार-सम्प्रेषण कठिन हो जाता है और कठिनाई भाषागत अनेकार्थता अथवा अस्पष्टता के कारण होती है। इस प्रकार का बाहुल्य शैली अथवा शब्द-चयन (डिक्सन) की विशेषता न होकर भाषा का स्वाभाविक गुण है। प्रसङ्गानुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने से कोई शब्द अनेकार्थी अथवा अस्पष्ट नहीं होता बल्कि उस स्थिति में होता है जब वह एक ही प्रयोग में अनेक अर्थों का आभास दे। उदाहरणार्थ 'चित्र' शब्द के अनेक अर्थ हैं यथा– चित्रकार द्वारा बनाया हुआ चित्र, दीवार पर लगा चित्र, फोटो, चलचित्र आदि, परन्तु प्रसङ्गानुसार स्पष्ट अर्थ प्राप्त होने से उसे अस्पष्टता की कोटि में नहीं रखा जा सकता जबकि 'विद्या जैसा कोई नेत्र नहीं है" जैसी उक्ति में नेत्र का अर्थ बाह्य नेत्र से सर्वथा भिन्न है।

काव्यात्मक अस्पष्टता का संबंध कवि की शैलीगत एवं भाषागत क्षमता से है। कवि शब्दों की आत्मा तक पहुँचकर, 'अस्पष्टता' के माध्यम से अपनी भाषा को अधिक प्रभावशाली बनाता है। वह पारंपरिक प्रतीकों को नया अर्थ देता है अथवा सर्वथा नवीन प्रतीकों एवं बिम्बों का अन्वेषण करता है। एम्पसन ने अपनी कृति "सेवेन टाइप ऑफ एम्बियुटी" में नवीन प्रतीकों एवम् बिम्बों के उपयोग की विस्तृत व्याख्या की है।

पाश्चात्य काव्य-समीक्षण में पहले 'अस्पष्टता' को 'जटिलता' के अर्थ में ग्रहण किया जाता था और काव्य का दोष माना जाता था। प्रारम्भिक काल में विचार और अभिव्यक्ति की सहजता एवम् स्पष्टता का अधिक मूल्य था। अरस्तू ने अपने काव्य शास्त्र (पोयटिक्स) में स्पष्टता को भाषा का गुण माना है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'रेटॉरिक' में उसने निर्देश किया है कि अस्पष्ट भाषा अथवा विचारहीन वाग्जाल से सदैव बचना चाहिए। उसका मत है कि शब्दों का स्पष्ट एवम् सार्थक होना अनिवार्य है। एक अन्य समीक्षक क्विण्टिलियन के अनुसार 'अस्पष्टता' से बचना आवश्यक है। 'अस्पष्टता' न केवल अर्थ को जटिल और अनिश्चित करती है अपितु शाब्दिक दोषों से भी युक्त होती है। इसलिए सादगी और यथार्थता नितान्त आवश्यक है।

सिसरो ने भी स्पष्टता, खुलेपन एवम् लयतालबद्धता को भाषा का आवश्यक गुण माना है। प्राचीन काव्य चिन्तकों में मात्र डिमिट्रियस ही ऐसा समीक्षक है जो अनेकार्थी अभिव्यक्ति का समर्थन करता है। किन्तु वह ऐसी अनेकार्थता की प्रशंसा करता है जो किसी वक्रोक्ति को तीक्ष्णता प्रदान करती है।

पाश्चात्य समीक्षकों ने 'अस्पष्टता' को पहले कभी भी एक विशिष्ट गुण के रूप में स्वीकार नहीं किया। मिल्टन ने काव्य को सरल, कमनीय, सहज, संवेदनशील, उद्दीपक एवम् आवेगपूर्ण बताया। जबकि रोमेण्टिक पुनर्जागरण के युग में वर्ड्सवर्थ ने जब सामान्य की भाषा (रस्टिक लैंग्वेज) को काव्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माना। परन्तु वर्तमान युग में अस्पष्टता के महत्त्व को प्रायः सभी समीक्षक स्वीकार करते हैं। आइ. ए. रिचर्डस् का स्पष्ट मत है कि "जहाँ प्राचीन काव्य शास्त्र अस्पष्टता को भाषा का दोष मानता था वहाँ आधुनिक काव्य शास्त्र में उसे भाषा की शक्ति के अपरिहार्य परिणाम, तथा हमारी अत्यधिक महत्वपूर्ण अभिव्यक्तियों— विशेषतः काव्य एवं धर्म के क्षेत्र में से अधिकांश के लिए अनिवार्य साधन के रूप में देखा जाता है। हर्बट रीड ने गूढ़ता में सार्थक मूल्य की चर्चा करते हुए ऐसे पाठकों की आलोचना की है जो काव्य को लौह शलाका की भाँति सीधा और सपाट होने की अपेक्षा करते हैं। एफ्. एल्. लूकास, बेथेल, प्रभृत समीक्षकों ने भी 'अस्पष्टता' को समर्थन प्रदान किया है।

उपर्युक्त विवरण के आलोक में यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक समीक्षक काव्य में अर्थ के स्थान को शताब्दियों पूर्व प्रचलित रूप में ग्रहण नहीं करना चाहते। यहाँ तक कि ऐतिहासिक सन्दर्भ एवम् कवि के वैयक्तिक जीवन की विशेषताओं को सन्दर्भित करना अनावश्यक माना जाता है। पाठात्मक समीक्षा (टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म) की प्रचलित प्रक्रिया में कविता को एक पूर्ण इकाई के रूप में ग्रहण किया जाता है। ए. ई. हाउसमन का इस सम्बन्ध में स्पष्ट अभिमत है कि "पाठात्मक समीक्षा विज्ञान और कला दोनों है।" "यह (टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म) भूल या दोष (एरर) के अन्वेषण का विज्ञान और उसे दूर करने की कला है। पाठात्मक समीक्षा का मूलाधार भाषा की अपनी सीमाएँ होती हैं,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अतः काव्यात्मक अर्थ के सम्बन्ध कोई भी मत आत्यन्तिक नहीं हो सकता। यही तथ्य एम्पसन की 'अस्पष्टता' सम्बन्धी अवधारणा का केन्द्र विद्ध है।

भाषा काव्य का माध्यम होने के साथ ही काव्य में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अर्थ-विज्ञान, भाषा, विचार और व्यवहार के अन्तंसम्बन्ध का अध्ययन करता है, इस प्रकार भाषा की प्रकृति में ही 'अस्पष्टता' अन्तर्निहित है किन्तु 'अस्पष्टता' का मूल्य भाषा की श्री वृद्धि करने में है उसकी विकृति में नहीं। 'अस्पष्टता' की इसी अवधारणा को विलियम् एम्पसन ने अपनी पुस्तक 'सेवेन टाइप ऑफ एम्बियुटी' में विस्तार से विवेचित किया है और उसके विविध रूपों को स्पष्ट किया है।

भारतीय काव्य-चिन्तन-परम्परा पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है काव्यात्मक 'अस्पष्टता' पर काव्य-समीक्षण के प्रारम्भिक काल से चिन्तन होता रहा है। ध्वनि तथा 'रस' की भारतीय अवधारणाएँ अनेकार्थता एवम् संगुफित भाषा पर आधारित हैं और एम्पसन द्वारा प्रतिपादित अवधारणा से बहुत साम्य रखती हैं। ध्वनिकार आनन्द वर्धन और एम्पसन इस वात पर सहमत हैं कि काव्य के शब्द अनेकार्थी होते हैं और अनावश्यक शब्द-जाल काव्य के लिए त्याज्य है। 'ध्वनि' का वाच्यार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका तात्पर्य उस सांकेतित अर्थ (सजेस्टेड मीनिन्ग) से है जो अभिधार्थ (फर्स्ट मीनिन्ग) के पश्चात् पाठक के मस्तिष्क में उदित होता है। 'ध्वनि' और 'अस्पष्टता' दोनों में ही पाठक से अर्थों के अन्तर्हित को समझकर, अर्थ के उस अन्तिम तल तक पहुँचने की अपेक्षा की जाती है जो काव्य-रस का स्रोत है। एक ही सांकेतित शब्द का अर्थ पाठक के मनोभाव, रुचि, स्वभाव व्यवसाय तथा विगत अनुभूतियों के अनुसार परिवर्तनीय होता है। उदाहरणार्थ "सूर्यास्त हो गया है" जैसे सामान्य वाक्य से विभिन्न पाठकों में विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। प्रेमी, श्रमिक, गृहस्थ व्यवसायी, सेनानायक, वियोगिनी आदि के मन में विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ स्वभावतः उत्पन्न होगी।

उक्त प्रकार की उक्तियों को ही एम्पसन अस्पष्ट या अनेकार्थी कहता है। एम्पसन की समीक्षाविधि वस्तुतः भारतीय ध्वनिवादियों से अधिक भिन्न नहीं है। ध्वनि किस प्रकार प्रकट अर्थ से भिन्न अर्थ देती है इसे आनन्द वर्धन कृत 'धन्यालोक' से एक अन्य दृष्टान्त लेकर स्पष्ट किया जा सकता है। एक वणिक् एक आखेटक से हस्तिदन्त व व्याघ्रचर्म की माँग करता है तो उसे उत्तर मिलता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। " हे वणिक्, जब तक मोहक बदन तथा घुँघराले केशोंवाली मेरी पुत्रवधू इस घर में विद्यमान है, हम हस्तिदन्त व व्याघ्रचर्म कहाँ से पा सकते हैं।" उक्त कथन से आभास मिलता है कि सुन्दरी की केशराशि में बद्ध उसका पुत्र या तो आखेत पर जाता ही नहीं, या वन में निरर्थक भटककर रिक्तहस्त लौट आता है। अभिधार्थं या प्रकट अर्थ सर्वथा स्पष्ट है पर उक्ति में रस तो ध्वन्यार्थ से ही आता है।

आनंदवर्धन तथा उससे सहमत समीक्षकों के मतानुसार यह ध्वन्यार्थ ही काव्य की आत्मा है, अलंकार आदि तो मात्र आभूषण हैं जो, आनंदवर्धन के ही शब्दों में, उतने महत्वपूर्ण नहीं हो सकते जितनी कि ध्वनी होती है। एंपसन की अवधारणा में कविता में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका काव्य प्रसंग (कन्टेक्स्ट) की होती है। वह लिखता है। " किसी शब्द को चीख कर या गुर्रा कर पढ़ा जा सकता है, अत: यदि आपके समक्ष कागज़ पर लिखा मात्र एक शब्द है तो यह जानने के लिए कि उसे किस प्रकार पढ़ना है, आपको न केवल उस शब्द का अर्थ, बल्कि उसके प्रसंग के विषय में भी जानना होता है।" प्रसंग स्पष्टत: " आर्थि-व्यंजना " के क्षेत्र में आता है जहाँ वक्ता ओर श्रोता दोनों के मनोभावों पर अधिक ध्यान देना होता है। " यद्वा सर्वे शब्दा: स्वेनार्थेन भवन्ति यस्तेषार्थ:" कोई उक्ति चूँकि अनेक शाब्दिक इकाइयों का समन्वय होती है अत: उसका अर्थ अनेक तत्वों पर निर्भर होता है जिनमें मुख्य है वक्ता व श्रोता की मनोवृत्ति और मनोदशा जिनका निर्धारण उनकी विगत अनुभूतियों से होता है जो काव्य-पठन के समय पुन: स्मृति में आ जाती है। एंपसन के मतानुसार, जब भी कोई पाठक ' प्रकटत: सामान्य सी पंक्ति पर विभुग्ध हो जाता है तो इसका कारण अधिकांशत: उसकी विगत अनुभूतियाँ . ही होती हैं '। काव्य के प्रभाव में ' विगत अनुभूतियाँ ' की भूमिका को स्वीकार कर एंपसन संस्कृत समीक्षण के ' व्यंजना-व्यापार ' से पर्याप्त साम्य प्रकट करता है।

' अस्पष्टता ' में अर्थ की प्राप्ति सांकेतिकता, प्रसंग तथा अप्रस्तुत निर्देशों की सहायता से होती है। ध्वनिवादियों की शब्दावली में ' व्यंग्यार्थ ' भी कल्पना शक्ति के प्रयोग से प्राप्त होता है जबकि वाच्यार्थ या ' अभिधेयार्थ ' का तात्पर्य शाब्दिक अर्थ से है। एंपसन के अनुसार 'अस्पष्ट ' काव्य में कल्पना की उड़ान के लिए विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध होता है। ' अस्पष्टता ' में अर्थ शब्दों या अभिव्यक्तियों से आवृत्त होते हैं। ध्वनिवादी विचारकों के मत से भी अर्थ शब्दों या उक्तियों में अंतर्निहित होते हैं। मम्मट का यह कथन उचित ही है कि व्यंग्यार्थ किसी सुन्दरी रमणी के उरोजों की भाँति है जिसका पूर्ण आकर्षण आवरण में ही होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परन्तु अस्पष्टता या 'व्यंग्य की भी अपनी सीमा होती है जिसका अतिक्रमण होने पर काव्य समृद्धि से उसका योगदान ऋणात्मक हो जाता है। इस स्थिती को ध्वनिवादियों की ही भाँति एंपसन भी काव्य-दोष मानता है।

एंपसन अर्थ में सूक्ष्म सौन्दर्य छवियों को पर्याप्त महत्व देता है 'प्रतीयमान अर्थ' का प्रयोग आनंदवर्धन ने भी लगभग उसी अर्थ में किया है। दोनों ही ने सीधे सपाट अर्थ के स्थान पर निगूढ़ अर्थ को श्रेयस्कर माना है। एंपसन साफ सपाट कथन को काव्य सौन्दर्य का अंग नहीं मानता। आनन्दवर्धन ऐसे काव्य को 'चित्र-काव्य' कहकर उसकी निन्दा करता है। मम्मट इसे 'अधम काव्य' कहता है। ध्वनिवादी न होनेपर भी भामह ऐसे काव्य को 'वैदर्भ-काव्य' की संज्ञा देता है। 'अस्पष्टता' और 'ध्वनि' दोनों ही अवधारणाओं के अनुसार शब्द एक नया अर्थ प्रक्षेपित करता है जो प्रकट अर्थ से अधिक महत्वपूर्ण होता है। इस आवृत्त अर्थ को ग्रहण करने के लिए पाठक में भी एक विशेष अन्तर्दृष्टि अपेक्षित है। यही कारण है कि आनन्दवर्धन तथा एंपसन दोनों ही कुशल पाठकों की प्रतिभा को ही काव्य-पठन योग्य मानते हैं। एंपसन के गंभीर विश्लेषक तथा आनन्दवर्धन के 'सहृदय' पाठक में पर्याप्त साम्य है। ऐसा पाठक 'काव्य पठन में' भावयित्री प्रतिभा का उपयोग करता है।

इन समानताओं के बावजूद एंपसन तथा ध्वनिवादियों की अवधारणाओं में किञ्चित मतभेद है। संस्कृत समीक्षण की 'व्यंजना' तथा एंपसन की अस्पष्टता में एक अन्तर यह है कि व्यंजना जहाँ ध्वनि को काव्य की आत्मा मानती है वहाँ अस्पष्ता काव्य का एक विशिष्ट लक्षण मात्र है तथा उसके अभाव में भी काव्य का अस्तित्व संभव है।

एंपसन की दृष्टि में अस्पष्टता के कारण निसृत सभी अर्थ में समान रूप से आनन्ददायक हो सकते हैं और उनमें से किसी एक का अन्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होना आवश्यक नहीं है। वह यह स्थापित करने का प्रयत्न करता है कि अस्पष्टता काव्य को इस दृष्टि से समृद्ध करती है कि यह विभिन्न अर्थों के अन्तर्घात के लिए भूमि तैयार करती है। वह आपात या प्रकट अर्थ के कोई असम्मान भी प्रकट नहीं करता जो सरलतम होती है और मस्तिष्क में तत्काल उभरती है। आपात अर्थ उसके विचार से वह आधार है जिस पर अन्य गूढ अर्थों की बृहत्तर संरचना होती है। आनन्दवर्धन का मत अधिक स्पष्ट है 'जिस प्रकार प्रकाश का इच्छुक व्यक्ति तैल इत्यादि की सहायता से दीपक की लौ बनाए रखने का यत्न करता है उसी प्रकार ध्वनि को ग्रहण करने का इच्छुक व्यक्ति अभिधेयार्थ से चिपटा रहता है जो इसका (ध्वनि का) मूल है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यहाँ कुछ विशिष्ट दृष्टान्तों के माध्यम से 'ध्वनि की पृष्ठभूमि में एंपसन की अस्पष्टता की अवधारणा का निरीक्षण उपयोगी हो सकता है। 'ध्वनि' की तीन प्रजातियाँ है। वस्तु-ध्वनि, अलंकार ध्वनि तथा रस-ध्वनि। इनमें से अलंकार ध्वनि तथा एंपसन की तीसरी प्रकार की अस्पष्टता की कार्यविधि एक सी प्रतीत होती है जहाँ दो असमृद्ध अर्थ एक साथ प्रस्तुत होते हैं। संस्कृत में इसे निदर्शना अलंकार कहते हैं, यह तार्किक रूप से असम्बद्ध दो वस्तुओं में समता का आभास देता है। संस्कृत शब्दावली में कहा जाय तो वह अन्य अर्थों की अपेक्षा रस-ध्वनि को प्राथमिकता देता है। यह रस-ध्वनि अर्थ का संवेगात्मक एहसास ही है जो काव्य को चरम बिन्दु तक पहुँचाती है। इस स्थिति में अर्थ और शब्द एक दुसरे से विशृंखलित हो जाते हैं। आपात अर्थ सर्वथा लुप्त हो जाता है तथा संवेगात्मक अर्थ शब्द के समस्त अर्थों की सीमा से परे निकल जाता है। एंपसन के अनुसार 'अस्पष्ट: कल्पित शक्तियाँ' कविता की सम्पूर्णता को संरक्षित करती है और उन शक्तियों को 'अस्पष्टता' के रूप में विवेचित नहीं किया जा सकता। एंपसन इन्हें 'अस्पष्टता की यन्त्र-क्रिया'(मेकेनाइजेशन ऑफ एम्बिग्विटी) कहता है जो उसके अनुसार काव्य का 'मूल' है। आनन्दवर्धन की शब्दावली में इन शक्तियों को सामूहिक रूप से व्यंजना-शक्ति कहा जा सकता है।

एम्पसन ने अपनी कृति में बार-बार शब्द और अर्थ के 'सहभाव' पर जोर दिया है जो संस्कृत काव्यशास्त्र का मूलतत्व है "सिद्ध शब्दार्थ सम्बन्धे"-(महाभाष्य)या 'अर्थम् वाचपुष्पफलमाह वासक'(निरुक्त १--२०)। जब हम किसी शब्द की ध्वनि सुनते हैं तो दो प्रतिक्रियाएँ होती हैं, प्रथमतः किसी वस्तु का ठोस बिम्ब वनता है और तब क्रोध, प्रेम, स्नेह, घृणा आदि जैसे किसी अमूर्त भाव की अस्पष्ट, धूमिल-सी प्रतिछाया उभरती है। हर स्थिति में बोध रूप' में पदार्थ का होना अनिवार्य है। बोध (काग्नीशन) की प्रक्रिया में हम सामान्य (जाति) से विशेष (व्यक्ति) की ओर चलते हैं। जिसके विभिन्न सोपान हैं- नाम, रूप, शब्द अर्थ और आख्याता। एम्पसन शब्द को 'भाषा का एक सदस्य' मानता है। और उसकी 'अस्पष्टताएँ' वस्तुतः अर्थ तथा ध्वन्यात्मक बोध के विभिन्न सम्बन्धों से उत्पन्न भाषिक श्रेष्ठता के ही रूप हैं।

एम्पसन की 'अस्पष्टता' की अवधारणा सामान्य रूपरेखा व्यंजना से घनिष्ठ साम्य प्रकट करती है, पर कहीं-कहीं कुछ स्थितियाँ व्यंजना के क्षेत्र से परे प्रभाकर प्रभृति मीमांसकों के क्षेत्र में पहुँच जाती है। उदाहरण के लिए, उसकी छठी प्रकार की अस्पष्टता जिसके अनुसार 'कोई कथन... कुछ प्रकट नहीं करता अतः पाठक को अपनी ओर से उसके अर्थों का आविष्कार करना पड़ता है जो परस्पर न होने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की सम्भावना रखते है।' भारतीय मीमांसक की भाषा में इसे 'प्रलाप' कहा जाएगा जिसमें स्पष्ट एवम् पूर्ण अर्थाभाव होता है। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का अर्थहीन वक्तव्य 'प्रलाप' का स्पष्ट उदाहरण है जो वियोग के भाव का आभास देता है। परन्तु प्रलाप व एम्पसन की छठी 'अस्पष्टता' में एक स्पष्ट अन्तर है– 'प्रलाप' की पृष्ठभूमि में कोई-न-कोई भाव रहता है जबकि एम्पसन की छठी 'अस्पष्टता' (अप्रासङ्गिक) में भाव के लिए स्थान नहीं है। वहाँ भाव का स्थान तार्किकता ले लेती है और अप्रासंगिक को तर्क के माध्यम से सार्थक बनाया जाता है। एम्पसन के अनुसार तर्क के माध्यम से वैकल्पिक अर्थ निसृत होने के कारण ही काव्य, काव्य होता है। शब्द और अर्थ के 'संगठन' से ही वैकल्पिक अर्थ उत्पन्न होते हैं। शब्द और अर्थ का त्रिआयामी सम्बन्ध-शब्द का शब्द से, शब्द का अर्थ से तथा अर्थ का अर्थ से–अस्पष्टता का एकमात्र कारण है और इस अस्पष्टता के कारण ही काव्य हमें जितनी सूचना या जितना बोध देता है, उससे अधिक का आभास और संकेत देता है।

एम्पसन ने यद्यपि सात ही प्रकार की 'अस्पष्टता' का उल्लेख किया है, पर उसके अन्य अनेक रूप भी हो सकते हैं। ध्वन्यार्थ में भी वही स्थिति है। आनन्दवर्धन स्पष्टतः स्वीकार करते है कि काव्य में पूर्ण अर्थ जैसा कुछ भी नहीं होता जिसके परे अर्थ की गति न हो। ध्वनि तथा अस्पष्टता, दोनों के सम्बन्ध में अंशतः हम कह सकते हैं कि वे काव्य के ही नहीं सामान्य वार्तालाप की भाषा के भी आभूषण हैं, और साफ सपाट कथन के स्थान पर कभी-कभी अस्पष्ट कथन अधिक सराहा जाता है।

संस्कृत समीक्षण के आचार्यों का एक अन्य वर्ग 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा तथा काव्य-सौन्दर्य का एकमात्र स्रोत मानता है। एम्पसन की 'अस्पष्टता' की अवधारणा कुछ दृष्टियों से कुन्तक तथा उनके अनुयायी समीक्षकों द्वारा विवेचित वक्रोक्ति की अवधारणा से भी पर्याप्त साम्य प्रकट करती प्रतीत होती है। 'वक्रोक्ति जीवित' में कुन्तक वक्रोक्ति को अभिव्यक्ति की विचित्रता (भङ्गी-भणिती' या 'भणिती वैचित्र्य') के रूप में परिभाषित करता है। एम्पसन की अस्पष्टता भी एक शैलीगत विशिष्टता है। वक्रोक्ति को पूर्व प्रतिष्ठित प्रयोगों से हटकर किया गया पयोग माना गया है। इसका 'अस्पष्टता' से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दिखता क्योंकि 'अस्पष्टता' अर्थों के अन्तर्धान द्वारा काव्य को समृद्ध करती है।

परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर कुन्तक और एम्पसन एक ही धरातल पर प्रतीत होते हैं। जब वे कवि-कल्पना के महत्व की चर्चा करते हैं तब एम्पसन शब्द

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के सूक्ष्म अर्थ-भेद से उत्पन्न काव्यात्मक अस्पष्टता का श्रेय कवि की कल्पना की उर्वरता को देता है जिसे कुन्तक 'वक्र-कवि-व्यापार' कहता है। काव्यात्मक कल्पना में कुन्तक की आस्था उसके द्वारा की गई काव्य-मार्गों की विवेचना में अभिव्यक्त होती है जिनका अनुसरण करने का परामर्श वह कवियों को देता है। दोनों में एक अन्य समानता काव्य भाषा की सरसता को लेकर है। जिस सीधी सपाट भाषा को एम्पसन 'पत्रकारों जैसी नीरस' (जरनलिस्ट फ्लैटनेस) कहकर निन्दा करता हैं कुन्तक भी उसे 'शुष्क-तर्क-वाक्य' कहता है। कुन्तक विचित्रता से युक्त अभिव्यक्ति को महत्व देता है जिसमें विदग्धता होती है। कुन्तक की विचित्रता तथा एम्पसन की अस्पष्टता काव्य-भाषा के एक जैसे कार्य को इंगित करती प्रतीत होती है। हम कह सकते हैं कि दोनों ही समीक्षक श्रेष्ठ काव्य द्वारा प्रदत्त अर्थ की समृद्धि में रुचि रखते हैं, ऐसी समृद्धि जो हमें सम्भ्रमित नहीं करती, बल्कि वास्तविक काव्यानन्द का आस्वादन कराती है।

काव्य के गुण-दोष के विषय में एम्पसन और कुन्तक, दोनों ही सजग हैं। एम्पसन ऐसी अस्पष्टता को काव्य-दोष मानता है जो विचार प्रवाह को अवरुद्ध करती हैं, अभिव्यक्ति को अनावश्यक रूप से बोझिल बनाती है और पाठक को निरर्थ सम्भ्रम में डाल देती है। कुन्तक काव्य में 'लावण्य' का पक्षधर है– जिससे उसका तात्पर्य काव्य के विभिन्न अङ्गों के समन्वय से है। वह काव्य के निर्बन्ध, उन्मुक्त प्रवाह का समर्थक हैं और आरोपित सज्जा को दोष मानता है। अक्षरों को अनावश्यक रूप से बार-बार दुहराने (जैसा कि अनुप्रास में होता है) के विरुद्ध भी वह कवियों को सचेत करता है। दोनों ही समीक्षक काव्य में अन्तःरस या तरलत्व को श्लाघनीय मानते हैं। काव्य में 'मानव अनुभूति' तथा व्यापक शान्ति (ब्राड काम) पर एम्पसन के जोर देने से कुन्तक की 'रसवदलकांर' (किसी वर्णन में संवेगात्मक आभासिकता) की अवधारणा से स्पष्ट हो जाता है।

एम्पसन तथा कुन्तक की अवधारणाओं में कतिपय अन्य साम्यविन्दु भी हैं। एम्पसन के लिए अस्पष्टता काव्य का एक गुणधर्म है जो कुन्तक भी 'शब्द' तथा 'अर्थ' के सम्बन्ध में 'वक्रता' को उतना ही महत्व देते हैं। एम्पसन ने 'अस्पष्टता' को सात प्रकारों में बाँटा है तो कुन्तक की 'वक्रता' के भी छः भेद हैं। दोनों की ही दृष्टि में उनका वर्गीकरण व्यावहारिक है जिन्हें कवि कल्पना की उड़ान व गति अधिक विस्तार दे सकती है। कुन्तक काव्य का 'शब्द तथा अर्थ की नव्यता' या "कौतुक से विभूषित" होना श्रेयस्कर समझते हैं। और यह 'नव्यता' (नावेल्टी) 'अस्पष्टता' की ही भाँति काव्य को विविध आयाम प्रदान करती है। जिस कवि की रचनाशीलता को एम्पसन 'अस्पष्टता' से युक्त काव्य कहता है वह कुन्तक की शब्दावली में 'विचित्र मार्ग' का अनुसरण करता है। ऐसे कवि के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनेक अर्थ सम्भावनाओं की चर्चा करते हुए एम्पसन स्पष्ट करता है कि रचना प्रक्रिया में कवि के मानसिक द्वन्द्व के कारण ही काव्य में 'अस्पष्टता' आ जाती है।

इस संक्षिप्त निबन्ध की सीमा विशेष विस्तार में जाने की अनुमति नहीं देती, अन्यथा, यदि एम्पसन की 'अस्पष्टता' तथा कुन्तक की 'वक्रता' के भेदों की तुलना बृहद् स्तर पर की जाए तो पर्याप्त रोचक साम्यबिन्दु परिलक्षित हो सकते हैं। अर्थ के आवृत रहने की धारणा पर दोनों में ही समान निष्ठा के दर्शन होते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र में, कुन्तक के पश्चात किसी भी शास्त्रकार ने काव्यार्थ की गूढ़ताओं का इतना सूक्ष्म व सतर्क विवेचन नहीं किया है। 'अस्पष्टता' या 'अनेकार्थता' की स्थापना में उसी प्रकार एम्पसन का योगदान भी अप्रतिम ही कहा जाएगा।

—रामजी तिवारी

हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

□ □

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (३)

मू. एतेन समर्थव्यवहारगोचरत्वं हेतुरिति निरस्तम् । तादृग्व्यवहारगोचरस्यापि बीजस्याङ्कुरकरणदर्शनात् । "नासौ मुख्यस्तत्रव्यवहार:, तस्य जननिमित्तकत्वात्, अन्यथात्वनियमप्रसङ्गादिति चेत्"। न. कीदृशं पुनर्जननं मुख्यसमर्थव्यवहारेनिमित्तम् । न तावदक्षेपकरणनिमित्तं, तस्यासिद्धेः । नियमस्य च सहकारादिसाकल्य सत्येव करणं करणमेवेत्येवंस्वभावत्वेनाप्युपपत्तेः, ततश्च जननिमित्त एवायं व्यवहारो न च व्याप्तिसिद्धिरिति ।

खत्ती में रखे हुए (तत्काल) अनुत्पादक बीज के असामर्थ्य को सिद्ध करने के लिए अब तक जो तर्क दिए गए उनकी अनुपयुक्तता को जान कर बौद्ध अब एक नये तर्क को, असामर्थ्य-साधन के लिए, प्रस्तुत कर रहे हैं। वह तर्क यह है कि, खत्ती में पड़ा बीज यदि अंकुरोत्पादन-समर्थ कहा जाने योग्य हो तो वह अंकुर उत्पन्न करेगा ही। किन्तु वह अंकुर पैदा नहीं करता। अत: वह उत्पादनसमर्थ कहा जाने लायक नहीं है? इस (प्रसंग विपर्ययात्मक) तर्क से खत्ती में पड़े बीज की उत्पादन-समर्थता सिद्ध होती है। इस पर नैयायिक प्रतिवाद करते हैं कि समर्थ कही जानेवाली वस्तु अपना कार्य तत्काल सम्पन्न करती है ऐसा दृग्गोचर नहीं होता। खत्ती में पड़े बीज को भी लोग अंकुरोत्पादन-समर्थ कहते ही हैं; किन्तु उससे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। अत: 'समर्थ' व्यवहार के मुख्य तथा गौण ऐसे दो प्रकार मानना आवश्यक है। इनमें मुख्य व्यवहार उन्पादकता पर ही आधारित होगा। बौद्ध कहते हैं कि मुख्य सामर्थ्य विषयक व्यवहार पर से ही बीज को अंकुरकारक वस्तु से भी अंकुर की उत्पत्ति सम्भव है ऐसा मानना पड़ेगा। इसपर नैयायिक प्रतिप्रश्न करते हैं कि किस प्रकार की उत्पादकता पर उत्पादन-सामर्थ्य सम्बन्धी व्यवहार निर्भर माना जाय? यदि 'तत्काल उत्पादकता पर' तो इसका प्रत्युत्तर यह है कि ऐसी बात मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु 'समर्थव्यवहार विषयक वस्तु अपना कार्य सम्पन्न करती ही है' यह जो नियम है उसका समर्थन एवं स्पष्टीकरण इस तरह किया जा सकता है कि 'समर्थव्यवहार विषयक वस्तु सहकारियों से सहकृत होने पर ही अपना कार्य करती है, या करती ही है'। खत्ती में पड़ा बीज भी समर्थ कहा जाने योग्य है और वह जल, आतप,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पवन, आदि से सहकृत होने पर अंकुरोत्पादन करेगा ही। इस प्रकार सामर्थ्य-व्यवहार उत्पादन मात्र पर ही निर्भर मानना उपयुक्त होगा। तब तत्काल कारित्व तथा समर्थव्यवहार विषयत्व के बीच व्याप्य-व्यापक भाव नहीं माना जा सकता। समर्थ कही जाने वाली वस्तु विशेष स्थिति में ही अपना कार्य कर सकती है, अन्यथा नहीं।

मू. "स्यादेतत्, एतावतापि भावस्य कः स्वभावः समर्थितो भवति, नहि क्षेपाक्षेपाभ्यामन्यः प्रकारोऽस्तीति चेत्"। न, दूषणाभिधानसमये निश्चयाभावेनैव संदिग्धासिद्धिनिर्वाहे कथारूपपर्यवसानात्। उत्तरपक्षावसरे तु सोऽपि न दुर्वचः।

पुनः अन्य प्रकार से बौद्ध अनुत्पादक बीज को असमर्थ सिद्ध करने के हेतु प्रतिवाद कर रहे हैं। वे पूछते हैं कि अब तक के विवाद पर से वस्तुमात्र के स्वभाव के सम्बन्ध में क्या निष्कर्ष प्राप्त हुआ? तत्काल या विलंब से कार्योत्पादन ये दो ही विकल्प वस्तुस्वभाव के सम्बन्ध में सम्भव हैं। यदि विलम्बकारित्व वस्तुस्वभाव माना जाय तो सहकारियों के उपस्थित होने पर भी कारण कार्योत्पादन नहीं करेगा। अतः 'तत्काल कार्योत्पादन' को ही कारणवस्तु का स्वभाव मानना होगा। इस तर्क पर नैयायिक प्रतिवाद करते हैं कि वाद-विवाद के सन्दर्भ में वादी के मत विरुद्ध मत असिद्ध होने पर भी उसकी सम्भावना के आधार पर भी उसे प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसा करने से 'सन्दिग्धासिद्धि' यह दोष तो वादी के मत में उत्पन्न होगा ही और इतने से भी प्रतिवादी का उद्देश पूर्ण हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि स्वपक्षस्थापनार्थ तर्क प्रस्तुत करना भी प्रतिवादी (नैयायिकों) का कर्तव्य माना जाय तो वह अनायास पूर्ण किया जा सकता है (जैसा कि अग्रिम परिच्छेद में विशद किया जा रहा है)।

मू. तथा हि करणं प्रत्यविलम्ब इति कोऽर्थः? किमुत्पत्तेरनन्तरमेव करणं, सहकारिसमवधानान्तरमेव वा? विलम्ब इत्यपि कोऽर्थः? किं यावन्न सहकारिसमवधानं तावदकरणं, सर्वथैवाकरणमिति वा? तत्र प्रथमचतुर्थयोः प्रमाणाभावादनिश्चयेऽपि द्वितीयतृतीययोः प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। बीजजातीयस्य हि सहकारिसमवधाननान्तरमेव करणं करणमेवेति प्रत्यक्षसिद्धमेवेति, तथा सहकारिसमवधानरहितस्याकरणमित्यपि,

नैयायिक स्वपक्षस्थापनार्थ प्रश्न करते हैं कि 'कार्य अविलम्ब से उत्पन्न करना' (यह वस्तु का स्वभाव है) इस कथन का क्या अर्थ है? 'स्वयं उत्पन्न होते ही अपना कार्य उत्पन्न करना' या 'उत्पत्ति के अनन्तर सहकारियों के एकत्रित होने पर ही अपना कार्य उत्पन्न करना' इन दोनों में से 'अविलम्ब' का कौनसा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थ ग्राह्य है ? ' विलम्ब ' शब्द के अर्थ का भी स्पष्टीकरण अपेक्षित है। 'जब-तक सहकारि इकठ्ठा न हो तब तक कार्य उत्पन्न न कर सकना ' या ' किसी भी परिस्थिति में कार्य उत्पन्न न कर सकना ' इन दोनों में से कोई एक अर्थ ' बिलम्ब ' शब्द का लेना होगा। उक्त चार अर्थविकल्पों में पहला और चौथा (' उत्पन्न होते ही कार्य करना ' और बिलकुल कार्य न करना ') निराधार हैं; उनके सम्बन्ध में निश्चित स्वीकृति नहीं दी जा सकती। किन्तु दूसरे और तीसरे विकल्प के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण का आधार ही उपलब्ध है। कोई भी बीज सहकारियों से सहकृत होने पर ही कार्य सम्पन्न करता है और निश्चय से करता है यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है। सहकारियों के न होने पर बीज कार्योत्पत्ति नहीं करता यह बात भी प्रत्यक्ष-सिद्ध ही है।

मू. अत्र च भवानपि न विप्रतिपद्यत एव, प्रमाणसिद्धत्वात्, विपर्यये बाधकाच्च। तथा हि यदि सहकारिविरहेऽकुर्वाणस्तत्समवधानेऽपि न कुर्यात् तज्जातीयमकरणमेव स्यात्, समवधानासमवधानयोरुभयोरप्यकरणात्। एवं तत्समवधानविरहेऽपि यदि कुर्यात् सहकारिणो न कारणं स्युस्तानन्तरेणापि करणात्। तथा चानन्यथासिद्धान्वय-व्यतिरेकवतामप्यकारणत्वे कार्यस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गः, तथा च कादाचित्कत्व-विहतिरिति।

नैयायिक कहते हैं कि उक्त तथ्य के सम्बन्ध में बौद्धों के मन में भी कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। क्योंकि वह प्रत्यक्षसिद्ध ही है और इस तथ्य की अस्वीकृति के विरुद्ध बाधक तर्क भी उपस्थित किए जा सकते हैं। उदाहरणतः सहकारियों की अनुपस्थिति पर कार्य उत्पन्न न करनेवाली वस्तु सहकारी उपस्थित होते हुए भी यदि (अपना) कार्य नहीं करती तो वह और उस जाति की सभी वस्तुएँ (अपना) कार्य सम्पन्न ही नहीं कर सकतीं। (क्योंकि हर परिस्थिति में ये वस्तुएँ अपना कार्य नहीं कर पाती।) इसी प्रकार सहकारियों के अनुपस्थिति होते हुए भी कोई वस्तु अपना कार्य करे तो वह तथाकथित ' सहकारि ' सहकारी ही नहीं है ऐसा समझना होगा। यदि ऐसी वस्तुओं को भी सहकारी न माना जाय, जिनकी उपस्थिति या अनुपस्थिति पर कार्य की उत्पत्ति या अनुत्पत्ति घटित होती देखी गई हो, तो कार्योत्पत्ति को यादृच्छिक या अकारण मानना पड़ेगा। उस हालत में कोई कार्य भी विशेष परिस्थिति में ही घटित होता है अन्यथा नहीं यह (कार्यकारणभावाधारित) नियम भंग हो जाएगा।

मू. एवं च द्वितीयपक्षविवक्षायामक्षेपकारित्वमेव भावस्य स्वभावः। तृतीय-पक्षविवक्षायान्तु क्षेपकारित्वमेव भावस्य स्वरूपमिति नोभयप्रकारनिवृत्तिरिति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उक्त स्पष्टीकरण के बाद मूल प्रश्न शेष ही रह जाता है कि वस्तुमात्र का स्वभाव विलम्बकारिता है या अविलम्बकारिता। इसपर नैयायिकों का उत्तर यह है कि उक्त चार विकल्पों में से दूसरा विकल्प ('सहकारियों के संकलित होते ही कार्य उत्पन्न कर सकना वस्तुस्वभाव है' यह) स्वीकार किया जाय तो अविलम्बकारिता ही वस्तुस्वभाव मानना होगा। यदि तीसरा विकल्प ('सहकारी संकलित न होने पर कार्य न कर सकना वस्तुस्वभाव है' यह) स्वीकार कर लिया जाय तो विलम्बकारिता को ही वस्तुस्वभाव समझना होगा। उक्त अविलम्बकारिता और विलम्बकारिता दोनों ही वस्तुमात्र में विद्यमान् होने से वस्तुस्वभाव के रूप में स्वीकार्य हो सकते हैं।

मू. "तथापि किमसमर्थस्यैव सहकारिविरहः स्वरूपलाभानन्तरं कर्तुरेव वा सहकारिसमवधानमन्यथा वेति किं नियामकं इति चेत्"। इदमुच्यते—कुशूलस्थबीजस्याङ्कुरानुकूलः शिलाशकलाद्विशेषः कश्चिदस्ति न वा? न चेन्नियमेनैकत्र प्रवृत्तिः अन्यस्मान्निवृत्तिश्च तदर्थिनो न स्यात्। "परम्परयाऽङ्कुरप्रसवमर्थबीजक्षणजननादस्यैवेति चेत्"। कदा पुनः परम्परयापि तथाभूतं करिष्यतीति। "तत्र सन्देह इति चेत्" स पुनः किमाकारः? किं सहकारिषु समवहितेष्वेपि करिष्यति न वेति, उतासमवहितेष्वपि तेषु करिष्यति न वेति, अथ यदा सहकारिसमवधानं तदैव करिष्यत्येव परं कदा तेषां समवधानमिति सन्देहः।

अब वस्तुओं के दो प्रकार के स्वभाव (ऊपर बताए गए ढंग से) मानकर भी क्षणिकत्व ही सिद्ध होता है यह दिखाने के लिए बौद्धों की ओर से एक नया तर्क प्रस्तुत किया जा रहा है। वह यह है कि वस्तु की विलम्बकारिता सहकारियों के संकलित न होने कारण ही यदि है तो क्या यह नहीं माना जा सकता कि असमर्थ वस्तु ही सहकारियों से सहकृत नहीं होती, और जो वस्तु समर्थ या तत्काल कार्योत्पादनक्षम है उसके साथ सहकारि अनिवार्यतः जुड़ जाते हैं? (यहाँ 'समर्थ' का अर्थ 'कुर्वद्रूपत्व' या 'तत्कालकारित्वरूप धर्मयुक्त वस्तु' ऐसा लेना चाहिए।) इस सम्बन्ध में अनुकूल या प्रतिकूल निर्णय किस आधार पर किया जाए? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ही नैयायिक अपनी भूमिका के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से यह पूछते हैं कि खत्ती में पड़े बीज और एक पत्थर का टुकड़ा इनमें अंकुरोत्पादन के सम्बन्ध में कोई भेद है या नहीं? यदि दोनों ही एक समान अंकुरोनुत्पादक हों तो अंकुर की अपेक्षा करनेवाला व्यक्ति नियमतः बीज की प्राप्त्यर्थ प्रयत्नशील तथा पत्थर के प्रति उपेक्षावान् नहीं होगा। आप कह सकते हैं कि खत्ती में रखा बीज अकारि होने पर भी परम्परया अंकुरोत्पादक बीज की कारणता से युक्त है जिससे पत्थर की उपेक्षा कर उसीका परिग्रह किया जाता है। किन्तु इसपर प्रश्न उठेगा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि यदि कोई बीज उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाय तो उससे अंकुरोत्पादक बीज की परम्परया भी उत्पत्ति की सम्भावना कैसे होगी ? किन्तु ऐसे बीज का भी अंकुर के लिए कोई संग्रह करे तो आश्चर्य नहीं; अतः यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि किस परिस्थिति में कोई बीज अंकुरोत्पादक बीज का कारण (क्षणिक बीजसन्तति के एक घटक के रूप में) होगा । यदि आप कहें कि यह बात सन्दिग्ध है तो पूछ सकते हैं कि बीज की पारम्परिक कारणता के सम्बन्ध में जो सन्देह है उसका क्या स्वरूप है ? इस सम्बन्ध में सम्भाव्य तीन प्रकार के सन्देह हैं: एक यह है कि सहकारियों के सन्निहित होने पर भी बीज अंकुरोत्पादन करेगा या नहीं ? दूसरा सन्देह यह होगा कि सहकारी सन्निहित न होने पर भी बीज से अंकुरोत्पत्ति होगी या नहीं ? तीसरे सन्देह का स्वरूप यह होगा कि सहकारी सन्निहित होने पर ही अंकुरोत्पत्ति होती (अवश्य) है किन्तु सहकारियों का सन्निधान तत्काल होगा या अन्य किसी समय घटित होगा ?

मू. न तावत्पूर्वः, सामान्यतः कारणत्वानवधारणे तस्यानवकाशात्, अवकाशे वा कारणत्वानवधारणात् । नापि द्वितीयः, सहकारिणां तत्त्वावधारणे तस्यानवकाशात्, अवकाशे वा तेषां तत्वानवधारणात् । तृतीये तु सर्वे एव तत्सन्तानान्तःपातिनो बीजक्षणाः समानशीलाः प्राप्नुवन्ति, यत्र तत्र सहकारिसमवधाने सति करणनियमात्, सर्वत्र च सहकारिसमवधानसम्भवात् ।

उक्त तीन में से पहले सन्देह के लिए अवसर नहीं है । बीज रूप से सभी बीजों की अंकुरकारणता ज्ञात हो जाने पर सहकारिसहकृत होते हुए भी बीज अंकुरोत्पादन करेगा या नहीं ऐसा संशय कोई नहीं कर सकता । दूसरे प्रकार के संशय के लिए भी कोई अवसर नहीं है । सहकारी कार्योत्पत्ति के लिए अपेक्षित होते हैं यह बात ज्ञात हो जाने पर उसके बिना कार्य होगा या नहीं ऐसा सन्देह करने की गुंजाइश हो ही नहीं सकती । यदि कोई ऐसा सन्देह उठाता है तो उसे सहकारियों का स्वरूप ही अज्ञात है ऐसा मानना होगा । तीसरा सन्देह भी उत्पन्न नहीं हो सकता । क्षणिक बीजपरम्परा के अन्तगर्त सभी बीज एक समान ही होने के कारण उनमें से कोई भी अंकुरोत्पादन कर सकता है और उसके साथ सहकारियों का सन्निधान भी हो सकता है । अतः बीज रूप से ही (तत्कालकारिरूप से नहीं) बीज अंकुरोत्पादक सिद्ध होता है ।

मू. "समर्थ एव क्षणे क्षित्यादिसमवधानमिति चेत्" तात्किमसमर्थे सहकारिसमवधानमेव नास्ति, समवधाने सत्यपि वा तस्मान्न कार्यजन्म ? नाद्यः, शिलाशकलादावपि क्षितिसलिलतेजः पवनयोगदर्शनात् । द्वितीयः, शिलाशकला दिव कदाचित्सहकारिसाकल्यवतोऽपि बीजादङ्कुरानुत्पत्तिप्रसङ्गात् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बीजपरम्परा के घटक सभी बीज एक जैसे ही अंकुरोत्पादक हैं इस बात का प्रतिवाद करते हुए बौद्ध कहते हैं अंकुरोत्पादक बीजव्यक्ति (जो क्षणिक हैं) के साथ ही सहकारी सन्निहित होते हैं, अन्य बीजव्यक्तियों के साथ नहीं। इस कथन का मतलब यह होगा कि या तो असमर्थ बीज के साथ सहकारियों का सन्निधान ही नहीं होता या सन्निधात होने पर भी ऐसे बीज से अंकुर पैदा नहीं होता। इनमें से पहला विकल्प इसलिए स्वीकार्य नहीं है कि पत्थर जैसे असमर्थ पदार्थों के साथ भी अंकुरकारण मट्टी, पानी, वायु आदि का सहयोग घटित होता दिखाई देता है। दूसरा किकल्प भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि यदि सहकारिओं के उपस्थित होने पर भी कार्य न हो पाता तो ऐसा भी सम्भव है कि सब सहकारियों से सहकृत (समर्थ) बीज भी अंकुरोत्पादन न कर पाये।

मू. "एवमपि स्यात्को दोष इति चेत्"। न तावदिदमुपलब्धम्। "आशङ्क्यत इति चेत्"। न, तत्समवधाने सत्यपि अकरणवत् तद्विरहेऽपि करणप्याशङ्क्येत। "आशङ्क्यतामिति चेत्"। तर्हि बीजविरहेप्याशङ्क्येत, तथा च सति साध्वी प्रत्यक्षानुपलम्भपरिशुद्धिः।

उक्त बात सम्भव क्यों न मानी जाय ? सहकारियुक्त बीज के भी अनुत्पादक होने में क्या आपत्ति है ? उत्तर है कि ऐसा होते कभी देखा नहीं गया है। फिर इस बात को संशयास्पद मानने में क्या हर्ज है ? तब उत्तर यह होगा कि सहकारियों के होते बीज अपना कार्य यदि न करे तो उनके न होते भी वह कार्य कर सकता है। इस बात को भी संशयास्पद मान लें तो एक कदम आगे बढ़ कर यह भी संशयास्पद या सम्भाव्य माना जा सकता है कि बीज न होने पर भी अंकुर उत्पन्न हो। इन सम्भावभावनाओं के चलते अन्वय-व्यतिरेक साहचर्य का कार्य-कारणभाव निश्चय के लिए कैसा प्रयोग किया जा सकेगा ? (कारण की उपस्थिति में भी कभी कभी कार्य न हो और उसकी अनुपस्थिति में भी कार्य कदाचित् घटित हो तो अन्वय-व्यतिरेक साहचर्य का कार्य-कारणभाव निर्धारणार्थ कोई उपयोग ही नहीं हो सकता।)

मू. "स्यादेतत्, न बीजादीनां परस्परसमवधानवतामेव कार्मकरणमङ्गीकृत्याशङ्क्यते येन समवधानानियमात्सर्वेषामेव तज्जातीयानामेकरसतानिश्चयः स्यात्, नापि यत्र तत्र समर्थोत्पत्तिमङ्गीकृत्य, येन विकलेभ्योऽपि कदाचित्कार्यजन्मसम्भावनायां प्रत्यक्षानुपलम्भविरोधः स्यात्,

पिछले परिच्छेदों में जिन सन्देहों की बात उठाई गई थी उनकी असम्भावना की स्वीकृति देते हुए एक अन्य सन्देह की सम्भाव्यता का अग्रिम परिच्छेद में निर्देश

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किया जा रहा है। बौद्ध नैयायिकों के इस प्रतिवाद को स्वीकार कर लेते हैं कि बीज सन्तति के अन्तर्गत सभी बीज एक जैसे होने के कारण उनमें से कोई भी सहकारि सहकृत हो तो वह अंकुरोत्पादक होगा ही। किन्तु किसके साथ सहकारी संनिहित होंगे यह बात संशयास्पद है ऐसा जो विकल्प पहले उद्भावित किया गया था वह विचारार्ह नहीं है। बौद्ध यह भी मान लेते हैं कि सहकारियों की अनुपस्थिति में भी बीज को अंकुरोत्पादक मान लें तो सहकारिविरहित बीज भी अंकुरोत्पाद समर्थ मानना होगा यह सम्भावना स्वीकार कर ली जाए तो कारण-कार्य का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध खण्डित हो जाएगा।

मू. किं नाम, बीजादिषु समहितेष्ववान्तरजातिविशेषमाश्रित्यापि कार्यजन्म सम्भाव्यत इति"। न, दृष्टसमवधानमात्रेणैवोपपत्तौ तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात्, कल्पना गौरवप्रसङ्गप्रतिहतत्वात्, अतीन्द्रियेन्द्रियादिविलोपप्रसङ्गात् विकल्पानुपपत्तेः, विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकत्वाच्चेति,

बीज सन्तानान्तर्गत कोई भी अंकुरोत्पादक बीज जिस परिस्थिति में अंकुर जनक है उस परिस्थिति के सम्बन्ध में सम्भाव्य जो सन्देह है उसका स्वरूप इस प्रकार है : बीज और उसके सहकारी संकलित हो जाने पर अंकुरोत्पत्ति जो घटित होती है उसका नियामक बीज सामान्यगत बीजत्व ही है या (उत्पादक बीजगत) 'कुर्वद्रूपत्व' (तत्काल कार्यकारित्व)? नैयायिक इस पर कहते हैं कि सहकारिसहित बीजगत बीजत्व को ही (जो प्रत्यक्षसिद्ध बीजवृत्ति धर्म है) बीजकारणता का नियामक मानना, एक कल्पित 'कुर्वद्रूपत्व' जैसे धर्म को ऐसा नियामक मानने की अपेक्षा से, कहीं अधिक युक्तिसंगत है। प्रत्यक्षसिद्ध धर्म के स्थान में एक अप्रत्यक्ष धर्म की सत्ता को स्वीकार करना गौरवदोष का भी एक नमूना होता है। ऐसे धर्म की कल्पना के आधार पर इन्द्रियादिकों की प्रत्यक्षकारणता को भी अस्वीकृत कर दिया जा सकता है। 'कुर्वद्रूपत्व' जैसे कारणविशेष से ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मानकर भी काम चलाया जा सकता है। (इसका मतलब यह नहीं कि प्रत्यक्ष इन्द्रियों के बिना ही घटित होगा। किन्तु इन्द्रियसन्निकर्ष प्रत्यक्ष के पूर्व उपस्थित होते हुए भी उससे सहकृत और प्रत्यक्ष के अव्यवहित-पूर्व विद्यमान प्रकाश को ही प्रत्यक्ष का कारण मान लें तो कोई कठिनाई नहीं होगी।) इसी प्रकार 'कुर्वद्रूपत्व' 'शालित्व' ('शालि' धान को कहते हैं) जैसी अन्य जाति से सहचरित है या नहीं इस बात को लेकर (इसका आगे स्पष्टीकरण प्रस्तुत है) विवाद भी उत्पन्न हो सकता है। अन्तिम प्रतिवाद उक्त सन्देह के सम्बन्ध में यह है कि यदि बीजरूप से बीज कोई कार्य सम्पन्न न करे तो उसका अस्तित्व ही स्वीकारार्ह नहीं होगा। बौद्ध मत में अर्थक्रियाकारि को ही सत् माना जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बीजत्व बीजगत किसी भी कारणता का नियामक न हो तो 'बीज' बीज ही नहीं रहेगा।

मू. तथा हि उत्पत्तेरारभ्य मुद्गरप्रहारपर्यन्त घटस्तावज्जात्यन्तराक्रान्त एवानुभूयमानः क्रमवत्सहकारिवैचित्र्यात्कार्यकोटीः सरूपा विरूपाः करोति, तत्रैताव-तैव सर्वस्मिन्समञ्जसे अनुपलभ्यमानजातिकोटिकल्पना केन प्रमाणेन, केन वोपयोगेन, येन कल्पनागौरवप्रसङ्गदोषो न स्यात्। 'यो यदर्थं कल्प्यते तस्यान्यथा-सिद्धिरेव तस्याभाव' इति भवानेव आह इति।

पिछले परिच्छेद में संक्षेप में उद्भाषित दोषों का ('कुर्वद्रूपत्व' धर्म कल्पना के सम्बन्ध में) ग्रन्थकार अब स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं। वह इस प्रकार है: उत्पत्ति के क्षण से लेकर लाठि आदि के आघात से टूट जाने तक मट्टी का वना घट घटत्व से अन्य किसी भी 'कुर्वद्रूपत्व' जैसी जाति से आक्रान्त हुए विना ही भिन्न-भिन्न और क्रमिक सहकारियों के सन्निधान से विभिन्न कार्य सम्पन्न करता हुआ दृग्गोचर होता है। इन कार्यों की उत्पत्ति का सहकारिभेद के द्वारा ही स्पष्टीकरण यदि सम्भव हो तो अप्रत्यक्ष और विभिन्न 'कुर्वद्रूपत्व' जैसी जातियों की घट में (वृत्तिता की) कल्पना क्यों की जाए? ऐसा करने में क्या कल्पना-गौरव नहीं होता? बौद्धों ने ही तो एक अन्य प्रसंग में कहा है कि जिस प्रयोजन से किसी बात की कल्पना की जाती है वह प्रयोजन यदि अन्य प्रकार से सिद्ध हो जाए तो वह बात मानना आवश्यक नहीं है।

मू. दृष्टं च जातिभेदं तिरस्कृत्य स्वभावभेदकल्पनयैव कार्योत्पत्तौ सहकारिणोऽपि दृष्टत्वात्कथञ्चित्स्वीक्रियन्ते, अतीन्द्रियादिकल्पना नु विलीयेत मानाभावात्। विकल्पानुपपत्तेश्च।

बीजादि कारणों में प्रत्यक्षदृष्ट बीजत्वादि जो धर्म हैं उन्हें छोड़कर 'कुर्वद्रूपत्व' जैसे अन्य काल्पनिक धर्मों के द्वारा इन कारणों की कारणता का निर्धारण किया जाए तो प्रत्यक्ष ज्ञानार्थ अतीन्द्रिय इन्द्रियों की कारणता का भी परित्याग कर देना पड़ेगा। इस ज्ञान के सहकारि कारणों में से किसी एक को 'कुर्वद्रूपत्व' या तत्कालकारित्व स्वरूप से प्रत्यक्ष का कारण मान लेने से भी काम चल सकता है। अन्य कार्यों की उत्पत्ति के प्रसंग में सहकारियों की उपस्थिति दृग्गोचर होती रहने के कारण उनकी कारणता अस्वीकृत नहीं की जा सकती। 'कुर्वद्रूपत्व' जैसे कल्पित धर्म के सम्बन्ध में जो भी विकल्प सम्भाव्य हैं वे युक्तिसंगत नहीं हैं। यह बात अग्रिम परिच्छेद के विवेचन से स्पष्ट हो जाएगी।

मू. स खलु जातिविशेषः शालित्वसंग्राहको वा स्यात्, तत्प्रतिक्षेपको वा? आद्ये कुशूलस्थस्यापि शालेः कथं न तद्रूपवत्त्वम्। द्वितीये त्वभिमतस्यापि शालेः कथं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तद्रूपवस्थम् । एवं शालित्वमपि तस्य सङ्ग्राहकं प्रतिक्षेपकं वा ? आद्येऽशालेरतत्त्वप्रसङ्गः, द्वितीये तु शालेरेवातत्त्वप्रसङ्गः ।

उपर्युक्त 'कुर्वद्रूपत्व' विषयक विकल्पों का अब स्पष्टीकरण किया जा रहा है । नैयायिक प्रश्न करते हैं कि यह 'कुर्वद्रूपत्व' 'शालित्व' (धान का स्वभाव) व्यापक है या उससे असहचरित ? यदि व्यापक है तो खत्ती में पड़ा धान भी 'कुर्वद्रूप' या अंकुरकारी मानना होगा । इसके विपरीत यदि 'कुर्वद्रूपत्व' 'शालित्व' से असहचरित या उसका अपवारक हो तो सहकारियुक्त शालि भी कैसे 'कुर्वद्रूप' माना जा सकेगा ? इसी प्रकार, शालित्व भी 'कुर्वद्रूपत्व' का व्यापक या संग्राहक समझा जाए या उसका अपवारक ? इनमें से पहला विकल्प सही हो तो शालिभिन्न पदार्थ 'कुर्वद्रूप' नहीं होंगे । दूसरा विकल्प सही मानें तो स्वयं शालि ही कुर्वद्रूप नहीं हो पाएगा । यह चर्चा 'कुर्वद्रूपत्व' जैसा कोई धर्म या स्वभाव विचारार्ह नहीं है यह सिद्ध करने के लिए की जा रही है ।

मू. "न च नोभयमपीति वाच्यम्" विरोधाविरोधयोः प्रकारान्तराभावात् । "व्यक्तिभेदेन सङ्ग्रहप्रतिक्षेपावपि न विरुद्धाविनि चेत्" विलीनमिदानीं तदतज्जातीयताविरोधेन, परिदृश्यमानकतिपयव्यक्तिप्रतिक्षेपेऽपि मिथः क्वचित् तुरगविहगयोरपि सम्भेदसम्भवात् ।

उक्त आपत्ति पर बौद्ध प्रतिवाद करते हैं कि 'कुर्वद्रूपत्व' का शालित्व के साथ न विरोध है न व्याप्यव्यापकभाव ही । किन्तु यह कथन सही नहीं । दो धर्मों के बीच विरोध या अविरोध ऐसे दो प्रकार के सम्बन्धों में से कोई एक ही सम्बन्ध सम्भव है । कहा जा सकता है कि एक ही धर्म में भिन्न-भिन्न आधारों के सम्बन्ध से शालित्व जैसे धर्म का संग्राहकत्व तथा प्रतिक्षेपकत्व दोनों ही बातें हो सकती हैं । उदाहरणार्थ, खेत में पड़े शालि में शालित्व तथा कुर्वद्रूपत्व का साहचर्य है किन्तु खत्ती में रखे शालि में इस प्रकार शालित्व होने पर भी कुर्वद्रूपत्व नहीं है । तथापि व्यक्तिभेद से परस्परविरोधी धर्मों का सामंजस्य सम्भव मान लिया जाए तो भिन्न-भिन्न जातियाँ और उनके भिन्न-भिन्न आधारों की अवधारणा छोड़ देनी पड़ेगी । तथा इसीलिए पक्षित्व, अश्वत्व जैसी जातियों के भी किन्हीं अज्ञात प्राणियों में सहचरित होने की भी सम्भावना स्वीकार की जा सकती है ।

मू. यश्च यस्य जातिविशेषः सचेत्तं व्यभिचरेत् व्यभिचरेदपि शिंशपा पादपमविशेषात् तथा च गतं स्वभावहेतुना । "विपर्यये बाधकं विशेष इति चेत्" न, तस्येहापि सत्त्वात्, तदभावे स्वभावत्वानुपपत्तेः । उपपत्तौ वा किं बाधकानुसरणव्यसनेनेति ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पिछली बात ही अधिक स्पष्टता से इस परिच्छेद में प्रस्तुत की जा रही है। यदि किसी उपजाति की कोई उपजाति (जैसे 'कुर्वद्रूपत्व' शालित्व की उपजाति है) उस जाति से असहचरित भी रह सकती हो तो वृक्षत्व की उपजाति जो शिंशपात्व है वह ('शीसम' वृक्ष का स्वभाव) जो वृक्ष नहीं उसमें भी रहने लगेगी। इस प्रकार वस्तुस्वभाव भी बदलने लगें तो अनुमान के लिए स्वभावहेतु का प्रयोग अनुपयुक्त हो जाएगा। इस पर यह प्रतिवाद सम्भव है कि शिंशपात्व वृक्षत्व से असहचरित रहे तो शिंशपा शिंशपा ही नहीं रह जाएगा। इस प्रकार के विपक्षबाधक तर्क से ही शिंशपा का वृक्षस्वभावत्व सिद्ध है। किन्तु इसी प्रकार 'कुर्वद्रूप' की भी शालिस्वभावता सिद्ध की जा सकती है। ऐसा सिद्ध करने के लिए तर्क यह है कि यदि कुर्वद्रूपत्व शालित्व सहचरित न हो तो शालि कुर्वद्रूप होगा ही नहीं। और यदि शालित्व व्यभिचारी होने पर भी शालि कुर्वद्रूप हो सकता हो तो किसी भी अनुमान के लिए विपक्षबाधक तर्क प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

मू.– विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकत्वाच्च। तथा हि कार्यगतमंकुरत्वं प्रति बीजत्वस्याप्रयोजकत्वेऽबीजादपि तदुत्पत्तिप्रसंगः। "बीजस्य विशेषः कथमबीजे भविष्यतीति चेत्" तर्हि शालेर्विशेषः कथमशालौ स्यादित्यशालेरंकुरानुत्पत्तिप्रसंगः। "अशालिवदबीजेऽप्यसौ भवतु विशेषः, तथापि बीजत्वैकार्थसमवेत एवासौ अंकुरं प्रति प्रयोजक इति चेत्"। न, शालित्वव्यभिचारे शालित्वैकार्थसमवायवद्बीजत्व-व्यभिचारे बीजत्वैकार्थसमवायेनापि नियन्तुमशक्यत्वात् अविशेषात्।

एक पिछले परिच्छेद में जिन चार आपत्तियों का निर्देश किया गया था उनमें से अन्तिम आपत्ति का इस परिच्छेद में स्पष्टीकरण किया जा रहा है। बीजत्व को बीज का धर्म इसलिए माना जाता है कि बीज बीजरूप से अंकुरजनक है। यदि अंकुर की उत्पत्ति के लिए बीज की आवश्यकता न हो तो बीज भिन्न वस्तुओं से भी अंकुर की उत्पत्ति होने लगेगी। 'बीज का विशेष स्वभाव बीजान्य पदार्थ में कैसे रह सकता है?' ऐसा यदि कोई प्रश्न करे तो उससे यह प्रतिप्रश्न किया जा सकता है कि शालि का विशेष स्वभाव भी शालिभिन्न पदार्थ में कहाँ रहता है? शालिभिन्न पदार्थों से अंकुरोत्पत्ति तो क्यों नहीं होती? वादी पुनः प्रश्न करता है कि अंकुर-कुर्वद्रूपत्व शालिभिन्न तथा बीजभिन्न पदार्थों में उपस्थित होने से शालित्व तथा बीजत्व व्यभिचारी (अर्थात् कहीं-कहीं इन धर्मों से असहकृत) भले ही हो किन्तु बीजत्व-सहकृत होकर ही वह अंकुरोत्पादकता का नियामक है ऐसा क्यों न माना जाय? इसका उत्तर यह है कि शालित्व से व्यभिचरित होने के कारण बीजत्व भी अंकुरोत्पादकता का नियामक नहीं हो सकता। (बीजत्व सहकृत अंकुरो-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

त्पादकता में बीजत्व यदि विशेषण हो तो वह अंकुरोत्पादप्रयोजक ही होगा। किन्तु यदि उसे उपलक्षण मानें तो वह अंकुरोत्पादकता का नियमन नहीं कर सकता। शालित्व को जो बात लागू होती है वही बीजत्व को भी लागू होगी।)

मू. तस्माद्यो यथाभूतो यथाभूतमात्मनोऽन्वयव्यतिरेकावनुकारयति तस्य तथाभूतस्यैव तथाभूते सामर्थ्यम्, तद्विशेषास्तु कार्यविशेषं प्रयोजयन्ति शाल्यादिवदिति युक्तमुत्पश्यामः।

उपसंहार के रूप में नैयायिक कहते हैं कि उक्त तर्कों से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो वस्तु जिस रूप से किसी अन्य वस्तु के साथ अन्वय-व्वतिरेक (कार्यकारणभाव के आधारभूत) संबंध से संबद्ध होती है वह वस्तु उस अन्य वस्तु का कारण होती है। इसी प्रकार इस कारण के अवान्तर उदाहरण कार्य के अवान्तर उदाहरणों के साथ भी कार्यकारणभावापन्न होते हैं। जैसे शालि कारण का एक उदाहरण है; अतः वह अपने कार्यविशेष का जनक कहलाएगा।

मू. "कस्य पुनः प्रमाणस्यायं व्यापारकलाप इति चेत्" तदुत्पत्तिनिश्चयहेतोः प्रत्यक्षानुपलम्भात्मकस्येति ब्रूमः। अथ न्यायेन विना न ते परितोषः, शृणु तमपि। तदा यदंकुरं यत्प्रयोजकं न तद्बीजजातीयं यथा शिलाशकलम्, अंकुरं प्रत्यप्रयोजकं च कुशूलनिहितं बीजमभ्युपेतं परैरिति व्यापकानुपलब्धिः प्रसंगहेतुः स्यादिति।

बीजगत बीजत्व ही अंकुरोत्पादकता नियामक है कुर्वद्रूपत्व नहीं यह बात किस प्रमाण से सिद्ध होती है यह प्रश्न यदि उक्त निष्कर्ष के सम्बन्ध में कोई पूछे तो उसका उत्तर यह है कि कार्य-कारणभाव (कार्य और कारण के बीच) जिस अन्वय-व्यतिरेक साहचर्य के द्वारा जाना जाता है उसी से उक्त बात भी सिद्ध हो सकती है। फिर भी, बौद्धसम्मत प्रसंग और विपर्यय तर्क के द्वारा ही इस बात की पुष्टि अपेक्षित हो तो ऐसे तर्क काफी सरलता से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। जैसे, 'जो अकुरोत्पत्ति के लिए अप्रयोजक है वह बीज जाति का पदार्थ नहीं हुआ करता। पत्थर के टुकड़े न बीज जाति के पदार्थ हैं और न अंकुरजनक ही। इसी प्रकार खत्ती में रखा बीज भी बौद्धों ने अंकुर के लिए अप्रयोजक माना है; अतः उसे बीज जाति का पदार्थ मानना भी उचित नहीं होगा।' उक्त प्रसंगानुमान में बीजत्व व्याप्य है और अंकुरप्रयोजकत्व व्यापक। खत्ती में रखे बीज में व्यापक अंकुरप्रयोजकत्व उपस्थित न होने से व्याप्य बीजत्व का भी अभाव उसमें होने की आपत्ति नैयायिक बौद्धमत के सम्बन्ध में उपस्थित कर रहे हैं।

मू. "विपर्यये किं बाधकमिति चेत्" अंकुरस्य जातिप्रतिनियमाकस्मिकप्रसंग इत्युक्तम्। "बीजत्वं तस्य प्रत्यक्षसिद्धमशक्यापह्नवमिति चेत्"। अस्तु तर्हि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विपर्ययः—यद्‌बीजं तदंकुरं प्रति प्रयोजकं, यथान्त्यसामग्रीमध्यमध्यासीनं बीजम्, बीजं चेदं विवादास्पदमिति स्वभावहेतुः।

अंकुरप्रयोजक या अंकुर को (तत्काल) उत्पन्न न करनेवाली वस्तु भी बीज-जातीय क्यों न मानी जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में (या अंकुरप्रयोजकत्व बीजत्व व्यापक सम्भवतः न हो इस तर्क का) बाधक तर्क नैयायिक यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। वह इस प्रकार है :– यदि सभी बीज अंकुरप्रयोजक न हों तो बीजान्य वस्तु से भी अंकुर उत्पन्न होना चाहिए। इस पर कोई प्रतिवाद कर सकता है कि अंकुरोत्पादक वस्तु का बीज होना एक प्रत्यक्षसिद्ध बात है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसे प्रतिवादी के समाधान के लिए केवल तर्क का प्रयोग न कर, बीजमात्र को अंकुरप्रयोजक सिद्ध करने के लिए नैयायिक (बौद्धसम्मत) स्वभावानुमान प्रस्तुत करते हैं। अनुमान इस प्रकार है :– बीजमात्र ही अंकुरप्रयोजक है, जैसे सहकारि सामग्र्यान्तर्गत बीज; अतः खत्ती में पड़ा (विवादास्पद) बीज भी अंकुरप्रयोजक होना चाहिए।

मू. अंकुरस्य हि जाति प्रतिनियमो न तावन्निर्निमित्तः, सार्वत्रिकत्वप्रसंगात्। नाप्यन्यनिमित्तः तथाभूतस्यतस्याभावात्।

उपर्युक्त बात को ही विशद कर इस परिच्छेद में बतलाया जा रहा है। अंकुर बीज से ही उत्पन्न होता है, अन्य वस्तु से नहीं यह बात सकारण न होती तो कोई भी वस्तु अंकुर हो जाती। बीज से अन्य अंकुर का प्रयोजक मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है।

मू. सेयं निमित्तवत्ता विपक्षान्निवर्तमाना स्वव्याप्यमादाय बीजप्रयोजकताया-मेव विश्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धिः।

पिछली बात को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि अंकुर की सकारणकता अंकुरे-तर पदार्थ में अनुपस्थित होने के कारण उस धर्म के आधार पर अंकुर की बीज-कार्यता (जो सकारणकता का व्याप्य धर्म है) की सिद्धि की जा सकती है। तात्पर्य यह है कि अंकुर सकारणक है और बीजान्यकारणक नहीं है ये दो बातें सिद्ध हो जाने पर अंकुर बीजकरण ही है। यह बात अपने आप सिद्ध हो जाती है। और इस पर से यह व्याप्ति भी प्रस्थापित हो जाती है कि जो भी बीजजातीय वस्तु या बीज है वह अंकुरप्रयोजक है ही।

मू. अथवा कृतमङ्कुरग्रहेण, बीजस्वभावत्वं क्वचित्कार्ये प्रयोजकं न वा? न चेत् न तत्स्वभावं बीजम्, तेन रूपेण क्वचिदप्यनुपयोगात्। एवच प्रत्यक्षसिद्धं बीजस्वभावत्वं नास्ति, सर्वप्रमाणागोचरो विशेषोऽस्तीति विशुद्धा बुद्धिः। क्वचिदप्युपयोगे त्वेकस्य तेन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूपेण सर्वेषामविशेषः ताद्रूप्यात्, तथा च कथं किञ्चिदेव बीज स्वकार्यं कुर्यान्नापराणि। न च वस्तुमात्रं तत्कार्यम्, अबीजात्तदनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नापि बीजमात्रम्, अंकुरकारिणोऽपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नाप्यङ्कुराद्यन्यतममात्रम्, प्रागपि तदुत्पत्तिप्रसंगात्।

अंकुर के लिए बीजरूप से बीज ही कारण है यह सिद्ध न कर भी दूसरे तरीके से यही बात सिद्ध की जा सकती है (ऐसा अब नैयायिक प्रतिवादी कर रहे हैं)। जैसे यह पूछ सकते हैं कि बीजस्वभावयुक्त बीज किसी कार्य के लिए प्रयोजक है या नहीं ? यदि नहीं तो बीज बीजस्वभाववाला ही नहीं होगा क्योंकि इस स्वभाव का किसी कार्य के उत्पादन में कोई उपयोग नहीं है। यदि इसपर यह प्रत्युत्तर दिया जाय कि बीजस्वभाव (या बीजत्व) के स्थान पर 'कुर्वद्रूपत्व' ही अंकुरप्रयोजक है (अतः वही वास्तविक बीज-स्वभाव मानना उपयुक्त है) तो आश्चर्य ही प्रकट करना होगा। सर्वप्रमाणासिद्ध 'कुर्वद्रूपत्व' जैसे काल्पनिक धर्म को प्रत्यक्षसिद्ध बीजत्व के स्थान पर बीज का स्वभाव समझना एक विस्मयजनक ही बात है। बीजत्वरूप बीजस्वभाव का किसी-न-किसी कार्य में उपयोग हो सकता है ऐसा सोच कर यदि बीजत्व को बीजस्वभाव मान लें तो बीजत्व उत्पादक तथा अनुत्पादक दोनों प्रकार के बीजों में विद्यमान होने से सभी बीजों को कार्योत्पाद उपयोगी मानना होगा और तब उत्पादक, अनुत्पादक यह फर्क नहीं रह जायगा। बीज का कार्य कोई भी (अंकुरेतर) वस्तु भी नहीं मानी जा सकती। क्योंकि बीज न होने पर ये अन्य कार्य उत्पन्न ही नहीं होंगे। यदि कहें कि बीजत्वयुक्त बीज अन्य बीज (बीजसन्तान घटक) को ही उत्पन्न करता है तो अंकुरोत्पादक जो बीज-व्यक्ति है वह भी बीजत्व से युक्त होने से अन्य बीज को ही क्यों उत्पन्न नहीं करता ? यदि ऐसा हो तो कोई भी बीज केवल बीजसन्तती का ही उत्पादक होगा, अंकुर का नहीं। इसपर भी यह विकल्प सम्भव है कि बीजत्व कभी बीज की, कभी अंकुर की तो कभी बीजानुभव की उत्पत्ति का प्रयोजक होता है अतः बीज से कभी-कभी अंकुर उत्पन्न हो तो आश्चर्य नहीं। इस में आपत्ति यह है कि यदि बीज के ही ये तीनों कार्य हों तो सहकारि विरहित बीज से भी अंकुर उत्पन्न होना आवश्यक हो जाएगा। बीज से बीज (क्षणिक बीज परम्पराघटक बीजव्यक्ति) उत्पन्न होने के लिए जैसे सहकारि-सन्निधान की आवश्यकता नहीं होती वैसे ही उससे अंकुर उत्पन्न होने के लिए भी सहकारि-सन्निधान की जरूरत नहीं होगी। अतः (बीज के बदले) बीज से अंकुर भी पैदा होना आवश्यक हो जाएगा।

(क्रमशः)

—नारायणशास्त्री द्रविड

आचार्य एवं अध्यक्ष,
दर्शन विभाग
नागपूर विश्वविद्यालय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिक्रियाएँ

लोक से हट कर चलने वालों को लोक मे चिपट कर चलने वालों की भों-भों, चिल्लाहट सुननी ही पड़ती है—इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। मेरे निबन्ध को देखने से स्पष्ट है कि उसमें 'दर्शन' शब्द के मुख्य तथा गौण अर्थ देने का सन्दर्भ प्रमुख है। श्री. चन्द्रशेखर शुल्क ने भी श्री. सुधाकर दीक्षित की प्रतिक्रिया को विफल कह कर मुझे कुछ अतिरिक्त कहने का अवकाश ही नहीं रखा है। रही उनकी स्वमत की प्रतिक्रिया, सो उसके सम्बन्ध में मुझे यह कहना है कि मैं ही नहीं, वे भी लोकव्यवहार को शक्तिग्राहक-शिरोमणि मानते हैं—अतः उसके साक्ष्य की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती। वेदान्त केसरी– 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिपम्'—के लोकानुभव का ही साक्ष्य देकर आत्मसत्ता की अमोघ स्थापना करता है। यह लोकानुभव भी है, स्वानुभव भी है। यह सही है कि हर समय लोकप्रचलित अर्थ और शास्त्ररूढ अर्थ एक नहीं हो सकते, पर उनमें सर्वथा विरोध या भेद ही होता है यह भी आवश्यक नहीं। मैं जानना चाहता हूँ कि शास्त्रकारों की इस मान्यता के पीछे कौनसा तर्क है कि 'अनुभव' का प्रयोग परोक्ष तथा अपरोक्ष इन उभयविध ज्ञानों के लिए होना चाहिए—सिवा इसके कि वे ऐसा मानते आए हैं? और मानना भी निराधार होता है या साधार? भाषा के घटक शब्द लोकव्यवहार की मान्यता के मुखापेक्षी होते हैं, व्यक्ति उसे नहीं गढ़ सकता। लोकानुभव समर्थित स्वानुभव ही भाषा के क्षेत्र में प्रमाण है। भाषा व्यवहार से ही मिलती है, दिव्य लोक से उतर कर नहीं आती। दिव्यलोक की बात भी करें तो योगज पर प्रत्यक्षानुभव ही सही अनुभव है, शेष ऊपर प्रत्यक्षानुभव विकल्पात्मक है। प्रमाणान्तरों की सीमा का निर्धारण भी प्रत्यक्षानुभव ही करता है। भारतीय धारा में प्रत्यक्ष अनुभव का ही सर्वाधिक महत्व है—प्रमाणान्तर के बोध से नहीं, केवल प्रत्यक्षानुभव पर ही ऋषि ऋषि कहे जाते हैं। फलतः कोई भी मान्यता अपनी दृढ भूमि प्रत्यक्षानुभव (प्रमाण) को ही बनाती है और अनुभव प्रत्यक्ष के लिए जितना वजनदार है उतना अन्य के लिए नहीं। तार्किक लोग शास्त्र की वत्सतरी सामने न लाएँ—तर्क से बात करें।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द में शक्ति प्रयोग से ही आती है और प्रयोग न होने से जाती भी है। 'हन्, धातु का 'गमन' में बोधसामर्थ्य शास्त्रसिद्ध होने पर भी व्यवहार के अभाव में मर गया है। अनुभव शब्द 'टि' 'घु' की तरह केवल शास्त्रसिद्ध और गढ़ा हुआ नहीं है—वह व्यवहार और शास्त्र उभय-सम्मत प्रयोग है। मैं और पहले का अभी प्रमाणाभाव में तो नहीं कह सकता परन्तु श्री हर्ष तक तो यह निश्चित है कि अनुभव शब्द प्रत्यक्ष के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

—राममूर्ति त्रिपाठी

आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठीजी के निवन्ध पर काफी प्रतिक्रियाएँ अभिव्यक्त हुईं। जिन महानुभावों नें इस चर्चा में अपना योगदान दिया उनके हम ऋणी हैं। इस विषय की चर्चा विनम्रता के साथ पत्रिका के अग्रिम अंक से समाप्त कर दी जा रही है।

- कार्यकारी सम्पादक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ-समीक्षा

भाटिया, ओमप्रकाश 'अराज' (डॉ.); सत्यज: एक विचारकाव्य; एकता प्रकाशन; बी २– बी–३४, जनकपुरी, नई दिल्ली; पृ. ६४ डिमाई; सजिल्द; मूल्य १० रुपये

'सत्यज' डॉ. ओमप्रकाश भाटिया के द्वारा रचित एक विचार-काव्य है, जो अपने लघु कलेवर में एक सम्पूर्ण शाश्वत सत्य की खोज और उसकी स्थापना करता है। 'सत्यमेव जयते' का मूल-मन्त्र तो भारत का राष्ट्र-मन्त्र है। उसकी खोज और पुनर्स्थापना यहाँ के कवि को सहज ही प्रेरणा दे तो आश्चर्य क्या है? सत्य और उससे जन्म लेनेवाला उत्साह यदा-कदा राजस-तामस प्रवृत्तियों के बीच तिरोहित होता रहता है, किन्तु उसका अस्तित्व लुप्त नहीं होता, सत्य का सत्त्व अपराजेय है, स्थायी और शाश्वत है। इस देश के कवियों-रचनाकारों ने बार-बार उसकी पहचान कराने का प्रयत्न किया है। डॉ. भाटिया ने उसी पहचान को एक बार फिर उजागर करने का यत्न किया है। चूँकि यह प्रकाशन किसी-न-किसी परिस्थिति का सन्दर्भ खोजता है, मात्र अमूर्त भावनाओं के आधार पर उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता, अतएव स्वाभाविक ही था कि इस काव्य में भी समकालीन परिस्थितियाँ रूपायित हों। रचनाकार ने बड़ी कुशलता से आपात्कालीन स्थितियों की भूमि पर अपने प्रतीकों को स्थापित किया है; परिणामतः अपने समकालिक सन्दर्भों से जुड़ते हुए भी वह सांकेतिकता के सहारे काव्य को तात्त्विक चिन्तन की ऊँचाई प्रदान कर सका है। अपनी इसी स्थिति के कारण न यह काव्य विवरणों में फँसता है, न त्वरित प्रतिक्रिया के रूप में आक्रोशी उदग्र मुद्रा अपनाता है और न ही भावुक भाव-प्रकाशन की विधियों का आश्रय लेता है। भाटिया चूँकि लिपि-विज्ञान के शोधकर्ता ही नहीं हैं, और उनकी यह रचना साहित्य की अन्यान्य विधाओं में रचित उनकी रचनाओं और काव्य-ग्रन्थों में पहली ही नहीं है, और वे हिन्दी के साथ ही पंजाबी में भी रचना के अभ्यस्त हैं, अतएव सामयिक परिवेश को ग्रहण करके भी उससे ऊपर उठकर तटस्थभाव से रचनाकर्म को निबाह ले

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाना, उनके लिए कठिन नहीं रहा है। उन्होंने कलात्मक रीति से जैसे इस काव्य में उठाये गये प्रश्न या इसकी चिन्तन-भूमिका को सनातन और शाश्वत प्रश्न और शाश्वत सत्य का रूप दिया है, वैसे ही इसके रूपविधान को भी इस वैचित्र्य के साथ प्रस्तुत किया है कि उसे गीत, अगीत, पद्य, अपद्य, मुक्तक या खण्डकाव्य सब कुछ कहा भी जा सकता है और फिर भी इनमें से किसी एक नाम से ही उसकी पृथक् पहचान नहीं कराई जा सकती।

डॉ. भाटिया ने इस काव्य को कथा-काव्य का रूप नहीं दिया है, फिर भी इसमें एक अन्तर्निहित घटना-प्रसंग है जो इसे नितान्त अलग-अलग बटे १५ शीर्षकों की पृथकता के बीच भी एकसूत्रता प्रदान करता है और कथा-संकेत देता है। वह कथा-संकेत काव्य के मध्यभाग में प्राप्त होता है। उसके दोनों ओर सत्य के (अथवा सत्यज उत्साह के) अस्तित्व, उदय और विलय तथा शाश्वतता का वर्णन है। कहा जा सकता है कि उक्त-संकेत ही इसका केन्द्रीय भाग (प्रेरक तत्व) है, शेष उसे ही प्रतीक-पूर्णता तक पहुँचाने के लिए उपाय-साधन मात्र है। प्रतीक-धर्मिता को उभारने के लिए ही कवि महाभारत की अथवा उपनिषद् कथाओं का सहारा लेता है। 'उत्थान' से लेकर 'साक्षात्कार' तक की कथा उस राजा की कथा है जो सूर्य के समान तेजस्वी, प्रतापी और दूसरों को प्रकाश देनेवाला होना चाहिए था, किन्तु वही 'सूरज हो अन्ध अब / वंश भूल बैठा है।' 'धरती से दूर / बहुत ऊँचे पर / ऊ ..ऊ...प ..र / आकाश में / स्वर्णिम सिंहासन पर / कृत्रिम व्यक्तित्व ओढ़ / सूरज आसीन है।' परिणामतः प्रशंसकों की भीड़, झूठी शान, बढ़ती लालसा, अवरोधहीन प्रचण्ड तेज (ताप) के कारण 'उसके दरबार में / बुद्धि नतमस्तक है / मौन है विवेक-मुख।' और 'सत्य हुआ / स्वर्णप्रासाद-मंजूषा में / रक्षित ज्यों कोष।' जैसे एक बार फिर इन्द्र का साम्राज्य स्थापित हो गया हो। परिणाम, आदर की अस्वीकृति, अशान्ति, क्रान्ति, पतन और तब आत्म-साक्षात्कार। सत्य तो राजा में प्रतिष्ठित रहता है, राजा ही उस सत्य का प्रतिनिधि है। प्रजा उसीका स्वागत करती है, जो सत्य को बनाये रखे, उसकी रक्षा कर सके। सत्य की इस कथा के माध्यम से डॉ. भाटिया ने शासक और प्रजातन्त्र के आपसी सम्बन्ध और प्रजा-शक्ति को भी रेखांकित कर दिया है। और इस सब की अभिव्यक्ति हुई है सहज, बोधगम्य भाषा में; यद्यपि कि उसमें काव्य-भाषा का कौशल विद्यमान है।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय

– आनन्दप्रकाश दीक्षित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

१५. डॉ. पी. आर्. भट
मानव्य विद्या तथा सामाजिक शास्त्र विभाग
भारतीय तकनीकी संस्थान
बंबई–४०००७६

१६. कु. मंगला चिंचोरे
१३४७, सदाशिव पेठ
पुणे–४११०३०

१७. इन्दिरा प्रसाद
द्वारा, श्री. शम्भु शर्मा, अॅडवोकेट
कदम कुआँ
पटना–३

साभार अभिस्वीकृति

१. वर्मा, दयानन्द : **जिन्दाबाद, मुर्दाबाद**; सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, १९८१ पृष्ठ ११६
२. नईन : **पथराई आँखें**; सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, १९८०, पृष्ठ १११+२
३. सुबोधकुमार : **भगवान बाहुबली**; जैन तीर्थंक्षेत्र कमिटी, राजगीर, १९८० पृष्ठ १९
४. मित्र विमल : **मिथुन लग्न**; सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, १९८१, पृष्ठ १४८
५. श्रीवास्तव, प्रेमेन्द्र : **लोक से हटकर**; भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, १९८० पृष्ठ १४८
६. वक्षी रमेश : **शवासन**; सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, १९८०, पृष्ठ ११२
७. गोस्वामी शरणकुमार : **सेतु**; सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, १९८१, पृष्ठ ११५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुणे विश्वविद्यालय

दर्शन विभाग

प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर–भारत जिला जलगाँव, (महाराष्ट्रराज्य)

भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर, अमलनेर प्रतिष्ठान की ओर से प्रकाशित एवम् फिलहाल उपलब्ध पुस्तकों की सूची

संस्कृत		किंमत रु. पैसे
१. सिद्धान्त तत्त्वबिंदु	श्री. मधुसूदन सरस्वती	१०–००
२. अद्वैत तत्त्व प्रबोधिनी, प्रथम भाग	साधु शांतिनाथ	३–००
हिन्दी		
१. गीता परिशीलन	पं. रामावतार विद्याभास्कर	५-००
२. नारद भक्तिसूत्र	,,	४–००
३. तत्त्वज्ञान विषयक व्याख्यान (५१)	श्री. प्रताप सेठजी	४–००
४. तात्त्विक टिप्पणियाँ	,,	४–००
५. तत्वज्ञान विषयक लेख और व्याख्यान (१०१)	,,	४–००
मराठी		
१. नीतिशास्त्र विचार	वि. स. गोगटे	५–००
२. नैष्कर्म्यसिद्धि (मूळ संस्कृत व मराठी अनुवाद)	ले. श्री सूरेश्वराचार्य (साधे) अनु. म. म. पं. श्रीधरशास्त्री पाठक	८–००
	(छापडी)	१०–००
३. सिद्धान्त तत्वबिंदू (मूळ संस्कृत व मराठी अनुवाद)	ले. श्री मधुसूदन सरस्वती (साधे) अनु. म. म. पं. श्रीधरशास्त्री पाठक	३–००
	(छापडी)	४–००
४. जीवन्मुक्ति विवेक (मूळ संस्कृत व मराठी अनुवाद)	ले. श्री विद्यारण्य स्वामी अनु. म. म. पं. श्रीधरस्वामी पाठक	५–००
५. अनंताशी साधर्म्य	श्री नरहर बाळकृष्ण जोशी	५–००

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

६. हस्तामलक (ओवीबद्ध)	श्री एकनाथ महाराज (साधे)	३–००
	(छापडी)	४–५०
७. तत्वज्ञानावरील व्याख्याने (५१)	श्रीमंत प्रताप सेठजी	४–००
८. खाजगी टिपण वही भाग १ व २	"	प्रत्येक भागास २ रुपये
९. "	"	"
१०. स–तत्वविचार श्री मलकानी यांचे Study of Reality चा मराठी अनु. दि. सा. नाईक		५–००
११. जगनमिथ्या की पुरुषो–तमरूप, भगवत्‌गीतेची गुरुकिल्ली	श्री प्रताप सेठजी	१–००
१२. तत्वज्ञान मंदिर त्रैमासिक जुने अंक		प्रत्येक अंकास ३ रुपये
१३. मानव धर्म सार	डॉ. भगवानदास	७–००

अंग्रेजी		Price Rs. Ps.
1. Metaphysics of Advaita Vedanta	G R. Malkani	25–00
2. K. C. Bhattacharya Memorial Volume Philosophical Essays	Distinguished writers	20–00
3. The subject as Freedom	K. C. Bhattacharya	10–00
4 Sri Pratapseth Diamond Jubilee Volume Part III, Philosophical Essays	Different writers	3–00
5. A Life Sketch of the Founder of the Indian Institute of philosophy and A Brief Account of the Advaitic system of Thought	G. R. Malkani	3–00
6. A study of Reality	G. R. Malkani	5–00
7. Reality and Value	"	4–00
8. Metaphysics of Energy	"	3–00
9. Problem of Nothing	"	2–00
10 The problem of one and the man	"	1–00

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

11. Reason and Its Limitations	,,	1-00
2. Sin and Bondage	,,	1-00
13. Sadhana	Sadhu Santinatha	5-00
14. A critical Examination of the non-Dualistic Philosophy (Vedanta)	,,	5-00
15. Sri Ramgita	M. W. Burway	7-00

Note : These Books being Rare Publications of the former famous "Indian Institute of Philosophy" Are sent only by V. P. P. without any Cash-Discount.

ऊपर निर्दिष्ट ग्रंथ अब प्राय: अप्राप्य हैं। उनका मूल्य भी आज की पुस्तकों के मूल्य की तुलना में बहुत ही नगण्य है। अत: ग्राहकों को कीमत पर कमिशन नहीं दिया जा सकेगा। ग्रन्थ खरीदनेवाले लोगों से प्रार्थना है कि वे **निदेशक, प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र,** अमलनेर–४२५४०१, जिला–जलगाँव (महाराष्ट्र राज्य) के साथ सम्पर्क करें। ग्रन्थ अग्रिम मूल्य भुगतान पर या व्ही. पी. से ही भेजे जाएँगे। पोस्टेज का खर्च ग्राहकों को देना पड़ेगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पुणे विश्वविद्यालय के तत्त्वज्ञान एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

कैलाशपति मिश्र	काश्मीर शैव दर्शन में स्वातन्त्र्यवाद
के. एल. शर्मा	मननात्मक स्वतःस्फूर्ति द्वारा मुक्ति
केदारनाथ तिवारी	हिन्दू परम्परा में कर्म की अवधारणा
ब्रजकिशोर प्रसाद	सार्त्र के दर्शन में 'चेतना'
वज्रनारायण शर्मा	अनुमिति करण की समस्या
आद्यदत्त अवस्थी	मण्डन मिश्र की प्रत्यक्ष-मीमांसा
रामजी तिवारी	काव्य-भाषा की अनेकार्थता
नारायणशास्त्री द्रविड	आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (३)
	प्रतिक्रियाएँ
	ग्रंथ-समीक्षा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिन्दी)

वर्ष २ अंक ४

सितम्बर १९८१

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

परामर्श (हिन्दी)

※ पुणे विद्यापीठ के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका

※ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान–मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ✦ राजेन्द्र प्रसाद ✦ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ¤ रमाकान्त सिनारी ¤ विजय भारद्वाज ¤ शारदा जैन
रमाकान्त त्रिपाठी ¤ संगमलाल पांडे ¤ आर्. बालसुब्रमणियन्
अशोक रा. केळकर ※ के. जे. शहा ※ नारायणशास्त्री द्रविड ※ के. सच्चिदानंद मूर्ति ※ जी. सी. नायक ※ ग. ना. जोशी ※ मोहनलाल मेहता ※ जे. फाईस ※ सुमन गुप्ता ※ रा. स्व भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ※ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : तत्त्वज्ञान विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :

संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६–००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२–००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८–००
	एक प्रति	रु. ०५–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–००
व्यक्तियों के लिए रु. २००–००

※ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शैवमत और सूफी मत : (कार्यरत केन्द्रीय संवेदना)

सूफीमत का विवेचन करते हुए कतिपय विवेचकों की दृष्टि शांकर अद्वैत वेदान्त की ओर आती है और कुछ की नव प्लोटानिक मत की ओर। कभी कभी विशिष्टाद्वैत जैसे वेदान्त की अन्य शाखाओं की ओर भी विद्वानों का संकेत मिलता है। कविराज पं. गोपीनाथ जी ने इसीलिए कहा है कि सूफीमत का सादृश्य कश्मीरी प्रत्यभिज्ञामत त्रिपुरा सिद्धान्त तथा गौड़ीय वैष्णव मत से अधिक दिखाई पड़ता है जिसकी ओर अभी किसी का ध्यान नहीं गया है–जाना चाहिए। वैसे अद्वैत वेदान्त (शंकर सम्मत) के संदर्भ में जिन विवेचकों ने देखा भी है–उन्हें कभी–कभी अड़चन भी महसूस हुई है। रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि इस दर्शन का आद्योपान्त व्यवस्थित निर्वाह जायसी के लिए दुष्कर तया जटिल था। पं. चन्द्रवली जी की भी धारणा है कि सूफी मत अविकल वैसा ही सब कुछ नहीं कहता–जैसा शांकर वेदान्त प्रतिपादित करता है, फिर भी अनेक मुसलिम मनीषियों ने भी अद्वैतवेदान्त के संदर्भ में इसे रखकर देता है। अस्तु।

सूफी मत 'इस्लाम' का रहस्यवादी पक्ष है, जिसका मूल स्वर 'अनहलक' का है–जीवात्मा से परमात्मा के भेद के निषेध या एकीकरण का है। इस्लाम के आचार-प्रधान धार्मिक रूप से इसका बहिरंगतः संवाद न होने से कभी तो इसे बाह्य प्रभाव के रूप में आकलित किया गया और कभी कुरान को आधार बनाकर तदनुरूप व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाने लगीं। ? ये व्याख्यान पैगम्बर मुहम्मद के शतकों वाद आरंभ हुए। इन तमाम बातों को दृष्टिगत कर संप्रति यह परीक्षणीय है कि सूफीमत और शैवमत किन किन बिंदुओं पर मिलते से लगते हैं। दोनों की विचार सारणियों को देखने से तीन ऐसे क्षेत्र बनते हैं–जिनको केन्द्र में रखकर यह संकलिपत पक्ष निरूपित हो सकता है। ये क्षेत्र हैं–(१) परमसत्ता (२) उसका विश्वात्मक अवतरण (३) तथा पुनः परमसत्ता से एक हो जाना।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष २, अङ्क ४, सितंबर, १९८१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(क) परमसत्ता:—

कुरान में 'परमसत्ता' के सन्दर्भ में एक शब्द आता है 'तौहीद' इसकी अनेकविध व्याख्याएँ की गई हैं। 'कुरान' की व्यंजना और सूफी रहस्यदर्शियों के रहस्यमय उद्‌गारों के साक्ष्य पर कभी तो इसे 'एकेश्वरवाद' परक बताया गया है और कभी अद्वैतवाद परक। सूफियों में तौहीद का अर्थ या आशय यह है कि खुदा के सिवा कोई और वस्तु संसार में है ही नहीं या यह कि जो वस्तु विद्यमान है वही खुदा है। वह 'हस्तिए मुतलक' है, अद्वैत है, एक है, उससे भिन्न कुछ नहीं। कविराज जी का विचार है कि सूफियों में परमसत्ता के स्वरूप के विषय में तीन सिद्धान्तों का परिचय मिलता है : (क) एकमत मानता है कि वह चिन्मयी इच्छा-शक्तिस्वरूप है, जगत् उसी का परिच्छिन्न विकास है। ये लोग परमसत्ता के साक्षात्कार में कर्म को महत्व देते हैं और कर्म से उनका आशय उसके संसर्ग की तीव्र आकाङ्क्षा है। (ख) दूसरा मत यह है कि परतत्व विज्ञान या ज्योतिःस्वरूप है। यद्यपि वह अभिन्न और एक है तथापि उसमें वैचित्र्य-संपादक भेदप्रतिनिधिभाव की सत्ता है। इशराकी मतानुसार मूल ज्योति चिन्मय है अन्य सभी देवता उसीकी रश्मियाँ हैं। तन्त्रवाद के अनुसार इन रश्मियों को ही मातृका, वर्ण, कला तथा शक्ति आदि नामों से जाना जाता है। इन्हीं का बहिर्विकास सृष्टि तथा अंतःसंकोच प्रलय है। (ग) तीसरा मत यह है कि वह तत्त्व एक और नित्यसौंदर्यस्वरूप है। मीर सय्यदशरीफ ने स्वीकार किया है कि सूफियों में इस आशय का एक हदीस प्रचलित है। वह है–कुन्तो कुनजन् भरबफीमन् फाहववतो अन ओरिफौ फरबलकतुलखल्क '– अर्थात् मैं एक धिसा हुआ खजाना था, फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जाने'। वास्तव में चिरसुंदर का स्वभाव यह है कि वह अपने भान में विभोर होकर विश्वदर्पण में अपने स्वरूप को निरन्तर देखता रहता है– अतः इस दृष्टि से जगत् प्रतिबिम्ब मात्र है, परिणाम नहीं। अर्थात् सौंदर्य का आत्मप्रकाश ही सृष्टि का कारण है। सूफी लोग नररूप में इसी की पराकाष्ठा देखते हैं। मजाजी इश्क का सोपान ऐसी सुन्दर नर मूर्ति की उपासना, ध्यान और सेवा ही है। मूर्ति किशोरा-वस्था की हो तो रसस्फूर्ति में वह अधिक सहायक होती है। इन तीन मतों में से अन्तिममत भारत वर्ष में भी खूब प्रचलित रहा है–यद्यपि अद्वैत की गन्ध तीनों में समान रूप से व्याप्त है।

केवल 'अद्वैत' कह देने से कोई बात साफ नहीं होती। भारतवर्ष में 'अद्वैत' के कई रूप प्रचलित हैं–शून्याद्वैत, विज्ञानाद्वैत, शब्दाद्वैत, शाकाद्वैत, ईश्वराद्वयवाद तथा शंकर सम्मत शून्यब्रह्मवाद। प्रथम दो बौद्ध, तृतीय वैयाकरण, चतुर्थ शाक्त, पंचम कश्मीरी शैव तथा अन्तिम शांकर अद्वैत है। यहाँ चूंकि विकल्प दो ही का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है–शांकर अद्वैत तथा शिवाद्वैत–अतः इनका अन्तर स्पष्ट कर लिया जाय ताकि यह निरूपित किया जा सके कि सूफीमत का साम्य किस प्रकार के अद्वैत से है ? शांकर अद्वैत निर्विशेष स्वाततंत्र्यशक्ति शून्य है–वह केवल बोधमय है, सजातीय विजातीय स्वगतरूप समस्त भेद से रहित है। शैवमत में अद्वैत का अर्थ है–एक में दो की समरस स्थिति। दो हैं-स्वातंत्र्य और बोध, विमर्श और प्रकाश, शक्ति और शक्तिमान। शंकर 'भेद' को अद्वैततत्त्व से भिन्न स्वभाव का मानते हैं–अतः अनादि–सिद्ध अज्ञान या अनिर्वचनीया माया का परिणाम मानकर ज्ञान निवर्त्य सिद्ध करते हैं। शैव 'भेद' को स्वरूप का प्रसार मानते हैं–अतः उसे ज्ञान निवर्त्य मानकर अद्वैत सिद्ध करने की अनिवार्यता अपेक्षित नहीं होती। शैवों के यहां कर्तृत्व स्वाभाविक है शंकर के यहाँ औपाधिक। शैवों का अद्वय निग्रह अनुग्रह की लीला का रसिक है. शंकर का ब्रह्म उदासीन है। शिवाद्वय में सृष्टि की इच्छा (स्वातन्त्र्यात्मा चिन्मयी) है. शंकर का ब्रह्म निरीह है। शिवाद्वय लीलार्थ स्वरूप विस्मृति करना है और विस्मारक अज्ञात मेघ की भी सूर्य की भाँति स्वयं सृष्टि कर लेना है। जिस प्रकार सूर्य की रश्मियां ही मेघ बनकर सूर्य को ढंक लेती है उसी प्रकार स्वातन्त्र्य-शक्ति से उद्भावित आणव अज्ञात स्वरूप को ढंक कर आलस्य विश्व का बहिःप्रसार करता है। प्रलय में समस्त विश्व शक्तिरूप से परमसत्ता में अवस्थित रहता है। शंकर मत में भेद स्वरूप से भिन्न है, शिवाद्वय में भेद स्वरूप का ही रूपान्तरण है। आगम मानता है कि चिरसुन्दर स्वातन्त्रेयरूपा चिन्मयी आत्मशक्ति के दर्पण मैं अपने को देखता है और बीजात्मन् स्वातन्त्रस्थ विश्व का अवभासन करता है। इस प्रकार शांकर अद्वैत तथा शिवाद्वय मै पर्याप्त अन्तर है। इस आलोक में सूफियों का साम्य शांकर अद्वैत से नहीं, शिवाद्वय से है

शिवाद्वयवादियों की तरह सूफियों की परमसत्ता भी आत्मावलोकन के लिए सृष्टि करती है। परमसत्ता और विश्वनर सत्ता में समुद्र और तरंग की तरह रूपान्तरण का भेद है, तात्त्विक नहीं। इतना ही नहीं तरंग और समुद्र के बीच हवा का समावेश भी संभावित कर धागा और ग्रन्थि का दूसरा दृष्टान्त लेते हैं। एक के रूप में समझते जानेवाले तत्त्व को सूफियों ने 'जात' कहा है। इस 'जात का परिचय उसकी 'सिफत' में है। 'सिफत' जात की वह शक्ति है जिससे वह 'सृष्टि' की रचना करता है। सृष्टि की अनन्तरूपवाली समस्त सामग्री है–सिफत, जिसके द्वारा हम 'जात' की शक्तिमत्ता का परिचय प्राप्त करते हैं। इतना होते हुए भी सिफत जात से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है, किन्तु 'सिफत' ही जात नहीं है। वह अनेकरूपों की संभावना होकर भी एक है। जात और सिफत का सन्बन्ध सूर्य और उसकी प्रभा की भाँति पुरुष और उसकी सुगंध की भाँति है। शांकर अद्वैत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में मायाशक्ति है, पर वह परमसत्ता की निजा शक्ति नहीं है–इसीलिए वह भिन्न है जबकि सूफियों की 'सिफत' 'जात' से भिन्न नहीं है। "रहा आयु महं आयु समाना" की व्याख्या शांकर मत से संभव नहीं है। अथवा "विरिछ एक लागी हुई दारा। एकहिं ते नाना परकारा॥"

शांकरवेदान्त के अनुसार इन पंक्तियों की व्याख्या अभिन्न निमित्तोपादान-वाद के द्वारा खींचतान कर की जा सकती है, परन्तु आगमिक आलोक में बड़ी सहज। आचार्य शुक्ल स्वयम् इनकी व्याख्या विशिष्टाद्वैत परक कर गये हैं–शांकर अद्वैत के अनुरूप योजना संभव न हुई। संभव है उनका परिचय शैवमत से न रहा हो। संभव है विछि शब्द का प्रयोग देखकर उन्हें–'समानं वृक्षं परिषस्वजाते' की याद आ गई हो। अन्यथा परमसत्ता आगमानुसार सिसृक्षा होते ही द्विदल हो जाती है। और तदनन्तर विस्तार आरंभ हो जाता है। शुक्लजी के शब्दों में–इसी प्रकार आगे चलकर इन्होंने

रहा जो एक जल गुपुत समुन्दा।
अरसा सहस्र अपारह बुन्दा॥

चित्तत्त्व के समुद्र से असंख्य प्रकार के शरीरों के भीतर जीवविन्दुओं की वर्षा कराई है, वह शुद्ध वेदान्त के अपरिच्छिन्न चित्त के अनुकूल नहीं है–विशिष्टा-द्वैती भावना से ही मेल खाती है। और भी देखें–

आपुहि आपु जो देखे चहा। आपुनि प्रभुत आपु से कहा
सबै जगत् दरपन के लेखा। आपुहिं देखन आपुहि देखा।
आपुहि वन और आपु परवेरू। आपुहिं सौजा आपु अहेरू।
आपुहि पुहुप फूलि वन फूले। आपुहिं भवर बास रस भूलै
आपुहि घर घर महं मुउचा है। आपुहिं दरपन रूप सरा है
दरपन बालक हाथ, मुख देखे, दूसर गनै
तस मा दुइ एक साथ, मुहम्मद एकै जानिए॥

इन पंक्तियों मैं शिवाद्वैतवाद का प्रतिबिम्बवाद इतना सटीक उतरा है कि जिसकी व्याख्या अन्यथा की ही नहीं जा सकती। नट नानन्दनाथ चिद्वल्ली या काम-कला की टीका में ठीक महीवान कहते हैं–"जैसे एक सुन्दर राजा अपने सामने के दर्पण में अपने ही प्रतिबिम्ब को देखकर उस प्रतिबिम्ब को 'मैं' समझता है, परमेश्वर भी उसी प्रकार अपने ही अधीन आत्मशक्ति को देख 'में पूर्ण हूँ' इस प्रकार आत्मस्वरूप को जानते हैं। यही पूर्णाहंता है। इसी प्रकार परमशिव के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वाङ्ग से पराशक्ति द्वारा स्वान्तःस्थ प्रपंच निर्गत होता है। इसी का नाम विश्व है। गौड़ीय मतानुसार चैतन्य चरितामृत में भी कहा गया है–

रूप हेरि आपनार कृष्णेर लागे चमत्कार
अलिंगिते मने उठे काम;

यही पूर्णाहंता का चमत्कार है। काम या प्रेम इसी का प्रकाश है। चिर-सुन्दर में अपने को देखने की प्रबल इच्छा है। उक्त पंक्तियों की व्याख्या में शुक्ल जी कहते हैं–'आपुहि आपु जो देखे चहा' का मतलब यह है कि अपनी ही शक्ति की लीला का विस्तार जब देखना चाहा। शांकर मत में सोपाधिक ब्रह्म ईशणं करता है आगम में स्वयं निरूपहित परमसत्ता ही आत्मशक्ति से लीला का विस्तार चाहती है। वही दृश्य है, वही द्रष्टा है, वही दर्शन भी है उससे पृथक् कुछ नहीं।

निष्कर्ष यह कि आगम-सम्मत चिच्छक्तिवाद को केन्द्र में रखकर ही सूफियों और विशेषकर जायसी की इन पक्तियों की संगत व्याख्या की जा सकती है, शांकर मायावाद के आलोक में नहीं। 'जात' और 'सिफत' शक्ति और शक्तिमान ही है–जिनका अद्वय सूफियों को अभीष्ट है। शैवमत सम्मत यही है।

(ख) परमसत्ता का सृष्टि के रूप में अवतरण (तौहिद का तनज्जुल)

परमसत्ता की अभिव्यक्ति और सृष्टि-प्रक्रिया के सम्बन्ध में सूफियों में तनज्जुल (अवतरण) का सिद्धान्त प्रचलित है, ठीक उसी प्रकार जैसे स्वरूप के सन्वन्ध में 'वहदतुलवुजूद' तथा 'वहदतुशशुहूद'। इस सिद्धान्त के द्वारा परमसत्ता की अभिव्यक्ति-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है, जात (सत्ता) सिफत (गुण) रब (स्रष्टा) और अब्द (सृष्टि) का सम्बन्ध स्पष्ट करता है। इस सन्दर्भ में अवतरण की तीन अवस्थाओं और पांच स्थितियों का संकेत मिलता है। तीन अवस्थाए हैं–अलजा, वहदत तथा वाहिदियत। अहंदियत की अवस्था अनभिव्यक्त अवस्था है। अलंजान नामक अवस्था के भी आभ्यन्तर और बाह्य दो पक्ष हैं–अलअमा और अहदियत। अलअमा तो घनांधकार ही है और अहदियत अनाभि-व्यक्त 'वहदत' नाम की अवस्था के भी दो पक्ष हैं–हूवीय्यत तथा अनीय्यत। वहदत की अवस्था आत्मबोध की अवस्था है–इसके प्रथम स्तर पर 'एक' (तत्त्व) का ही बोध होता है और दूसरे स्तर पर एक में ही अनेक संभावना के रूप में ज्ञात होता है। तृतीय अवस्था में परमसत्ता अपने को जगत्-प्रपंच रूप में व्यक्त करता है। यहाँ सत्ता जीवन में, प्रकाश अहम् में, तथा शक्ति इच्छा में परिणत हो जाते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

डॉ. रामपूजन तिवारी ने तीन अवस्था के साथ पांच स्थितियों का भी सक्रम परिणमन स्पष्ट किया है। तनज्जुल में सत्ता की ये पांच स्थितियाँ हैं–विश्व प्रपंच की पांच अवस्थाओं से परे एक अवस्था है–आत्ममेना सूत अर्थात् विश्वातीतदशा। पांच स्थितियाँ और जगत् इस प्रकार है–

स्थिति १ हजरते अमा घनान्धकार = जगत् १ आलमे अमाने सावित (अपरिवर्तित जगत्)

२ गैबे मुजाफ (सापेक्ष अदृश्य = २ आलमे जबरुत 'ज्ञानविज्ञान और आत्माओं का जगत्)

३ आलमे मिसाल (सदृश दशा = आलमे मलकूत–देवलोक, मध्यवर्ती

४ आलमेशहादत (दृश्यमान = आलसे मुल्क–भौतिक जगत्)

५ आलमे इन्सान (मानवजगत्) वह समस्त ब्रह्माण्ड को अपने भीतर छिपाए हुए है। इसमें 'आलम मिसाल' अभिव्यक्ति की वह स्थिति है जहाँ चिर-सुन्दर अपने सौंदर्य को देखने में विभोर रहता है– यह जाग्रदवस्था, फिर भी अनभिव्यक्त।

सूफियों की परमसत्ता ही अपने को विश्वात्मक रूप में व्यक्त करती है–शांकरमत में मायोपहित ईश्वर में ही हरकतें सम्भव है–निरूपहित परमसत्ता सर्वथा उदासीन और निर्लिप्त है–सूफियों की परमसत्ता ही अपने से भीतरस्थित विश्वात्मक संभावनाओं को व्यक्त करती है। शांकर ईश्वर सृज्यमान प्राणिवैचित्र्य संपादक कर्म कलाप की अपेक्षा करके सृष्टि करता है। सूफियों की परमसत्ता अन्यनिरपेक्ष सब कुछ सम्पन्न करती है : आगम सम्मत परमसत्ता भी

निरुपादान संभारमिमत्ता वेदतन्वते ॥
जगच्चित्रं नमः तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥

आगम भी मानता है कि अभिव्यक्ति की स्वामान्यतः तीन भूमियां हैं–अभेद भूमि 'भेदाभेद भूमि' और 'भेद भूमि'। प्रथम दो को शुद्ध जगत कहा गया है–कारण वहाँ एक तो अनात्म आत्मा में ही अनभिव्यक्त और एक रस रहता है या भेदाभेद की भूमि पर व्यक्त भी होता है तो आत्मा में अनात्मा। परमसत्ता में सिसृक्षा होते ही द्विदल भाव उच्छ्वसित हो उठता है–शिव और शक्ति आणवमल के बाद अर्थात् बोध में स्वातन्त्र्य का और स्वातन्त्र्य में बोध का अभाव होते ही आणव अज्ञान द्वारा आत्मविस्मृति हो जाती है। मायीयमल के सक्रिय होते ही तृतीय अवस्था भेद की अवस्था आ जाती है जो अशुद्ध कही जाती है–इसमें अनात्म

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में आत्मभाव का उदय होता है–विकृत अहंकार आ जाता है। तीन अवस्था और दो अध्यायों के बाद वर्ण, पदमंत्र, तथा कला, तत्त्व एवम् भुवन का बड़ा विस्तार है। सूफियों में भी ऐसा विस्तार और वैविध्य मिलता है।

यह तो रहा अभिव्यक्ति पक्ष। सृष्टि प्रक्रिया में प्रतिबिम्बवाद का भी एक पक्ष है। ऊपर कहा गया है कि सृष्टि के मूल में आनन्दोच्छ्वातिस, सौन्दर्यमुग्ध परमसत्ता की आत्मप्रकाशनेच्छा ही है। छिपा हुआ वह खजाना अपने को प्रकट करना चाहता है, पर प्रकाश का प्रकाश बिना अंधकार के किस प्रकार सम्भव है–फ़लतः उस परमसत्ता ने अपने स्वातन्त्र्य पल से एक विराट अभाव या महाशून्य का आविर्भाव किया। इस अभावरूप दर्पण में भावमय का प्रतिबिम्ब पड़ा। वही अभाव प्रतिविम्बित भाव ही विश्व है। इसीलिए संसार उभयात्मक और परिवर्तन-शील है–इसमें भाव और अभाव दोनों का स्वभाव परिलक्षित होता है। मनुष्य इस प्रतिबिम्बात्मक विश्व की आँख है। परमात्मा अपने प्रतिबिम्ब में प्रकट होता है, पर अंशतः फलतः उसने अपना सही और पूर्ण प्रतिबिम्बरूप मानव को प्रकट किया, उसमें उसका पूर्ण प्रकाश हुआ। जिसको धरती और अन्तरिक्ष धारण नहीं कर सका, उसे मनुष्य के हृदय ने धारण किया। इस प्रतिबिम्बात्मक प्रक्रिया में सूर्य की जगह परमसत्ता, जल की जगह महाशून्य असत्ता, सत्ता का नकारात्मक रूप और प्रतिबिम्ब की जगह विश्व और मानव। 'कामकला विलास' और उसकी टीकाओं में इसी तरह की प्रतिबिम्वात्मक सृष्टि-प्रक्रिया का विवरण प्राप्त होता है।

श्री चन्द्रवली पाण्डे ने ठीक कहा है कि सृष्टि-प्रक्रिया में जो स्थान शंकर की माया को है, वही भक्तों के यहाँ 'शक्ति' को और सूफियों के यहाँ नूर को। कहा जाता है कि सिसृक्षा होने पर नूरे मुहम्मद की सृष्टि हुई। इस ज्योति पर वह मुग्ध हो गया। जायसी ने कहा है–

कीन्हेसि प्रथम जोति परगासू। कीन्हेसि तेहि पिरीतकविलासू।

उसीके लिए सृष्टि की। मतलव यह कि सृष्टिक्रम के अनेकरूप मिलते हैं और विश्व विवरण का विस्तार भी। आगमसम्मत अवस्थाओं में सादृश्य स्पष्ट है।

मूसा के खुदा को सृष्टि वनाने में छः दिन लगे थे, पर अल्लाह ने सिर्फ 'कुन' कहकर एक क्षण में सारी सृष्टि खड़ी कर दी। सृष्टि का यह संकेत भारतीय आगमिक चिन्तन की शब्दसृष्टि से मेल खाता है। कहा गया है–वागेव सर्व भूतानि– शब्द से ही सृष्टि हुई। परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी का सारा प्रपंच इसमें समाहित हो जाता है।

इस प्रकार तनज़्ज़ुल अर्थात अवतरण में तीन समानताएँ लक्षित की गईं–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१) सुन्दर की आत्माभिव्यक्ति की इच्छा और अभाव में प्रतिविम्ब का होना।

(२) परसत्ता कई स्तरों को पार करती हुई पृथिवीतत्त्व तक परिणत होती है।

(३) शब्द से सृष्टि का क्रम।

(ग) परावर्तन या अवरोहण की प्रक्रिया:—

सृष्टिप्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मनुष्य भी विश्व का ही अंश है अतः उसमें भी भाव और अभाव दोनों का एक साथ समावेश है। इसी अभावांश को दूर कर पूर्ण भावस्वरूप भगवत्स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है। इस अभावांश को दूर करने के लिए 'अहं' भाव को दूर करना होगा। यह अहम् ही सब अनर्थों का मूल है। सूफी लोग कहते हैं कि जब एकमात्र वही सत्य है तब अभिमान किस बात का ?

खा खेलार जस है दुह करा। अहै रूप आदम अवतारा

क्रीड़ा की इच्छा होते ही वह द्विकल हो उठता है वही तो आदम का रूप है।

हां हां कहत सवै मति खोई। जों तू, नाहि आहि सब कोई।

इस विकृत अहन्ता का शमन 'प्रेम' से ही संभव है। एक बार भाव-प्रेम के उदित हो जाने पर सारा अभिमान गल जाता है— सारे अभाव मिट जाते हैं, चित्त चिद्विश्रान्त हो जाता है–अनलहक की स्थिति आ जाती है— सभी भेद समाप्त हो जाते हैं–शक्ति और शक्तिमान एक हो जाते हैं (नसफ़ीकृत 'मकसदी अकला' देखिए) जायसी ने इस दशा का संकेत देते हुए कहा—

सोहं सोहं वसि जो करई। सो वूझे जो धीरज धरई

मनुष्य पूर्ण का अंश है, आनंद की गोद में बैठा है, मिथ्या-विरह की चिन्ता में मर रहा है।

सृष्टि क्रम में एक अनेक हुआ था। प्रत्यावर्तन में पुनः अनेक एक हो जाता है। सूफ़ी सोचते हैं कि सृष्टि के विभिन्न पदार्थ भगवान् के एक या अनेक गुण व्यक्त करते हैं, परन्तु मनुष्य उसके समस्त गुणों को व्यक्त करता है। एक प्रकार से वह मानवरूप में क्षुद्र जगत् (आलमेग़ुदा) कहलाता है जो वाह्य समस्त वृहत् जगत् (आलमेकव्र) को धारण किए हुए है। परमात्मा के सभी गुण मनुष्य के हृदय में प्रतिबिम्बित होते हैं इसलिए मनुष्य के हृदय को जानने से परमात्मा को जाना जा सकता है। इब्दुल अरवी ने इंसानल कामिल (पूर्णमानव) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। मनुष्य का चरमोत्कर्ष पूर्णमानव है। परमात्मा तथा मनुष्य के बीच की यह कड़ी है। परमात्मा उसी के द्वारा अपने आपको जानता है। पूर्ण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानव साधना के द्वारा सूफी मार्ग की सभी मंजिलों को पार करता है—एकता की अनुभूति करता है।

कुरान में लिखा है 'भा खल् कत्तल इन्स व जिन्न इल्लाले आवहूत'—मैंने नहीं पैदा किया मनुष्य और देवताओं को सिवा इबादत के लिए। मतलब यह कि सृष्टि में ही साधना या उपासना का मर्म छिपा है। यह साधना दो प्रकार की है—सामान्य और विशिष्ट। पहला उसके लिए है जो संसार में जीवन व्यतीत करते हुए परमात्मा की ओर आकृष्ट होते हैं—दूसरे वे हैं जो केवल आध्यात्मिक पक्ष में ही संतोष करते हैं। पहले वर्ग के लोग 'विधि' 'निषेध' का निर्वाह करते हैं, दूसरे वर्ग के लोग जिक्र में ही रति मानते हैं। वह जिक्र दो प्रकार का है, एक वह जिसके उसके नाम और गुण से साधक का जीवन ओतप्रोत हो जाय और दूसरा वह जो चिन्तन मनन परक है। पहले की इति अजपाजाप में है। एतदर्थ मुरीद को मुरशिद या पीर की शरण लेनी पड़ती है। पारमेश्वर अनुग्रह और गुरुदीक्षा ही नहीं, साधक को ओर से उपाय भी करना पड़ता है। इस क्रम में महत्वपूर्ण प्रक्रिया है तवज्जह (ध्यान) की। मुर्शिद मुरीद को सामने बिठाकर शक्ति संचार करता है (२) चिश्तियावंशवाले जिक्रजेहर की गोपनीय पद्धति का उल्लेख करते हैं। इसे तहज्जुद के बाद ही व्यक्त किया जाता है (३) जिक्रे पासे अनाफास=श्वास प्रश्वास में जय करना (४) हब्जेदम विशेष कर चिश्ती और कादरी में प्रचलित है हठयोग प्राणायाम, (५ शगले नसीर=आसन मारकर नासिकाग्र पर दृष्टि स्थिर करना (६) शगले महमूदा=त्रिकूटी पर सुरत को जमाना (७) सुलतानुल अजकार=साँस रोककर यथाशक्ति कुंभक पर जप (८) शगले सौंते सरमदी—ईश्वर के नाम पर ध्यान रखकर आध्यात्मिक नाद सुनना (९) मुरातबा इस्मेजात—ईश्वर के नाम पर चित्त सकेन्द्रण। इससे चांचल्य नष्ट होता है। वास्तव में जितनी सांसें उतनी साधनाएँ हैं। 'बिज्ञानभैरव' नामक तन्त्रग्रन्थ में इन सबका विस्तार मिलता है।

साधकों में कुछ तो विधि-निषेध में आस्था रखते हैं, पर कुछ प्रेम में इतने मग्न होते हैं कि इसकी परवा ही नहीं करते। साधना के क्षेत्र में सूफी मधुकरी वृत्ति रखते हैं—फलतःवाद के तसव्वुफ पर निर्भ्रान्ति रूप में भारतीय साधना का प्रभाव माना जाता है। भारतीय योगसाधना का इन पर पर्याप्त प्रभाव है। नक्शबन्दी संप्रदाय के शेख अहमद ने एक सिद्धान्त का प्रचलन किया है जिसे 'लतायफीसित्ता' कहा जाता है—जो कुण्डलिनी—चक्रों जैसा है। इन्होंने शरीर में छह स्थानों का जिक्र किया है—जो एक दूसरे को घेरे हुए हैं।

(१) नफ्त (नाभि के नीचे (२) कल्ब—छाती के वाम भाग में (३) रूह-छाती के दक्षिण भाग में (४) सिरे—कल्व और रूहके बीच (५) खफी-ललाट में (६) अरफा-मस्तिष्क में स्थित है। इनके क्रम में कहीं कहीं व्यतिक्रम भी है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इनके रंग और देवता की कल्पना की गई है। साधक जैसे जैसे ऊपर चढ़ता जाता है– भिन्न भिन्न रंगों को देखता है। आखिरी मंजिल वह है जब संपूर्ण भाग से वर्णहीनता आ जाती है–यही फना की दशा है इसे 'आलेमे हैरत' कहा जाता है। परमात्मा से जिक्र और मुरादा से ये लतीफे जाग्रत हो सकते हैं; अंततः परमज्योति के दर्शन होते है। जायसी ने हठयोग की पर्याप्त चर्चा की है। उनका कहना है–

नवो खण्ड नव पौरी, ओ तहं वज्र कैवार।
चारि बसेरे सो चक्रं, सतु, सौं उनरे पार।
'अखरावट' में भी कहा है–वांक चढ़ाव, सात खण्ड ऊंचा।
चारि बसेरे जाइ पहूँचा।

'अखरावट' में सातखण्डों का जो उल्लेख हुआ है वह हठयोगियों से कुछ भिन्न है। पाण्डेजी चारबसेरे का अर्थ शरीअत, तरीकत, मारिफत और हकीकत करते हैं। शरीअत में रोजा, नमाज, जकात और हज का समान स्थान है। रोजा और नमाज सोम और सलग्न है। तौहीद साध्य है–जाइ समाइ जोति भहं जोती'। सभी साधनाएं इसी के लिए होती हैं। सच्ची साधना इसी के लिए होती है–पीरी मुरीदी वहीं से शुरू होती है। सभी एक मत से तरीकत के कायल है, जिसमें जिक्र, फिक्र और समा का समावेश है--जायसी कहते हैं --

जेइ पावा गुरुमीठ सो सुख नारंग मठ चूलै।
सुख अनन्द मा ठीठ, मुहमद साथी पौढ़ जैहि (अखरावट)

प्रौढ़ निर्देशन में वाक चढ़ाव सरल हो जाता है। रास्ते में शैतान अवश्य मिलता है--जब तक हकीकत न मिल जाय, तब तक निर्देशक का साथ नहीं छोड़ता है। एक के बात मारिफत की स्थिति आने तक अनुष्ठान की धारा चलनी चाहिए। मारिफ की प्राप्ति से शैतान की दाल नहीं गलती। इस स्थिति में आ जाने पर उसे यह बोध हो जाता है कि उसका साध्य तो उसी में था बल्कि वह खुद ही वह था। अब वह अनलहक की स्थिति में होगा सच्चा तौहीद का आनन्द लेगा। पर इसके बाद भी लोकाचार नहीं छोड़ेगा।

"परमट लोक चार कडुवाता। गुपुत प्रेम मन जासो राता"

संतुलित साधक यही कहता है। इस्लाम का भक्त न होकर जो केवल प्रेम का दीवाना है-वह लोकाचार की परवा नहीं करता। मुल्ला और काजी उसे जिन्दीक कहते हैं।

इस प्रकार साधन पक्ष से भी देखने पर शैवों की भांति एक तो पारमेश्वर शक्तिपात, गुरुदीक्षा तथा उपाय का संकेत है, दूसरे आरम्भ में चर्चित तीन मतों से अनमाय, शांभव, शाक्त तथा आणव उपायों का उल्लेख है, तीसरे चक्र और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुण्डलिनी का भी संकेत है, चौथे जिक्र के भेदों में अनाहत श्रवण की बात है, पांचवे पिण्ड-ब्रह्माण्डवाद की झलक है, छे अंतर्मार्ग की प्रमुखता है। आध्यात्मिक चढ़ाव की विभिन्न मंजिलें हैं—सातवा साम्य साधना के क्षेत्र में ऐसे ही अनेक विध साम्य मिलते हैं।

इस प्रकार यहाँ 'तौहीद' से तनन्ज्जुल 'कर' तौहीद' तक ही पहुँचना है और तीनों विन्दुओं पर अनेक समानताएँ मिलती हैं।

जहाँ तक शैवों से मिलती जुलती इस सूफीधारा की कार्यरत केन्द्रीय भावना का सम्बन्ध है रागतत्व है वह। जायसी का जहां तक सम्बन्ध है वे एक संतुलित सर्जक हैं। वे उन लोगों में हैं जो लोकाचार की उपेक्षा नहीं, अपेक्षा से चलते हैं। रागतत्व को व्यक्ति से विश्व और विश्व से विश्वातीत तक प्रसृत करते हैं। इस निष्कामकर्म तथा राग साधना से, जो जिक्र और मुख्वत से सम्पन्न होती है—नफ़रत ध्वस्त हो जाता है और सत्तावस्थ-कल्प के माध्यम से तौहीद की अनुभूति में साधक डूब जाता है। मानवजीवन में संतुलन और व्यवस्था बनाए रखने का यही मार्ग है। इस धारा का केन्द्रीय संवेदन यही है।

—राममूर्ति त्रिपाठी

आचार्य एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनुष्य और जगत्

'मनुष्य और जगत्' पद में योजक प्रत्यय मुख्य रूप से भेद-सम्बन्ध का वाचक है। परन्तु यह भेद विपरीतता या विरोध-रूप नहीं है। तब यह कैसा भेद-सम्बन्ध है, यह हम देखेंगे, पर अभी यहाँ देखने लायक बात यह है कि इनमें भेद-सम्बन्ध है : मनुष्य जगत् नहीं है, उसका अंश भी नहीं है; किन्तु इनमें विरोध नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि वैसे तो मनुष्य जगत् में ही है, जैसे पेड़-पौधे हैं और पशु हैं, बल्कि जैसे नदियां-पहाड़ भी हैं। अब ये जगत् में उसके अंग के रूप में हैं. इनके वाचक शब्दों के साथ और 'जगत्' शब्द के साथ योजक प्रत्यय नहीं लगाया जा सकता। तब, यदि मनुष्य जगत् में है पर पशुओं-पौधों की तरह नहीं है, तो फिर इनमें क्या भेद है ? कुछ दार्शनिकों ने तो मनुष्य में और जगत् में विरोध-सम्बन्ध भी देखा है– सार्त्र के मनुष्य का स्वरूप जगत् के निषेध पर प्रतिष्ठित है, शाङ्कर और बौद्ध दर्शन में हालांकि मनुष्य जगत् के निषेध पर प्रतिष्ठित नहीं है किन्तु इनके अनुसार भी इनमें एक प्रकार का विरोध तो है ही। उनमें क्रमशः युष्मद् को और प्रतीत्यसमुत्पाद को, जो जगत् के पर्याय प्रत्यय ही हैं, दुःख और अविद्या के रूप में ही देखा गया है। इस तरह यह मानकर तो नहीं चला जा सकता कि मनुष्य और जगत् में सम्बन्ध विरोध का नहीं है; केवल इतना ही स्पष्ट है कि इनमें अभेद या अङ्ग-अङ्गी भाव सम्बन्ध नहीं है, कम-से-कम यदि इस पद में 'और' शब्द का प्रयोग उचित माना जाय तो। पर यह भी पहले से ही क्यों मान लिया जाय कि यह प्रयोग उचित ही है, सम्भव है यह प्रयोग अनुचित ही हो और मनुष्य और जगत् में वास्तव में अभेद-सम्बन्ध ही हो। कुछ दार्शनिकों ने इनमें अभेद-सम्बन्ध भी माना है। परन्तु यह बहुत ही मजेदार बात है कि इनमें ज्यादातर दार्शनिकों ने जगत् को मनुष्य के अन्तर्गत माना है, और कुछ थोड़े से ही दार्शनिकों ने मनुष्य को जगत् का अङ्ग माना है। उदाहरण के लिए विज्ञान-वादियों और शून्यवादियों और जर्मन प्रत्ययवादियों ने जगत् को मनुष्य के अन्तर्गत ही माना है। एक तरह से तो सार्त्र ने भी जगत् को मनुष्य का प्रोजेक्ट ही माना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, उसके निषेध की अभिव्यक्ति। उसके अनुसार दूसरी सत्ता– बींग इन इट्सैल्फ– जगत् नहीं है, वह केवल जड़ तत्त्व है, अपने-आप में पूरा और स्थिर। सार्त्र जगत् को उस चेतना का प्रोजेक्ट कहता है जो इस "इन-इट्सैल्फ" के सामने निषेध के रूप में खड़ी होती है। यहाँ मैं ऊर्णनाभ की या जादूगर की भारतीय कल्पना का उल्लेख इसलिए नहीं कर रही हूँ क्योंकि इनमें ऊर्णनाभ या जादूगर मनुष्य नहीं होकर परमात्म-चैतन्य है, मानव-चैतन्य नहीं। पर तब कहा जा सकता है कि शङ्कर का अस्मत् और नागार्जुन का शून्य, या वसुबन्धु का बुद्ध भी, मानव-चैतन्य नहीं है, वह परम चैतन्य ही है, इसलिए इनमें जगत् और मनुष्य में विरोध सम्बन्ध भी नहीं है। वास्तव में शङ्कर का 'अस्मत्' तो मानव-चैतन्य ही है, परमात्म-चैतन्य नहीं, शून्य और बुद्ध अवश्य मानव-चैतन्य नहीं हैं। बौद्धों में वह स्थान, अर्थात मनुष्य का स्थान, संस्कार-प्रवाहमूलक चेतना का है, यद्यपि सार्त्र के प्रोजेक्ट में और शङ्कर के युष्मत् तथा बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद में बहुत फरक है। परन्तु ये तीनों इस बात में समान हैं कि इनके लिए जगत् चेतना का जगद्भाव है, अर्थात् चेतना के जगद्भाव के बिना जगत् का और कोई अस्तित्व नहीं है। यहाँ दिङ्नाग और कांट की याद भी की जा सकती है, जिनके अनुसार जगत् मनुष्य की चेतना में निहित विषयों के आकारों या विकल्पों की ही बाहरी विद्यमानता है। यों बाहर-भीतर शब्द भी वास्तविकता को नहीं बताते, क्योंकि उनके अनुसार बाहर-भीतर देश में होता है और देश स्वयं एक आकार है।

पर जगत् को इस तरह जगद्भाव कहने में क्या साफ ऐसा नहीं लगता जैसे अनुभव के विरुद्ध जाया जा रहा है? हम अपने को किसी स्थान पर स्थित अनुभव करते हैं और उस स्थान से इधर-उधर कुछ चीजों को चारों तरफ फैले देखते हैं, और इन चीज़ों के और अपने बीच, तथा अपने ओर इन चीज़ों के आगे दूर तक, एक फैलाव, एक विस्तार, देखते हैं। इसी तरह, जिन चीज़ों को हम देखते हैं उनके बारे में सहज रूप से ही यह भी मानते हैं कि ये हमारे देखने से पहले से ही यहाँ या दूसरी जगह थीं और आगे भी बहुत देर तक रहेंगी। सन्देहवादी दार्शनिक की जेब से यदि पैसे गायब हो जाएँ तो वह यह कभी मानने को तैयार नहीं होगा कि, द्रव्य की सत्ता नहीं होने से, पैसों की कोई स्थायिता हो नहीं सकती और इस तरह इसका कोई सवाल ही नहीं है कि किसीने उसके पैसे चुरा लिये। इस तरह जगत् की सत्यता सहज-सिद्ध है, दर्शन इसको झुठलाता है तो वह अपनी अविश्वसनीयता ही प्रकट करता है, जगत् को उसके निषेध से कोई फरक नहीं पड़ता। आखिर ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या कहनेवाले वेदान्ती किसीसे कम खाना नहीं खाते, और यदि वे खाना नहीं खाएँ तो जगत् अपने नियमों में कोई परिवर्तन स्वीकार नहीं करता कि वेदान्ती बिना खाये ही मोटा होता चला जाए। तब, जगत् चेतना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का जगद्भाव है, निरपेक्ष सत् नहीं, इसका क्या अर्थ हो सकता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए हम भौतिक विज्ञान से सहायता लेने का प्रयत्न करें, क्योंकि वह जगत् के सम्बन्ध में प्रामाणिक सत्य बताने का दावा करता है। किन्तु वह हमें क्या बताता है ? एक जर्मन दार्शनिक लिओनार्द नेल्सन विज्ञान द्वारा जगत् के ज्ञान के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहता है, " प्रकृति का वैज्ञानिक ज्ञान ऐन्द्रिय अनुभव से आरम्भ होता है– अर्थात इन्द्रियों के सम्मुख प्रस्तुत विषयों को देखने से। किन्तु वह केवल विभिन्न तथ्यों की सूची बनाने से सन्तुष्ट नहीं रहता। यह तथ्यों और घटनाओं के बीच गहरे सम्बन्धों को खोजने का प्रयत्न करता है, क्योंकि हमारे ज्ञान की विभिन्न प्रवृत्तियों के आधार में जो प्रयत्न रहता है, वह है विविधता में एकता का सूत्र खोज निकालना। .. यह (एकतासूत्र) हमें केवल नियमों (लॉज) में उपलब्ध होता है जो कि व्यष्टिमूलक तथ्यों को एक अनिवार्य सम्बन्ध में बांधता है।"[1] इसका क्या अर्थ है ? क्या व्यष्टि-तथ्यों के समान अनिवार्य सम्बन्ध भी जगत् में हैं ? इनमें परस्पर सम्बन्ध क्या है ? " यह पुस्तक उस पुस्तक के दायें है " में पुस्तकों के होने की बात की गई है और इनमें सम्बन्ध की बात कही गई है। किन्तु इस सम्बन्ध का पुस्तकों के समान अस्तित्व प्रायः कोई नहीं मानता।[2] इसीसे वैज्ञानिक जिन सम्बन्धों की खोज करता है उनको इस तरह के सम्बन्धों से अलग करने के लिए नेल्सन ने " अनिवार्य " और " गम्भीर " कहा है। किन्तु तब क्या वस्तुएँ और सम्बन्ध दोनों जगत् में हैं ? वास्तव में नियमों की प्रत्येक खोज विशेष या व्यष्टि को नियमों के एक उदाहरण के रूप में देखती है। परिणामतः नेल्सन आगे कहता है कि " प्रकृति (जगत्) में वस्तुओं का अस्तित्व वहाँ तक ही है जहाँ तक कि वे सार्वभौम और अनिवार्य नियमों से निर्धारित होती हैं। "[3] किन्तु तब क्या यह माना जाय कि सार्वभौम नियम वस्तु-सत् हैं या कि यह माना जाय कि विज्ञान वस्तु-सत् का ज्ञान नहीं देता ? बहुत कम लोग हैं जो यह मानते हैं कि सत्ता वस्तुओं की नहीं बल्कि नियमों की है। नेल्सन ऐसा माननेवालों में नहीं हैं, वे कांट के अनुसार कहते हैं कि "जो वस्तुएँ हमारे जानने के ढङ्ग से अलग अस्तित्ववान् हैं उन्हें हम " स्वलक्षण वस्तुएँ " कहते हैं। इसलिए स्वलक्षण वस्तु कभी वैज्ञानिक ज्ञान की विषय नहीं हो सकती। "[4]

हमारे यहाँ बौद्ध भी ऐसा ही मानते हैं, बहुत कुछ शङ्कर भी ऐसा ही मानते हैं। जो भी हो, कम-से-कम वैज्ञानिकों की साधारण रूप से मान्यता यह है कि विशिष्ट वस्तुओं का ही अस्तित्व है जो ऐन्द्रिक अनुभव में अपने को प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से प्रकट करती हैं, किन्तु विज्ञान के लिए इस रूप में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है, विज्ञान ऐसी एक व्यवस्था खोजना चाहता है जो इन अनुभवों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को कोई सूत्र दे सके। स्वयं इस सूत्र का कोई अस्तित्व नहीं है, ये हमारी विकल्प-बुद्धि के आरोप हैं। इसीसे नेल्सन वैज्ञानिक ज्ञान के विषयों को 'वस्तु' के बजाय 'वस्तु का प्रत्यय' (आइडियाज़ आफ थिंग्ज़ इन देम सेल्वज़) कहता है। नेल्सन के मत का उल्लेख हमने प्रमाण के रूप में नहीं बल्कि एक प्रतिनिधि मत के रूप में किया है। यह कान्टीय मत है। अनुभववादी मत इससे कोई मौलिक रूप से अलग नहीं है, क्योंकि इनका प्रमाणीकरण का सिद्धान्त वस्तु-प्रत्यय को पूर्वकल्पित करता ही है। अवश्य ये लोग कांट की तरह कॉण्ससनेस की कैटेगरीज को नहीं मानते और विज्ञान के नियमों को हाइपोथिसिस मानते हैं, पर हापोथिसिस में एक प्रकारता, एक फोर्म तो रहता ही है, जिससे ही सत्यापन का रूप और क्षेत्र निर्धारित होता है। इस फोर्म के कारण ही अनुभववादियों के सामने यह कठिनाई आई कि "यह पुस्तक है" जैसे सीधे-सादे कथनों का भी पूरा सत्यापन कभी नहीं हो सकता। तब सुलझाव निकाला गया कि असत्यापन पूरा हो सकता है, इसलिए विज्ञान सत्यापन के क्रम से नहीं, असत्यापन की व्यावृत्ति के क्रम से अग्रसर होता है।[५] अब, एक प्रत्यक्ष सो प्रत्यक्षों को वैसे असत्यापित करेगा जब तक विषय प्रत्यक्षों का जमघट होने के बजाय विषय का आकार नहीं हो ? विज्ञान के नियमों को हाइपोथिसिस ही चाहे मान लें, तो भी हापोथिसिस को तो अनुभव अपने आप से नहीं देता, अनुभव को हम किसी आकार में देखते हैं तब हाइपोथिसिस बनती है। इसलिए चाहें कांट, सांख्य और दिङ्नाग की तरह प्रतिविषयता (इन्द्रिय सन्निकर्ष) को अध्यवसाय में स्थापित करें, चाहें नैयायिकों की तरह जाति-व्यक्ति को संयुक्त करें, और चाहे अनुभववादियों की तरह, बुद्धि के रचना-धर्म को सिर्फ हाइपोथिसिस का दर्जा दें, जगत् को शुद्ध तत् के रूप में प्राप्त करने की असम्भवता स्पष्ट है।

पर जगत् से हमारे सम्बन्ध को एक दूसरे स्तर पर देखें। हमारे साधारण अनुभव में मोटे तौर पर पांच तरह की वस्तुएँ हैं-एक मिट्टी पानी आदि, दूसरी पशु-पक्षी और पेड़पौधे, तीसरी मनुष्य, चौथी, घट, पट आदि और पांचवीं संस्कृति और उसके अवयव—भाषा, परम्परा, और समाज आदि। इनमें पहली (मिट्टी आदि) अपने-आपसे हैं और सामान्य हैं, दूसरी (पशु-पौधे आदि) भी अपने-आपसे हैं पर विशेष हैं। तीसरी (मनुष्य) भी अपने आपसे हैं और विशेष हैं किन्तु विषय नहीं होकर विषयी हैं, (घट आदि) चौथी और पांचवी (भाषा आदि) अपने आपसे ही नहीं हैं, वे चेतनामूलक हैं। किन्तु पांचवी अपने-आपसे नहीं होने पर भी व्यक्ति के लिए तो अपने आपसे ही है—भाषा मेरे बोलने से नहीं बनती बल्कि भाषा होती है तो मैं बोलती हूँ, इसी तरह परिवार—संस्था को मैं नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बनाती बल्कि, मैं परिवार में उत्पन्न होती हूँ आदि। शायद हमारे जगत् का अधिकांश भाग तीसरे, चौथे और पांचवें प्रकार की वस्तुएँ घेरे हुए हैं। अब रही पहले और दूसरे प्रकार की वस्तुओं की बात। इनमें पहली को हमने सामान्य कहा, वह इस कारण कि मिट्टी का कोई भी एक पिण्ड दूसरे पिण्ड के समान होता है, जल का कोई भी एक कण दूसरे के समान होता है। एक लौटा पानी और आधा लौटा पानी में केवल मात्रा-भेद होता है। अवश्य मिट्टी और पानी भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु ये एक तो भौतिकता में सामान्य हैं, और दूसरे, अगर इन्हें भिन्न भी मान लें तो भी आपसी भेद इन्हें एक दूसरे से तो विशेष बनाता है पर कोई अन्तर्गत विशेषता नहीं देता जो कि अस्तित्व की केवल ऐसी परिधि से ही आती है जो किसी भीतरी रचना-धर्म से निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए चींटी ओर हाथी के शरीर आकार और परिधि से परिभाषित होते हैं जो एक आन्तर रचना-धर्म से निर्धारित होते हैं। एक शरीर अपने-आप में पूरा और स्वायत्त होता है, अवश्य इसमें भी एक सामान्य होता है, इसे हम रचना-धर्म का रूप कह सकते हैं, कुछ हद तक अरस्तू के फोर्म जैसा कुछ, पर यह सामान्य ही ऐसा होता है जो विशेषों में ही रूप लेता है। सब चींटियों के शरीर एक ही सामान्य रूप को प्रकट करते हैं, किन्तु यह सामान्य रूप ही विशेषात्मक होता है। यह हम घट और गृह में प्रत्यक्ष देख सकते हैं। घट घट-रूप की अभिव्यक्ति होता हैं, घट-रूप सामान्य प्रत्यय है, पर यह सामान्य प्रत्यय ही ऐसा है जो एक देह की परिधि अपने स्वभाव ही से धारण करता है और इस तरह मिट्टी में से उठकर बाकी मिट्टी से और सारे संसार से अलग हो जाता है। घट और चींटी में यही अन्तर है कि घट-प्रत्यय को हम पहले बुद्धि में ही साक्षात् करते हैं और तब उसका देश-काल में आविर्भाव होता है, जबकि चींटी के प्रत्यय या रचना-धर्म का साक्षात् हम चींटी के देह के माध्यम से ही करते हैं।

जो भी हो, यहाँ मुख्य बात यह है कि घट और चींटी जगत् में उसी तरह नहीं हैं जैसे मिट्टी और आकाश और जल हैं। इनके लिए हम यह भी कह सकते हैं कि ये आधे उसके धरातल के नीचे होते हैं। और दूसरे मनुष्य, जो कि हमारे जगत् के सबसे महत्वपूर्ण घटक हैं, उनकी गति और भी न्यारी है, क्योंकि वे विषय-जगत् में इतने मात्र के लिए ही होते हैं कि हम जगत् के परे स्थित उनके विषयी रूप का ग्रहण कर सकें। आधुनिक मनोविज्ञान ने व्यवहारवाद आदि सिद्धान्तों के रूप में बड़ी भारी कोशिश की कि मनुष्य को भी पूरी तरह इसी लोक में उतार सके, पर वह सिद्धान्त अनुभव से इतना दूर है कि ज्यादातर खींचातानी ही लगता है। दूसरे, वह सिद्ध क्या करता है? वह सिद्ध यह करता है कि हम अपने को तो विषयी रूप में अनुभव करते हैं किन्तु दूसरों को विषय के रूप में ही अनुभव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करते हैं और इस विषय से अनुमान करते हैं कि जिस तरह शरीर के होते हुए भी हम उसके पीछे विषयी हैं उसी तरह इन शरीरों के पीछे भी विषयी होगा। भाव यह कि हम मानते तो दूसरे मनुष्यों के भी विषयी ही हैं, पर वैसा अनुमान से करते हैं, प्रत्यक्ष से नहीं।

मैं यहाँ किसी विवाद में पड़े बिना इतना कहना चाहूँगी कि जिस व्यवहार को वे विषय रूप में प्रत्यक्ष और विषयों के अनुमान के लिए लक्षणरूप मानते हैं मैं उस व्यवहार को भी विषयी-व्यवहार ही मानती हूँ। मुस्कान या भौंहें चढ़ाना प्याले में चाय हिलने या बिजली चमकने से एकदम अलग तरह की घटनाएँ हैं, बाहर से देखनेवाले के लिए भी।

पर सांख्य, वेदान्त, बौद्ध और कांट तो उस विषयी ही को जगत्-परक मानते हैं जिसे हम अपने स्वयं में अनुभव करते हैं, तब दूसरे मनुष्यों की तो बात ही क्या है, जिनके कि व्यवहार को ही हम देखते हैं; वह चाहे कितना भी भौतिक वस्तुओं के व्यवहार से अलग तरह का क्यों नहीं हो ! इन दार्शनिकों की बात समझने की कोशिश करने से पहले हमें पीछे कही बात का निचोड़ देखना चाहिए। वह निचोड़ यह है कि जब हम पैदा होते हैं, या सो कर उठते हैं, तब उसके साथ ही एक स्थिति उत्पन्न होती है जिसमें हम अपने को एक विस्तार के बीच पाते हैं, जो विस्तार एक ओर हमारे पर केन्द्रित होता है और दूसरी ओर हमारे से आरम्भ करके क्षितिज तक और उसके भी आगे फैल जाता है। काल का विस्तार भी इसी तरह हमारे वर्तमान के केन्द्र पर संकुचित और इस केन्द्र से विस्तारित होता है। ये दोनों विस्तार जगत् हैं, इनका केन्द्र मैं हूँ, किन्तु इस केन्द्र के रूप में जगत् नहीं हूँ। पर तब भी मैं जगत् से बाहर भी नहीं हूँ, क्योंकि आखिर यह केन्द्र इस विस्तार के अन्तर्गत ही है—अर्थात् मेरे अपने अनुभव में भी। जैसे, मैं उस पुस्तक को उठाने के लिए आगे बढ़ती हूँ तब एक स्थान को छोड़कर दूसरे पर पहूँचती हूँ और इस स्थान-परिवर्तन में उसी तरह का सम्बन्ध-परिवर्तन होता है जैसा पुस्तक को उठाने पर उसके और मेज़ के बीच होता है। पर तब भी बहुत अन्तर है, क्योंकि अकेला यही कोई ऐसा है जिस पर सम्पूर्ण विस्तार केन्द्रित होता है और जिससे बाहर की तरफ फैलता है। इसे दूसरे शब्दों में कहें, इनमें यह केन्द्र अस्मत् है, विस्तार—जगत् सब युष्मत् है। हमने पीछे जो देखा उसमें यह भी पाया कि युष्मत् में युष्मत्त्व का मात्र भेद है, या इसे यों कह सकते हैं कि युष्मत् में एक प्रकार-भेद है जिनमें से एक त्वं है दूसरा इदं। और इनमें त्वं जबकि अस्मत्त्व के निकटतम या युष्मत्व में न्यूनतम है, इदं युष्मत्त्व की पराकाष्ठा है, पर पराकाष्ठा ही, पूर्णता नहीं। और यदि युष्मत् में युष्मत्त्व का मात्रा-भेद है तो अस्मत् में भी अस्मत्त्व का मात्रा-भेद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो सकता है, किन्तु सांख्य आदि इसी मात्रा-भेद की ओर सन्केत कर इसे युष्मत् में ही रखते हैं, क्योंकि वे अस्मत्त्व में कोई मात्रा-भेद स्वीकार नहीं करते। युष्मत्त्व में मात्रा-भेद स्वीकार करते हैं, ऐसा कहना कठिन है, कम से कम ऐसा कहीं वे स्पष्टतः नहीं कहते. किन्तु सांख्य और वेदान्त में बुद्धि को पुरुष या चैतन्य के निकटतम कहने में यह मात्रा-क्रम स्वीकृत कहा जा सकता है। किन्तु तब भी यह मात्रा-भेद है तो युष्मत्त्व में ही, और इस तरह जो अस्मत्परक मात्रा-भेद दिखायी पड़ता है उससे यह स्पष्ट है कि वह युष्मत् ही है। पर ऐसा कहने का क्या औचित्य है ? यह बहुत कठिन प्रश्न है जिसके समाधान की यहाँ हम कोशिश नहीं कर सकते, केवल इसकी एक रूपरेखा दे सकते हैं।

जैसाकि हम जानते हैं, कांट प्रकृति या जगत् को कारणता से और आत्मा को स्वातन्त्र्य से परिभाषित करता है। कांट के अनुसार जगत् में मनुष्य कारणता के ही अधीन है और इस तरह जगत् के ही अन्तर्गत है। इसका क्या अर्थ है, इसे ज्ञान के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों और व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों में आसानी से देखा जा सकता है। पहले सिद्धान्त के अनुसार, कांट ने जो दार्शनिक सिद्धान्त दिये उस देश और काल में वह वही दे सकता था। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार कांट का रीज़न के बारे में और कठोर तथा पवित्रतावादी नैतिकता के बारे में जो आग्रह था उसके व्यावहारिक समानान्तर उसकी कठोर पंक्चुअलिटी (समय सारणी के अनुसार कार्य करना) और विवाह नहीं करने में देखे जा सकते हैं, और ये चारों बातों के कारण उसके बचपन के मनोवैज्ञानिक परिवेश में देखे जा सकते हैं। एरिक्स ने महात्मा गांधी के हरिजनोद्धार, सत्याग्रह, शौच खुद साफ करना आदि सब कार्यों की इस तरह की मनोवैज्ञानिक व्याख्या दी है। अभी महात्मा बुद्ध पुराने जमाने के होने के कारण इनके चंगुल से बच गए, अगर हमारे जमाने में हुए होते तो उन्हें भी पता चल जाता कि वे किस प्रतीत्यसमुत्पाद से बने थे। पर इस उपहास की बात को छोड़ते हुए, इन दोनों सिद्धान्तों में बहुत अधिक सच्चाई है। हम विचारते हुए अपनी भाषा और प्राप्त साहित्य का उपयोग करते ही हैं। जहाँ तक मनोवैज्ञानिक व्याख्या का सवाल है, मनुष्य की विकृतियों का स्रोत तो स्वतन्त्रता तर्कतः भी नहीं हो सकती, और यह देखना मुश्किल नहीं है कि हमारे ज्यादातर कार्य विकृतिमूलक होते हैं। उदाहरण के लिए बर्नाड शा के लिए कहा जाता है कि लिखने और बोलने में उसकी तेजस्विता का मूल पहली बार व्याख्यान देने के लिए खड़ा होने पर उसके कांप जाने और व्याख्यान नहीं दे पाने में था। यहाँ हमारा यह अर्थ नहीं है कि बर्नाड शा की तेजस्विता विकृति थी, पर यह असाधारणता तो थी ही। विकृतियां तो तर्कतः स्वतन्त्रतामूलक नहीं हो सकतीं, और इसी तर्क से यह भी कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति में विशेष प्रकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की विकृतियां नहीं होना उस तरह की विकृति पैदा करनेवाले कारणों के अभाव का सूचक है। उदाहरण के लिए, अक्सर कहा जाता है कि संजय गांधी जैसा था वैसा इसलिए था, क्योंकि वह, और बातों के अतिरिक्त, इन्दिरा गांधी का पुत्र था, और जवारलाल नेहरू वैसे इसलिए नहीं थे, और जैसे थे वैसे इसलिए थे, क्योंकि वे, और बातों के अतिरिक्त, मोतीलाल नेहरू के पुत्र थे।

इन सिद्धान्तों और इनके समर्थक उदाहरणों का उल्लेख मैंने इसलिए नहीं किया कि मैं इनको पूरी तरह सत्य मानती हूँ, और न इसलिए ही किया कि कांट इन्हें सत्य मानता था, इनका उल्लेख कांट के इस सिद्धान्त का अर्थ स्पष्ट करने के लिए किया कि 'मनुष्य की जागतिक सत्ता कारणात्मक है,' और उस सत्ता के सन्दर्भ में कांट भी इन सिद्धान्तों को स्वीकार करता है और मैं भी उसका समर्थन कर रही हूँ। बहुत कुछ यही आशय सांख्य का है जो गीता के निम्न श्लोक से देखा जा सकता है—श्लोक की दूसरी पंक्ति है—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।

अर्थात् सब कर्म प्राकृतिक है और वह हमारे नियन्त्रण के बाहर अपने-आपसे होता रहता है। इसमें केवल दैहिक कर्म ही नहीं है बल्कि मानसिक और बौद्धिक कर्म भी सम्मिलित है। पर ये चारों दर्शन-सम्प्रदाय मनुष्य को स्वरूपतः प्राकृतिक नहीं मानते, या कहें, केवल प्राकृतिक नहीं मानते, वे उसे स्वरूपतः अप्राकृतिक, या कहें दो स्तरों के अस्तित्ववाला मानते हैं। इस दूसरे स्तर के अस्तित्व को पुरुष, बुद्ध, शून्य या ट्रांसेन्डेन्ट सेल्फ का नाम दिया गया है। पर यदि मनुष्य स्वरूप से बुद्ध या असक्त पुरुष है तब वह प्रकृति में बन्धता क्यों है ?

इस प्रश्न का उत्तर अगर इस प्रश्न के अनुसार ही दिया जाय तब सिर्फ गलत उत्तर ही दिया जा सकता है, क्योंकि 'क्यों' का अर्थ है कि इसके पीछे कोई प्रयोजन होगा और वह किसी समय पैदा हुआ होगा। पर यह कैटेगरी मिस्टेक तो है ही, वैसे भी अनुभव से इसका मेल नहीं बैठता। इसीसे शंकर अध्यास को नैसर्गिक कहते हैं, अर्थात् मनुष्य का आरम्भ ही अध्यास में होता है, आदि में वही है, आदि में असक्त पुरुष नहीं है। इसे इस तरह देखें—हम मन-बुद्धि के धरातल पर किसी अतिक्रामी सत् का साक्षात्कार नहीं करते, उसके साथ तो हम पैदा ही होते हैं, पर इन धरातलों से ऊपर उठने की सामर्थ्य रखते हैं। मान लें कि मैं जो कार्य करती हूँ वह इस कारण वैसे करती हूँ क्योंकि मैं खास परिस्थितियों में पैदा हुई हूँ। पर मैं तो वैसा अपने को स्वतन्त्र मानकर ही करती हूँ। पर रीफ्लैक्शन (मनन) से मैं देख भी सकती हूँ कि यह कार्य-व्यवहार मैंने संस्कारवश किया है और तब भविष्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मैं उससे मुक्त हो सकती हूँ। नहीं हो सकूँ तो कहना होगा कि जबकि विचार के स्तर पर मैं स्वतन्त्र हो गई, संकल्प के स्तर पर वह नहीं हो पायी। रीफ्लैक्शन (मनन) की सब क्रियाएँ, और इसी तरह नैतिक विवेक की सब क्रियाएँ, मनुष्य की जागतिकता के धरातल से ऊपर उठने की सामर्थ्य दिखाती हैं और यदि यह सामर्थ्य उसमें है, यदि वह जगत् से परे अपने को देखता है और उसे ही अपना स्वरूप समझता है, तब उस स्तर की सत्ता अपने आपसे सिद्ध है। कोई कहे कि यह कैसे सिद्ध है, तो उसे उत्तर है कि मेरी जागतिकता कैसे सिद्ध है? मेरी यह जागतिकता इसी बात से तो सिद्ध है न कि मेरा मन और बुद्धि जगत् के नियमों के अनुसार व्यवहार करते हैं? अब, मनन और विवेक में इनके अनुसार व्यवहार नहीं करती हूँ, यह स्पष्ट है। अगर विवेक को संस्कारमूलक दिखाने की कोशिश की भी जा सके तो भी मनन के लिए यह कोशिश नहीं की जा सकती, क्योंकि मनन है ही विषय से विषय-ग्रहण के स्रोत की तरफ लौटना। इसको भी कारण-शृंखला में खोजने की कोशिश ऐसी ही होगी जैसी पृथ्वी को बैल के सींग पर खड़ा करने की—कि नहीं तो पृथ्वी अपनी जगह खड़ी ही कैसे है? अब अगर मनुष्य इन दो स्तरों पर है तो ये दो स्तर उसके दो भाव—जगत्-भाव और अजगत् भाव—या बुद्धभाव, शून्य भाव, आनन्द भाव आदि—ही कहे जायेंगे। वह जिस भाव में होता है उसी तरह के लोकों की सृष्टि होती है। आप कहेंगे, घट और पट की उत्पत्ति मेरे भाव से नहीं होती है। इसका उत्तर है कि इनकी तो उत्पत्ति स्पष्टतः चैतन्य के भाव से ही होती है, आप यह कह सकते हैं कि मिट्टी की उत्पत्ति चैतन्य के भाव से नहीं होती है। मैं यहाँ इस बारे में कोई मत स्थापित नहीं करना चाहती कि पृथ्वी, अप्, तेज, वायु आदि वास्तव हैं या चैतन्य के भाव मात्र हैं, इसका यहाँ कोई प्रसंग भी नहीं है। बल्कि सहज रूप में तो जगत् अपनी वस्तुता से चेतना को अभिभूत करता है, वह बाह्यार्थ के रूप में ही उसे प्रस्तुत होता है। पर तब साथ ही यह भी सही है कि मानवचैतन्य जब चाहे, जैसे चाहे, उसका ग्रहण या उपेक्षा कर सकता है। उदाहरण के लिए मिट्टी को वह अधिकांश में से उपादान के रूप में ही ग्रहण करता है। पर यह उसके लिए अनेकों में से केवल एक अर्थ है जो अपनी स्वीकृति के लिए उसके सामने पल्ला पसारता है। इस तरह जगत् केवल चैतन्य का जगद्-भाव है। पर इसमें मनुष्य की कोई विशेषता नहीं है। असल में तो यह भाव पशु में मनुष्य से कहीं दृढ़तर होता है, पर मनुष्य में यह भाव या तो न्यूनता को प्राप्त होता है या वृद्धि को। ऐसे मनुष्य भी मिलेंगे जिनमें जगद्भाव पशु से प्रबलतर होता है, दूसरे ऐसे भी जिनमें यह पूर्णतः तिरस्कृत रहता है। पर यह न्यूनता और अधिकता दोनों मनुष्य की इस योग्यता के कारण होती हैं कि मनुष्य की चेतना जगत्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के सम्पर्क में सीधे नहीं आती, वह जगत् को एक सम्भावना के रूप में ग्रहण करती है और तब उस सम्भावना की वृद्धि या ह्रास कर सकती।

डी–५९, बापूनगर;
जयपुर–३०२००४.

–भगवती राव

टिप्पणियाँ

१. नेल्सन, लियोनार्ड– सोक्रेटिक मैथड़ एण्ड क्रिटिकल फिलासफी, पृ. ४६, (जर्मन से अनुवाद), डॉवर पेपर बैक, १९६५।

२. ऐसा ब्रैड्ले मानता है, क्योंकि वह सम्बन्धों को वस्तुगत मानता है। किन्तु ऐसा माननेवाले दार्शनिकों की संख्या नगण्य है।

३. नेल्सन, लियोनार्ड– वही, पृ. सं. ५२।

४. वहीं।

५. कार्ल पॉपर ने यह मत सर्वप्रथम प्रतिपादित किया, द्रष्टव्य उसकी पुस्तक लाजिक ऑफ साइंटिफिक डिस्कवरी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्थितप्रज्ञता एवं आत्मनिष्ठता : गीता एवं कीर्केगार्ड

(एक तुलनात्मक पर्यालोचन)

भारतीय दर्शन ने विश्व के दर्शन-प्रकारों को न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य ही प्रभावित किया है। दूसरी ओर, उसने अपने को अप्रभावित भी नहीं रखा है। भारतीय दर्शन की यह सम्वेदनशीलता एवं महनीयता ही है। प्राचीन काल में अपनी संस्कृति व दर्शन के कारण ही भारत "जगद्गुरू" था। यहाँ सुदूरदेश–देशान्तरों के दर्शन व ज्ञान-प्रेमी लोग आ-आकर शिक्षा ग्रहण करते थे[1]। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य अधिकांश विद्वान इस कथन से सहमत हैं कि भारत के मनीषी-विद्वान, सन्त एवं धार्मिक-दार्शनिक अपनी समन्वयवादिनी विराट् प्रतिभा से जगत को आलोकित करते जा रहे हैं। काउन्ट जोन्स जेनी का मत इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि भारत-वर्ष केवल हिंदुओं का ही घर नहीं, वरन् वह संसार की सभ्यता और संस्कृति का आदि भण्डार है। साम्प्रदायिकता एवं देश-काल की मान्यताओं के आदर के ही साथ लोकसंग्रह एवं विश्व-हित का सर्वाधिक प्रयास यहाँ मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीता इसी आशय का एक धार्मिक-दार्शनिक प्रयास ही है। श्रीमद्भगवद्-गीता उस त्रिपथगा के समान है जो ज्ञान, भक्ति एवं कर्म की धारा-त्रय में प्रवाहित है। गीता-दर्शन व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ बनाना चाहता है। स्थितप्रज्ञता में ही लौकिक तथा पारलौकिक हित निहित हैं। स्थितप्रज्ञता एक गुण-विशेष है, जो अर्जनीय है। मानव-अस्तित्व की सार्थकता स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति में ही है।

विश्व-दर्शन के दूसरे क्षितिज पर नवोदित पाश्चात्य अस्तित्ववादी दर्शन में स्थितप्रज्ञता से मिलता-जुलता शब्द "आत्मनिष्ठता" (सब्जेक्टिविटी) है। अस्तित्ववाद के जनक श्री सोरेन कीर्कगार्ड (Soren kierkegaard) द्वारा प्रतिपादित "आत्मनिष्ठता" की अवधारणा और गीता की "स्थितप्रज्ञता" की अवधारणा-दोनों का तुलनात्मक पर्यालोचन ही इस शोध-पत्र का उद्देश्य है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रीमद्भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञता की अवधारणा

गीता व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ बनाना चाहती है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति ज्ञान, भक्ति एवं कर्म का समन्वयक है। वह एकांगिता का वरण नहीं अपितु सर्वांगिता का चयन करता है। वह संतुलित चित्तवाला योगी होता है। निरपेक्ष ज्ञान, भक्ति एवं कर्म गीता को मान्य नहीं है। गीता की मान्यता के अनुसार स्थितप्रज्ञ व्यक्ति में ही ज्ञान, भक्ति एवं कर्म का समन्वित रूप मिलता है। अर्जुन के यह पूछने पर कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति का लक्षण क्या है? वह कैसे बोलता है? किस प्रकार बैठता और चलता है?[2] योगिराज भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा:—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।

गीता २:५५

"हे अर्जुन! जब व्यक्ति मनोगत समस्त कामनाओं का सम्यक् परित्याग कर देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, तब उस काल-प्रवाह में वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।"

गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञता एक दशा-विशेष है, जिसमें समाधिस्थ व्यक्ति रहता है। इस दशा में मनोगत राग-द्वेषादि भाव प्रलुप्त हो जाते हैं। आत्मा आत्मा से संतुष्ट रहता है। यह दशा आत्मिक है, न कि शारीरिक। शारीरिक स्तर पर कामनाओं का परित्याग मृग-मरीचिका-वत् है। जब व्यक्ति अपने आत्म-तत्त्व की ओर अभिमुख होता है और बाहरी इन्द्रियार्थों से इन्द्रियों को मोड़ लेता है उसी प्रकार जैसे कछुआ[3] अपने अंगो को समेट लेता है, तब स्थितप्रज्ञता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। स्थितप्रज्ञ वह व्यक्ति है जो आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि-द्वन्द्वातीत, नित्यवस्तु परमात्मा में स्थित तथा शुद्धान्तः करणवान् है। वह समदर्शी एवं सर्वभूत-हित-रत है। गीता में ऐसे योगी की बुद्धि को व्यवसाया-त्मिका या निश्चयात्मिका बुद्धि कहा गया है। स्थितप्रज्ञ सामान्य मानव नहीं, वह महा-मानव है। दुःखों की प्राप्ति होने पर उसके मन में उद्वेग नहीं होता और न ही सुखों की प्राप्ति से सुखस्पृहा होती है। उस महामानव कर्मयोगी की बुद्धि स्थिर होती है। उसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो चुके होते हैं।[4] स्थितप्रज्ञ महामानव विषय-निवृत्ति के ही साथ आसक्तिरहित स्थिति को प्राप्त होता है। स्थितप्रज्ञ की इन्द्रियाँ उसके वशीभूत होती हैं। इन्द्रियों के वशीभूत होने पर ही बुद्धि स्थिर हो सकती है। ऐसा संभव नहीं है कि इन्द्रियार्थ के प्रति आसक्ति भी रहे और बुद्धि भी स्थिर रहे। यहाँ अस्तित्ववादी दार्शनिक सोरेन कीर्कगार्ड का आइदर-आर है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञता ही मानवता का सच्चा आदर्श है। स्थितप्रज्ञता के स्तर पर पूर्वाग्रह, हठ, दुराशा एवं आसक्ति का सर्वथा अभाव होगा। फिर तो पारस्परिक कलह, तनाव एवं युद्ध का कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होगा। स्थितप्रज्ञ आत्मस्थ होता है। उसे अन्तःकरण की प्रसन्नता मिल जाती है।[५] और, तब वह निःशेष हो जाता है। उसकी किसी विषय में कामना नहीं रहती। वह कामजित होता है। वह इन्द्रियों का सम्यक् निग्रह कर चुका होता है।[६] ऐसा स्थितप्रज्ञ योगी सांसारिक सुख-प्राप्तिरूपी दिन में सोता है और परमसत् की प्राप्ति-रूपी रात्रि में, जब सभी प्राणी सोते हैं, वह जागता रहता है।[७]

स्थितप्रज्ञता ममता-रहित, अहंकार-रहित तथा स्पृहा-रहित स्थिति है। यह शान्ति-लाभ है। जो काम-परित्यागी है और आसक्ति-हीन है, वही शान्ति-लाभ का अधिकारी भी है।[८] यह स्थिति ब्रह्म-प्राप्त पुरुष की स्थिति है।[९] जो आत्मस्थ है वही ब्रह्म-प्राप्त है। यह अनुभूति का स्तर है। वस्तुनिष्ठ या वैषयिक तर्कणा (आबजेक्टिव रीजनिंग) से इसका ज्ञान सम्भव नहीं है। जो तर्कवादी हैं वे प्रदर्शनात्मक स्तर पर मात्र दिखावे के लिए इन्द्रिय-निग्रह करते हैं, किंतु उन्हें "मिथ्याचारी" संज्ञा से अभिहित किया गया है।[१०]

अस्तित्ववादी दार्शनिक श्री सोरेन कीर्कगार्ड ने प्रदर्शन-पसन्द तर्कणावादी लोगों को 'आत्म-हन्ता' ऐसा कहा है। ये आत्म-हन्ता लोग अपने को धार्मिक कहलवाने के लिए धार्मिकता का ढोंग रचते हैं। हीगलीय दर्शन का अध्येता मेजिस्टर एडलर जब पादरी (प्रीस्ट) बना और अपने बौद्धिक पुजारीपन का जादू सब के ऊपर चलाने लगा तो कीर्कगार्ड ने उसे "ताश खेलने वाला पुरोहित" (ए कार्ड प्लेइंग प्रीस्ट) कहकर सम्मानित किया।

"......एक व्यक्ति पुरोहित नियुक्त किया गया है, मनुष्यों को पकड़ने और फंसाने के लिए, जैसे मछली पकड़ी जाती है, जैसे शिकार से पशु को फंसा लिया जाता है, वैसे ही इस व्यक्ति का कार्य मनुष्यों का शिकार है......।[११]

गीता की स्पष्ट मान्यता है कि जो मन से इन्द्रियों को वश में करता है, जो अनासक्त है और समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोगो का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।[१२] स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी होता है। वह आचरण में ज्ञान को उतारता है। उसकी कथनी और करनी में सामंजस्य होता है। वह कर्म करने में ही अपना अधिकार समझता है। फल-प्राप्ति की चिन्ता से वह सर्वथा मुक्त रहता है। वह मुक्तसङ्ग योगीपरमसत् भगवान श्रीकृष्ण प्रति पूर्ण समर्पित होता है। भगवान को स्थितप्रज्ञ योगी ही प्रिय है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति जल से कमल के पत्ते की भांति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जल-लिप्त नहीं होता।[13] स्थितप्रज्ञ भक्त "अन्तःसुखः, अन्तरारामः तथा अन्तर्ज्योतिः" होता है।[14] उसकी वृत्तियाँ मानापमान में तथा शीतोष्ण-सुखदुःखादि में भलीभांति शान्त होती हैं।[15] वह ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा होता है। उसके लिए मिट्टी, पत्थर और सन्मान सुवर्ण समान होते हैं।[16] वह अर्थात् भगवत्प्राप्त होता है। भगवत्प्राप्त व्यक्ति "समभाव" वाला हो जाता है। वह आत्मा को संपूर्ण भूतों में स्थित और संपूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है।[17]

स्थितप्रज्ञता का यह महान आदर्श विश्वबन्धुत्व का मूल आदर्श है। इसे पा लेने पर कौन किससे घृणा करेगा? स्थितप्रज्ञ जो आत्मस्थ है, वह "सर्वभूतानाम् अद्वेष्टा" है। वह किसी से घृणा नहीं करता है–" न विजुगुप्सते"। वह अपने चित्त को दूसरी ओर नहीं जाने देता है अर्थात् सांसारिक भोगों से अपने को पृथक् कर लेता है। निरन्तर परमेश्वर के ध्यान का अभ्यासी होकर परम प्रकाशरूप दिव्य परमसत् को पा जाता है।[18]

सोरेन कीर्कगार्ड के लिए यह स्थिति अस्तित्व की गहराई में आसीन परमेश्वर के सान्निध्य की है। कीर्कगार्ड परमेश्वर को अस्तित्वगत मानता है। परमेश्वर आत्मनिष्ठ है। वह अस्तित्व के भीतर स्वयं-प्रकाश स्वरूप है। जिसे अस्तित्व-बोध हो चुका है, निश्चय ही वह परमेश्वरीय शक्ति से मण्डित आत्मनिष्ठ व्यक्ति है। अस्तित्व से परे कहां कौन परमेश्वर है? परमात्मा की प्राप्ति के लिए अस्तित्व को छोड़कर दूसरा मार्ग नहीं।[20] अस्तित्व-गत-परमेश्वर की अनुभूति समाधि से ही संभव है, श्रद्धा और विश्वास इसके लिए आवश्यक हैं। तर्क इस कार्य में अनुपयोगी है।

स्थितप्रज्ञ के अन्तःकरण में अद्‌भुत कान्ति और ओज रहता है। परमात्मा जो अस्तित्वगत है अज्ञान-जनित अन्धकार को प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूपी दीपक के द्वारा नष्ट कर देता है।[21] गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय भक्त का लक्षण बतलाया है। मेरे विचार से स्थितप्रज्ञ योगी में इन लक्षणों का होना अत्यावश्यक है। इनमें से एक भी लक्षण का अभाव स्थितप्रज्ञता के मार्ग में बाधक बन सकता है। भगवान् को वही भक्त प्रिय होगा जिसमें सभी प्राणियों के लिए अद्वेष-भाव हो। जो मैत्र-करुण, निर्मल, निरहंकार, समदुःखीसुखी और क्षमावान् हो, जो निरन्तर सन्तुष्ट, यतात्मा तथा दृढनिश्चयी हो, जिसने मन और बुद्धि को प्रभुसमर्पित कर दिया हो, जो न तो किसी के उद्वेग का कारण हो और न ही उद्वेगवाला हो, जो हर्ष, अमर्ष, भय इत्यादि से रहित हो, जो अनपेक्ष, शुचि, दक्ष, उदासीन, गतव्यथ, सर्वारम्भ–परित्यागी हो, जो न हर्षित हो और न द्वेष करता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हों, जो शोक नहीं करता हो, जो शत्रु-मित्र, मानापमान, शीतोष्ण सुख इत्यादि में समभाववाला तथा आसक्ति रहित है, जो निन्दा-स्तुति को समान समझता हो, मनन-शील, सन्तुष्ट, अनिकेत और स्थिर मति हो ....वही भगवान श्रीकृष्ण जी को प्रिय है।[२२]

गीता में स्थितप्रज्ञता की अवधारणा को स्पष्ट करनें के बाद निबन्ध की दृष्टि से यह आवश्यक है कि अस्तित्ववादी दार्शनिक सोरेन कीर्कगार्ड द्वारा प्रतिपादित आत्मनिष्ठता की अवधारणा को स्पष्ट किया जाय।

सोरेन कीर्कगार्ड द्वारा प्रतिपादित 'आत्मनिष्ठता' की अवधारणा

कूपन हेगन (डेनमार्क) के एक महान् अस्तित्ववादी दार्शनिक श्री सोरेन कीर्कगार्ड ने अपने दर्शन में आत्मनिष्ठ चिन्तन पर अधिक जोर दिया है। उन्होंने आत्मनिष्ठता पर गम्भीर दृष्टि से विचार किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित आत्मनिष्ठ व्यक्ति और गीतोक्त स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी में अत्यधिक साम्य देखने को मिलता है। कीर्कगार्ड के विचार से मानव-अस्तित्व को समझने में वस्तुनिष्ठ चिन्तन नितान्त असमर्थ है। आत्मनिष्ठ चिन्तन में ही अस्तित्व की असन्दिग्ध अनुभूति है। आत्मनिष्ठ चिन्तक अपने अस्तित्व के प्रति उपेक्षा-भाव नहीं रखता है। वस्तुनिष्ठ या वैज्ञानिक चिन्तक बाह्यघटना–जाल में अपने को पूर्णतः तटस्थ या उदासीन रखता है। वह मात्र द्रष्टा होता है। कीर्कगार्ड मानव-अस्तित्व के लिए इसे अनिष्टकर बतलाता है। उसने हीगलीय दर्शन में मानव अस्तित्व को पूर्णतः उपेक्षित देखा था। इसीलिए उसके विरोध में उसने एक दार्शनिक क्रान्ति खड़ी कर दी थी। कीर्कगार्ड आत्म-पाती चिन्तन पर जोर देता है। आत्मपाती या आत्मनिष्ठ चिन्तन आत्मसत्तात्मक चिन्तन है। यह आत्मबोध है। कीर्कगार्ड महान दार्शनिक सुकरात के दर्शन-मंत्र 'अपने को जानो' का हार्दिक सम्मान करता है। 'अपने-को-जानना' ही अस्तित्व को जानना है। उसका दृढ विश्वास है कि मानव-अस्तित्व की सार्थकता आत्मनिष्ठा में ही है। मानव-अस्तित्व के लिए आत्मनिष्ठता ही श्रेयस्कर है। कीर्कगार्ड का कहना है कि जो अपने को जानने में असमर्थ है, वह आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता। आत्मनिष्ठ व्यक्ति आभ्यन्तराभिमुख व्यक्ति है। कीर्कगार्ड का लक्ष्य आभ्यन्तरता है।[२३] जीवन जीने में आत्मनिष्ठता अनुपयोगी है। जो आनन्द आत्मनिष्ठता में है, वह अनुभूति-गम्य है। इसमें व्यक्ति की अपनी एकान्तता है। आत्मनिष्ठ व्यक्ति वस्तुनिष्ठ या वैषयिक चिन्तन को अनुपयोगी समझता है।[२४]

कीर्कगार्ड के मत में आत्मनिष्ठ व्यक्ति धार्मिक व्यक्ति है। धार्मिक व्यक्ति अपने अस्तित्व की गहराई में निहित परमेश्वर का प्रेमी भक्त है। प्रेम, श्रद्धा एवं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भक्ति आत्मनिष्ठता के गुण हैं। वस्तुनिष्ठ तर्कणा से इसे समझा नहीं जा सकता है। प्रेम में गोपी-भाव है। प्रेमी अपने प्रेम का प्रदर्शन नहीं चाहता। वह अपने अन्दर उसकी अनुभूति करता रहता है। वह उसे छिपाये रखता है। परमेश्वर गुप्त में है। उसके प्रति प्रेम भी गुप्त होना चाहिए। प्रेम आत्मनिष्ठता के ज्वार से उभरता है। इसे आत्माभिमुख होकर ही समझा जा सकता है। अपने में स्थिर होकर तथा अपनी प्रज्ञा को अपने में ही स्थिर करके अर्थात् स्थितप्रज्ञ होकर अन्तःस्थ शक्तियों को जागृत करने के लिए धार्मिकता और प्रेम परमावश्यक हैं।[२५]

कीर्कगार्ड द्वारा प्रतिपादित आत्मनिष्ठता की अवधारणा को पल्लवग्राही (डैबलिंग) मति अथवा अस्थितप्रज्ञा (चंचल मति) वाले लोग समझ सकने में असमर्थ हैं। उसने प्रज्ञा को स्थिर करने के लिए आत्मनिष्ठता का वरण किया। आत्मनिष्ठता के वरण में उसने अपनी सामयिक मिथ्याभिमानी, प्रदर्शनात्मक तथा वैज्ञानिक तर्कणाप्रधान जर्मन सभ्यता की कटु आलोचना की। कीर्कगार्ड का विचार है कि सारमूलक परिकल्पनाधृत प्रत्ययवादी दर्शन आत्म-विमुख कर देता है। हीगल के दर्शन में यही दोष है। इस दोष को आत्मनिष्ठ चिन्तन विधि से ही दूर किया जा सकता है। आत्मनिष्ठता एक ऐसे कार्य की ओर संकेत करती है जो वस्तुनिष्ठ प्रत्यय से परे है और मनुष्य की अन्तःस्थ मूल प्रकृति को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। ईदृग्विध कार्य ही विश्वास है। यह प्रातिभज्ञानोपेत विश्वास आत्मा की गहराई से उद्भूत होता है। जो किसी भी वस्तुनिष्ठ विषयीकरण (आब्जेक्टीवेशन) से परे है।[२६] कीर्कगार्ड आत्मनिष्ठ दार्शनिक है। वह एक रुग्ण परीक्षक की भांति एक व्यक्तिगत साक्षी की भांति अनुभूत सत्य को प्रस्तुत करता है न कि एक डॉक्टर के समान द्रष्टा बनकर। वह जिस सत्य को प्रस्तुत करता है वह अस्तित्वात्मक सत्य (एक्जिस्टेन्सियल ट्रुथ) है, उसके लिए ही उसका जीवन और मरण है। जिसमें वह जीता है उसी को प्रस्तुत करता है।[२७] जो उसका आचरण है वही उसका ज्ञान है। आत्मनिष्ठ व्यक्ति गीतोक्त "दक्ष" कुशल व्यक्ति है। दक्ष वही है जो अस्तित्व के प्रति सजग है। परम सत् से युक्त होने के कारण ही उसे गीता 'युक्त' कहती है। कीर्कगार्ड की शब्दावली में वही आत्मनिष्ठ है।

कीर्कगार्ड के विचार से आत्मनिष्ठ व्यक्ति को ही परमेश्वर की अनुभूति हो सकती है। वही धार्मिक अस्तित्व-धारी है। आत्मनिष्ठ व्यक्ति अपने अस्तित्व के भीतर विश्वास की आँखों से ईश्वर का दर्शन करता है। विश्वास की आँखों के लिए अवतार की सच्चाई आरक्षित (रिजर्वड) है।[२८] जीवन की अर्थवत्ता इसी में है कि ईश्वर को जाना जाय और उसके प्रेम में हुआ जाय।[२९] ईश्वर का प्रेम अपने अस्तित्व से प्रेम है। ईश्वर को जानना अपने को जानना है। आत्मनिष्ठता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही इस कार्य में सहायता कर सकती है। आत्मनिष्ठ या स्थितप्रज्ञ व्यक्ति ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव रखता है। कीर्कगार्ड के विचार से पूर्ण समर्पण में विश्वास की छलाँग (लीप) है। अब्राहम के विश्वास के साथ ही उसका पूर्ण समर्पण-भाव है। अपने प्रिय पुत्र इसाक के बलिदान में अब्राहम ईश्वर के प्रतिसमर्पित है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त से पूर्ण समर्पण चाहते हैं।..." मय्यर्पित मनोबुद्धि-र्योमद्भक्तः स मे प्रियः" गीता में अनेक स्थलों पर ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण का आदेश है। ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण तभी हो सकता है जब आत्मनिष्ठता हो। आत्मनिष्ठता का प्रथम सोपान सत्तात्मक संताप (एक्जिस्टेन्सियल ऐंग्विश) है। यह ईश्वरानुभूति में सहायक है। गीता अर्जुन-विषाद से ही प्रारम्भ होती है।

कीर्कगार्ड का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति जिसने इस सत्तात्मक नैराश्य के कटुपन (बिटरनेस) का स्वाद नहीं चखा, उसने जीवन की सार्थकता खो दी, चाहे उसका जीवन कितना ही सुन्दर और आल्हादकारक ही क्यों न रहा हो।[३०]

तुलनात्मक पर्यालोचन

जहाँ तक गीतोक्त स्थितप्रज्ञता का आशय दृढ़ निश्चयात्मकता और अस्तित्वात्मक आभ्यन्तरत्ता का है, कीर्कगार्ड की आत्मनिष्ठता की अवधारणा समानता लिए हुए है, किन्तु स्थितप्रज्ञता बहुत विराट अर्थ में सर्वभूतहित भाव से सम्बद्ध है, जबकि आत्मनिष्ठता मात्र मानव-अस्तित्व की आभ्यन्तरता तक ही सीमित है। गीता का 'स्थितप्रज्ञ' कीर्कगार्ड का 'आत्मनिष्ठ' नहीं हो सकता है। एक में असीम की छलांग तो दूसरे में ससीम की अन्तर्वेदना। एक समस्त जीव-जगत् का मित्र और अद्वेष्टा है तो दूसरा मात्र मानव-अस्तित्व का ही रक्षक और प्रहरी है। स्थितप्रज्ञता में सार का प्राधान्य है। सार आत्मा ही है। आत्मा अजर, अमर, नित्य, शाश्वत एवं पुराण है। शरीर तो नाशवान् है। शरीर आत्मा का घर है। यह मरता-मिटता रहता है किन्तु देही (आत्मा) का विनाश नहीं होता है।[३१]

अस्तित्ववादी दार्शनिक सोरेन कीर्कगार्ड गीता के सारमूलक दर्शन की गहराई तक पहुँचने में असमर्थ है। वह मानव-अस्तित्व अर्थात् हाड़-मांस के देह तक ही विचार करता है। वह यह भी मानता है कि इसी अस्तित्व की गहराई में ईश्वर का निवास है। किन्तु ईश्वर और मनुष्य दोनों के बीच अलंघ्य खाई (अन्ब्रिजेबुल गल्फ) देखकर वह भय-भीत हो जाता है। कीर्कगार्ड मनुष्य को वास्तविक मनुष्य, अर्ह मनुष्य बनाना चाहता है। वह देवता बनने का नाटक बन्द करने को कहता है। उसे सारवादी आदर्श-मूलक प्रत्ययवाद से घृणा है। हीगलीय दर्शन अथवा पारम्परिक पाश्चात्य दर्शन में सार को ही परम प्रधान माना गया है। प्लेटो का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विज्ञान-जगत् सार-जगत् है। यह संसार उसी की प्रतिकृति मात्र है। सोरेन कीर्कगार्ड यह नहीं मानता है। उसका विचार है कि बड़ी ऊँची-ऊँची बातें करने से कोई लाभ नहीं है, लाभ तो उन्हें आचरण-गत करने में ही है। कीर्कगार्ड अपने समय के ईसाइयों की कटु आलोचना करता है। वह उन्हें ईसाई बनने के लिये चेतावनी देता है।

मेरे विचार से कीर्कगार्ड सार-सिद्धान्त की उपेक्षा करता है। 'सार सिद्धान्त की उपेक्षा और अस्तित्व को आदर' सभी अस्तित्ववादी दार्शनिकों को प्रिय है। अस्तित्ववाद का मूल मन्त्र है : "अस्तित्व सार से पहले है"। गीता सार को सर्वप्रथम और प्रधान स्थान देती है जबकि अस्तित्व को गौण स्थान देती है। कैसे गीता और कीर्कगार्ड की मान्यताओं में समरूपता का दर्शन किया जा सकता है? वे विरोधी दो ध्रुव हैं। उन्हें खींच-तानकर मिलाने में बड़ा परिश्रम है। यदि अस्तित्व और सार के विभेद को कुछ काल के लिए विस्मृत कर दिया जाय तो गीता के स्थितप्रज्ञ तथा कीर्कगार्ड के आत्मनिष्ठ व्यक्ति में समझौता कराया जा सकता है। इस कार्य में महान् दार्शनिकता है।

जहाँ तक गीतोक्त स्थितप्रज्ञ के लक्षण की बात है, आत्मनिष्ठ व्यक्ति में इसे ढूंढ़ा जा सकता है। ईश्वर के प्रतिपूर्ण समर्पण-भाव दोनों को इष्ट है। श्रद्धा और विश्वास दोनों के लिए आवश्यक शर्त है।

अस्तित्व की आभ्यन्तरता में दोनों की निष्ठा है। दोनों आत्मस्थ हैं। दोनों अन्तरानुभूति में विश्वासी हैं। तर्क से दोनों को चिढ़ है। ईश्वर के लिए दोनों सर्मपित हैं। दोनों की कथनी और करनी में एकरूपता है। दोनों सापेक्षवाद के समर्थक हैं। दोनों आत्मिकरूप से सन्तुष्ट हैं। दोनों अन्तराराम तथा अन्तर्ज्योति हैं। दोनों अस्तित्व बोध के अधिकारी है। दोनों कर्म-योगी हैं। वे कर्म में अधिकार मानकर चलते हैं, किन्तु फल-प्राप्ति की चिन्ता दोनों को ही नहीं है। अब्राहम और इसाक की कथा कर्म के अधिकार और फल में आधिकार की बात को पुष्ट करती है।

स्थितप्रज्ञ भोग से वैराग्य[३२] की ओर अतिक्रमण करता है। कीर्कगार्ड का आत्मनिष्ठ व्यक्ति भी इसी प्रक्रिया में है। सौन्दर्यात्मक स्तर से धार्मिक स्तर तक छलाँग मारकर वह पहुँच जाता है। गीतोक्त स्थितप्रज्ञ शनैः-शनैः अभ्यास और वैराग्य से पहुँचतता है। कर्म-बन्ध से मुक्ति दोनों को प्रिय है। किन्तु जितना चयन-स्वातन्त्र्य आत्मनिष्ठ व्यक्ति को है, स्थितप्रज्ञ को नहीं। मेरे विचार से जितना गन्ध निरपेक्षता का स्थितप्रज्ञता में है, कीर्कगार्ड अपने आत्मनिष्ठ व्यक्ति को इससे बचाता है। कीर्कगार्ड निरपेक्ष स्थिति का विरोधी है। स्थितप्रज्ञ में निरपेक्षता का गन्ध है, जो कीर्कगार्ड के आत्मनिष्ठ व्यक्ति से उसे पृथक् कर देता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

गीता और कीर्कगार्ड के दर्शन में सार और अस्तित्व का संघर्ष है। निःसन्देह इसका प्रभाव उनकी मान्यताओं पर पड़ेगा ही। गीता भारतीय संस्कृति व भारतीय दर्शनरूपी धेनु का दुग्ध है। वह दर्शन-सार है। उसकी मान्यता अति प्राचीन है। कीर्कगार्ड १९ वीं शताब्दी का अस्तित्व-समर्थक और सार को अस्तित्वाधीन मानने वाला दार्शनिक है। पाश्चात्य पारम्पारिक दर्शन में उसने सार की ही प्रभुता देखी, जिससे मानव-अस्तित्व जर्जरित होता जा रहा था। समुद्र में एक बूंद के समान मानव-अस्तित्व पूर्णतः उपेक्षित हो चुका था। उसने इस मान्यता का डटकर विरोध किया और अस्तित्व को सार का पूर्ववती बताकर अस्तित्व का हित-चिन्तन किया। आत्मनिष्ठता की अवधारणा में यही अस्तित्वात्मक मान्यता है। यदि सार अस्तित्व का कल्याण न कर सके तो क्या लाभ उससे ? सार तो मानव-निर्मित है, वे परिवर्तनीय हैं। गीता सारवादिनी पारम्पारिक दर्शन-मूला मान्यताओं से पूरित है। इसमें अस्तित्व अर्थात् शरीर की गणना नहीं, शरीरी अर्थात आत्मा की गणना है।

गीता एवं कीर्कगार्ड के दर्शन में स्थितप्रज्ञता एवं आत्मनिष्ठता की अवधारणाओं की तुलना करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि गीता का 'स्थितप्रज्ञ' पुरुष सार अर्थात् आत्मा को ही मुख्य मानता है जबकि कीर्कगार्ड का 'आत्मनिष्ठ' व्यक्ति अस्तित्व अर्थात् शरीर को ही परम प्रधान मानता है। दोनों के दो रास्ते हैं। वे पृथक्-पृथक् उन्हीं पर चलते हैं। एक सार-समर्थक है तो दूसरा अस्तित्व-समर्थक। एक सूक्ष्म है तो दूसरा स्थूल। एक ईश्वर को बाहर और भीतर-सर्वत्र, कण-कण में, समस्त स्थावर और जंगमों में देखा करता है तो दूसरा ईश्वर को अपने अस्तित्व (देह) की गहराई में गुप्त रूप में असीम देखता है। एक ईश्वर की कृपा से उद्धार पाता है तो दूसरा अपने ही स्वातन्त्र्य और दायित्व से उद्धरित होना चाहता है।

समाहार में यह कहा जा सकता है कि स्थितप्रज्ञता और आत्मनिष्ठता दोनों वस्तुनिष्ठता से परे की स्थिति हैं। दोनों अन्तर्मुखी दशाएँ हैं। बाहर से भीतर की ओर दो गतियाँ हैं। दोनों को दो दृष्टियों से समझना चाहिए। हां, कुछ साम्याधार पर और कुछ वैषम्याधार पर विवेचनीय हैं। तुलनात्मक दर्शन का यही कार्य है।

•

अस्तित्व–भवन
६७६ सी, सिविल लाइन,
बस्ती, उ. प्र.

—रामदास पाण्डेय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियां

१. मनुस्मृति
२. गीता २ : ५४
३. गीता २ : ५८
४. वही २ : ५६, २ : ५७ द्रष्टव्य।
५. वही २ : ६४
६. वही २ : ६८
७. वही २ : ६३
८. वही २ : ७१
९. वही २ : ७२
१०. वही ३ : ६
११. सोरेन कीर्कगार्ड; आन अथारिटी एण्ड रिवीलेशन, अँग्रेजी अनु. वाल्टर लारी (हार्पर टार्च बुक्स, दी क्लाइस्टर लाइब्रेरी, न्यूयार्क) संस्करण १९६६, पृष्ठ १४७ द्रष्टव्य।
१२. गीता ३ : ७
१३. गीता ५ : १०
१४. गीता ५ : २४
१५. गीता ६ : ७
१६. गीता ६ : ८
१७. गीता ६ : २९
१८. ईशोपनिषद्–मन्त्र, ६
१९. गीता ८ : ८
२०. श्वेताश्वतरोपनिषद् ३ : ८
२१. गीता १० : ११
२२. गीता १२ : १३, १४, १५, १६, १७, १८, एवं १९ श्लोक।
२३. पाल रूविचेक; अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष, हिं. अनु. डा पी. माचवे, (मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी-भोपाल), सं. १९७३, पृष्ठ १०२-१०३ देखें।
२४. डी. जे. ओ, कॉनर द्वारा सम्पादित ग्रन्थ– ए क्रिटिकल हिस्ट्री आफ वेस्टर्न फिलॉस्फी, संस्करण– १९६४ में एलास्डेयर मैकिन्टायर का लेख," एग्जिस्टेन्सियलिज्म पृष्ठ ५१० द्रष्टव्य।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

२५. सोरेन कीर्कगार्ड; आन एथारिटी एण्ड रिवीलेशन, पृष्ठ १५५ तथा १६८ से सहायता लें।
२६. लुइस डूपरे; कीर्कगार्ड ऐज थिआलॉजियन (शीड एण्ड वार्ड, लि. ३३ मेडन लेन, लन्दन, डब्ल्यू. सी.–२) सं. १९६३, पृष्ठ १४३.
२७. जेम्स कालिन्स; दी माइण्ड आफ कीर्कगार्ड, १९६७ (शिकागो) पृष्ठ–१९, पृष्ठ २६ सहायतार्थ अवलोकनीय।
२८. वही, पृष्ठ १४७–१४८.
२९. सोरेन कीर्कगार्ड; दी आर, अँग्रेजी अनु., वाल्टर लॉरी (ऐंकर बुक्स डबुल डे एण्ड कं. न्यूयार्क, सं. १८५९, पृष्ठ २५४.
३०. सोरेन कीर्कगार्ड, आइदर–आर, भाग–२, पृष्ठ १७५ (स्वेन्सन एण्ड स्वेन्सन), प्रिन्सटन युनिवर्सिटी प्रेस, (सं. १९४६)
३१. गीता २ : १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५ तथा ३० श्लोक द्रष्टव्य।
३२. गीता २ : ५२

०००

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पातञ्जलयोग में ईश्वर प्रणिधान–उसका स्वरूप और स्थान

योग-साधना चिरकाल से विश्व के अनन्त कष्टों के निवारक उपाय के रूप में स्वीकृत रही है। योग-साधना की कितनी विधियाँ प्रचलित रही हैं यह कह सकना न तो संम्भव है और न प्रासङ्गिक ही, किन्तु योग-साधना की विविध विधियों अथवा परम्पराओं में महर्षि पतञ्जलि प्रदर्शित विधि को सर्वाधिक प्रतिष्ठित अथवा प्रामाणिक माना जाता है इसे स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी ऐसा मेरा विश्वास है। प्रस्तुत निवन्ध में पतञ्जलि प्रणीत योग सूत्र में प्राप्त योग परम्परा में ईश्वर प्रणिधान का क्या स्वरूप है और उसमें उसका क्या स्थान है इसकी चर्चा की जा रही है।

पतञ्जलि के सूत्रों में ईश्वर-प्रणिधान का अनेक प्रसङ्गों में प्रयोग देखा जाता है। समाधिपाद में उन्होंने चित्तवृत्ति के निरोध के उपायों में अन्यतम उपाय के रूप में ईश्वर प्रणिधान का उल्लेख किया है।[१] जवकि एक अन्य स्थल पर वे योग के आठ अंगों में अन्यतम नियमों में से एक नियम के रूप में ईश्वर प्रणिधान का उल्लेख करते हैं।[२] इन दोनों उल्लेखों को देखकर यह सन्देह होता है कि पतञ्जलि के अनुसार ईश्वर प्रणिधान योग अर्थात् चितवृत्तियों के निरोध का एक स्वतन्त्र प्रशस्त मार्ग है, अथवा उसके अनुसार ही योग के अन्य अंग नियम का उप-अंग है। यह प्रश्न तब और उलझ जाता है, जव वे एक अन्य स्थल पर उसे ही क्रिया योग के रूप में स्वीकार करते हैं।[3] इसके अतिरिक्त जब वे 'समाधिसिद्धिः ईश्वर प्रणिधानात्'[४] कहकर ईश्वर प्रणिधान को समाधिसिद्धि का उपाय घोषित करते हैं, तब यह उलझन और बढ़ जाती है। क्योंकि उनके अनुसार समाधि स्वयं योग आठ अंगों में अन्तिम अंग है, तथा वह सविंकल्प, निर्विकल्प, सविचारा, निर्विचारा, सानन्दा, निरानन्दा, सस्मिता आदि, अनेक प्रकार की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञान आदि भेदों से युक्त है। इस स्थिति में किसी स्पष्ट निर्देश के अभाव में यदि ईश्वर प्रणिधान को समाधि के प्रथम प्रकार सविकल्प का कारण मान लिया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाए तो वह सम्प्रज्ञात अथवा निर्बीज समाधि से बहुत कनिष्ठ सिद्ध होने लगेगी और उस स्थिति में वह साक्षात् योग का, चित्तवृति के निरोध का उपाय कैसे स्वीकार किया जा सकेगा। व्यास एवं विज्ञान भिक्षु आदि आचार्यों ने इस समस्या का समाधान ईश्वर प्रणिधान के रूप में अन्तर मानकर किया है।[५] उनकी मान्यता है कि योग के अन्यतम उपाय के रूप में वर्णित ईश्वर प्रणिधान परमात्मप्रज्ञा रूप है। परमात्मप्रज्ञा भक्ति का प्रकार-विशेष है जिसमें साधक की प्रज्ञा में परमात्मा-विषयक प्रेम का उदय रहता है, जिसके फलस्वरूप उसे (साधक को) ईश्वर की कृपा का लाभ हो जाता है, और उस कृपा के कारण ध्यान मात्रा से साधक (ध्यान करनेवाले) को समाधि और मोक्ष दोनों की प्राप्ति उपायान्तर के बिना ही हो जाती है। यह भक्ति-विशेष मानसिक, वाचिक, कायिक रूप से तीन प्रकार की अथवा अभिध्यान अर्थात् तीव्रइच्छा-रूप एक अद्वितीय प्रकार की हो सकती है।[६] क्रियायोग अथवा योगाङ्ग के रूप में वर्णित ईश्वर प्रणिधान इससे भिन्न है जिसमें साधक अपनी समस्त क्रियाओं को अथवा उसके परिणामस्वरूप प्राप्तव्य भोगों को ईश्वर को समर्पित कर देता है।[७]

इन आचार्यों के अनुसार पूर्वोक्त परमात्म-प्रज्ञारूप ईश्वर प्रणिधान क्रिया-योग अथवा योगाङ्ग की सीमा से बाहर नहीं है किंतु वह यहाँ स्वाध्याय पद से विवक्षित है।[८]

इस प्रसंग में विचारणीय है कि पतञ्जलि प्रणीत इन योग सूत्रों में, जिनकी कुल संख्या १९५ है, ईश्वर प्रणिधान पद का केवल चार बार प्रयोग करते हुए क्या पतञ्जलि को इतना ध्यान नहीं रहा कि वे इस पद का केवल सत्ताइस सूत्रों के अन्तर पर सर्वथा भिन्न अर्थ में प्रयोग कर बैठे, अथवा परमात्मचिन्तन (परमात्मप्रज्ञा) के लिए पतञ्जलि को कोई शब्द ही नहीं मिल सका और वे शब्द-दारिद्र्य के कारण स्वाध्याय अर्थ के लिए ईश्वर प्रणिधान पद का प्रारम्भ में प्रयोग करते हैं, और दूसरे पाद में उचित शब्द का बोध हो जाने पर वे उसके लिए स्वाध्याय पद का एकाधिक बार प्रयोग करते हैं, और उस पद का भी स्वाध्याय पद के साथ ही उसके वास्तविक अर्थ में प्रयोग करने लगे। साथ ही उन्हें इतना अवसर भी नहीं मिला कि वे १९५ सूत्रों में निबद्ध अपने शास्त्र में समुचित पद-प्रयोग पर विचार कर सुधार भी कर लेते।

इस प्रसंग में मेरी मान्यता अथवा मेरा सुझाव है कि ईश्वर प्रणिधान पद के सभी प्रयोगों में भिन्न अर्थों के करने की आवश्यकता नहीं है, सभी स्थलों पर इस पद का अर्थ परमात्मप्रज्ञा अर्थात् ईश्वर-चिन्तन ही मानना चाहिए, प्रणव जाप अथवा प्रणव अर्थ की भावना उसकी क्रिया अथवा बौद्धिक स्थिति है, समस्त लौकिक और वैदिक क्रियाओं का अथवा कर्मफलों का ईश्वर को समर्पण उसका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सहज फल अथवा ईश्वर-चिंतन के साथ लोक में स्थिति के समय की एक गौण क्रिया है, दूसरे शब्दों में ईश्वर-चिंतन की क्रिया उसका बोध और सहजफल तीनों ही ईश्वर प्रणिधान की विशेष स्थितियाँ हैं, अतः उन्हे ईश्वर प्रणिधान ही मानना चाहिए। स्वाध्याय पद का अर्थ मोक्षशास्त्र का अध्ययन ही लेना चाहिए ईश्वर-चिन्तन नहीं।

जहाँ तक ईश्वर प्रणिधान को योग के अन्यतम साधन और योग के अन्यतम अंग के उपांगके रूप में परिगणन के कारण विरोध प्रतीति का प्रश्न है, उसका समाधान प्रथम पाद में समकालीन प्रचलित सम्प्रदायों का संकेत मानने से सहज हो जाएगा। तात्पर्य यह है कि पतञ्जलि ने प्रथम पाद में चित्तवृत्ति के निरोध के जिन उपायों का उल्लेख वा पद का प्रयोग करते हुए किया है, वे सभी मत पतञ्जलि के अपने पक्ष नहीं हैं। उनका पक्ष केवल अभ्यास वैराग्य से चित्तवृत्ति का निरोध होता है केवल यही है, जो साधनपाद से कैवल्यपाद के अन्त तक समानरूप से स्वीकृत है। योगांग का निर्देश क्रमिक अभ्यास का निर्देश है, वैराग्य सर्वत्र उनमें अनुस्यूत है और यह वैराग्य असम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास तक समान रूप से चलता है, और इसलिए वे कैवल्य के लिए सत्व पुरुषान्यताख्याति के प्रति भी वैराग्य आवश्यक मानते हैं[९]। ईश्वर केवल प्रणिधान मात्र से चित्तवृत्ति निरोध रूप भक्तियोग का पक्ष उनका न होने पर भी अन्य पक्षों की अपेक्षा इसे वे कुछ वरीयता भले ही दे सकते हैं, इसीलिए उन्होंने इसे द्वितीय क्रम में रखा है और इसका कुछ परिचय भी दिया है, प्रच्छर्दन विधारणरूप प्राणायाम, विषयवती प्रवृत्ति, विशोका प्रवृति, केवल वैराग्य, स्वप्न-निद्रा-अथवा ज्ञान के आलम्बन अथवा यथाभिमत ध्यान के पदों की भांति इसे अन्यालपात नहीं छोड़ा है। ये सभी पक्ष पतञ्जलि के समय योगपरम्परा के रूप में स्वीकृत रहे हैं, योग सूत्र में उन्होंने इस सभी का संकेतमात्र किया है। क्योंकि योग साधना का दर्शन है अतः इसमें उन्होंने खण्डन मण्डन की सर्वथा उपेक्षा की है। इन विविध परम्पराओं में उन्हें जो जितने रूप में ग्राह्य था उतना उन्होंने निस्संकोच ग्रहण कर लिया हे। उदाहरणार्थ ईश्वर प्रणिधान के अतिरिक्त उन्होंने प्राणायाम को भी यथोचित मान्यता दी है। प्राणायाम को चित्तवृत्ति के निरोध के उपाय रूप में भी अनेक योग विषयक उपनिषदों में तथा वर्तमान कालतक कुछ योग सम्प्रदायों में स्वीकार किया जाता है, किन्तु पतञ्जलि उसे केवल एक योगाङ्ग के रूप में ही मान्यता देते हैं। उनकी मान्यत है कि प्राणायाम से चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता अपितु प्रकाश के आवरण के नाश के साथ उसके द्वारा साधक को अन्तरंग प्रथम योगाङ्ग धारणा की योग्यता मात्र प्राप्त होती है। अन्तर इन्द्रिय मन आदि की कौन कहे वाह्य इन्द्रियों की वश्यता भी प्राणायाम से नहीं प्रत्याहार से प्राप्त होती है।[१०]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इनके अतिरिक्त शेष पांच पक्षों की प्रथम पाद में चर्चा करके भी वे सम्पूर्ण योग सूत्र में उनकी कहीं चर्चा तक नहीं करते। यदि वे सभी पक्ष पतञ्जलि को विकल्प के रूप में अभिमत होते तो वे इस प्रकार उनकी उपेक्षा न करते।

फलतः हम इस निकर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्य पक्षों की भाँति ईश्वर प्रणिधान का पक्ष भी पतञ्जलि का पक्ष नहीं है। हां इसे वे योग विरोधी न मानकर आंशिक रूप में उसे योग के लिए उपयोगी मानते हैं। इसीलिए वे इसे नियम नामक योगाङ्ग के प्रकार के रूप में स्वीकार करने के साथ ही दूसरे स्थल पर समाधि-सिद्धी के प्रति भी इसे कारण मानने में भी संकोच नहीं करते। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि पतञ्जलि प्रणायाम और प्रत्याहार से धारणा के प्रथम सोपान पर पग रखकर क्रमशः ध्यान और समाधि का मार्ग दिखाते हैं।[११] इसके साथ ही समाधि-भावना के प्रयोजन से न केवल ईश्वर प्रणिधान की अपितु तप और स्वाध्याय की भी करणीयता स्वीकार करते हैं।[१२] और इन तीनों को समाधि के कारण के रूप में एक समष्टि के रूप में स्वीकार करते हैं।

योग सूत्र के प्रायः सभी परम्परागत व्याख्याकारों का ध्यान प्रथम पद गत इस योग परम्पराओं के संकेत की संकेतता पर नहीं गया है। सम्भवतः इसी कारण पूर्व संकेतित परस्पर विरोध के समाधान के लिए उन्हें ईश्वर प्रणिधान पद के दो भिन्न अर्थ खोजने पड़े हैं। वस्तुतः यहां ईश्वर प्रणिधान का अर्थ प्रणवजाव और उसकी अर्थ-भावना ही मुख्य है। तथा सर्व कर्म समर्पण अथवा उनके फलों का समर्पण रूप अर्थ गौण एवं प्रासंगिक अर्थ है, मुख्य अर्थ नहीं।

—ब्रह्ममित्र अवस्थी

गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
मोतीलाल नेहरु पार्क इलाहाबाद (उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः १. १२। ईश्वर प्रणिधानाद्वा। २३। प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य। ३४। विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धिनी। ३५। विशोका वा ज्योतिष्मती। ३६। वीतराग विषयं वाचित्तम्। ३७। स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा। ३८। यथाभिमत ध्यानाद्वा। १. ३६। योगसूत्र।

२. तपः स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः। २. १.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३. योग सूत्र २. ४२—यमनियमआसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोष्टावङ्गानि । २. २८ । शौचसन्तोषतपःस्वध्याय ईश्वर प्रणिधानानि नियमाः । २. ३२) ।

४. योग सूत्र २. ४२

५. प्रणिधानमत्र न द्वितीय पाद वक्ष्यमाणं किन्त्वसम्प्रज्ञात कारणीभूत समाधिः भावनाविशेष एवं । तज्जपस्तदर्थभावजनमित्यागामिसूत्रेणैव आत्मप्रणिधानस्यात्र लक्षणीयत्वात् । - योगवार्तिक १. २३, पृ. ६३

६. प्रणिधानाद् भक्ति विशेषाद् मानसाद्वाचिकात्कायिकाद्वा . . . अभिध्यानम्-अनागतेऽर्थे इच्छा, इदमस्याभिमतमस्तु इति, तन्मात्रेण न व्यापारान्तरेण । तत्ववैशारदी १. २३ पृ. ६३ ।

७. (क) ईश्वर प्रणिधानं सर्वक्रियाणं परमगुरावर्पणं तत्फलसन्यासो वा । व्यासभाष्य २. ८१ ख) प्रथम पादोक्तप्रणिधानातदतिरिक्तमत्र प्रणिधानमाह–सर्वक्रियाणामिति । लौकिक वैदिकासाधारण्येनं सर्वकर्मणाम् परमेश्वरेऽन्तर्यामि न्यर्पणमित्यर्थ : । -योगवार्तिक २. १, पृ. १३६

८. स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । व्यासभाष्य वही २. १ ।

९. तद्वैराग्यादपि दोष बीज क्षये कैवल्यम् । ३. ५०

९. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । धारणासु च योग्यता मनसः । २. ५२.–५३

१०. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः । ततः परमावश्यता इन्द्रियाणाम् । २. ५४-५५

११. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । तत्र प्रत्येकतानताध्यानम् । तदेवार्थमात्रनिर्भासि स्वरूपशून्यमिव समाधिः । ३. १–३

१२. तपः स्वाध्यायेश्वरे प्रणिधानानि क्रियायोगः । समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च । २–१–२

० ० ०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाषाई-खेल और जीवन-चर्याएँ

उत्तर विट्गेंस्टाइन के दर्शन का प्रमुख आशय भाषा संबंधी उस प्रचलित मत का खण्डन करना है जिसके अनुसार "भाषा सदैव एक ही प्रकार से कार्य करती है और हमेशा एक ही प्रयोजन के लिए इस्तेमाल की जाती है : विचारों को संप्रेषित करने के लिए–ये विचार मकानों, पीड़ाओं, शुभ और अशुभ या आपकी इच्छानुसार अन्य किसी भी विषय के बारे में हो सकते हैं।"[1] यह सोचना कि शब्द उन विषयों से जिनके लिए उनका प्रयोग किया गया है किसी न किसी प्रकार से सह-सम्बन्धित हैं, गलत होगा। इस प्रकार के विचार में यह कल्पना निहित है कि भाषा का केवल एक ही विशेष उपयोग या नियोजन होता है, कि वह जगत् के बारे में बात करने के लिए इस्तेमाल की जाती है। वस्तुतः जगत् के बारे में ही नहीं बल्कि जगत् के अन्दर संचार-माध्यम के रूप में भी उसका प्रयोग किया जाता है। और इस भाँति के प्रयोग के, सन्दर्भ के अनुसार, अनेक प्रकार हो सकते हैं। भाषा एक मूर्त सामाजिक क्रिया है जो मानवी आवश्यकताओं और प्रयोजनों को अभिव्यक्ति देती है। "आज्ञा देना, प्रश्न करना, पुनर्गणना, बातचीत-हमारे स्वभावगत इतिहास के वैसे ही अङ्ग हैं जैसे चलना-फिरना, खाना-पीना, खेलना-कूदना, आदि।"[2] अतः भाषा को हम उस व्यापक मानवी सन्दर्भ, जिसमें कि वह स्थित है, से अलग करके नहीं देख सकते।

विभिन्न मानवी सन्दर्भों में भाषा के विविध मूर्त प्रयोगों विट्गेंस्टाइन ने "भाषाई-खेल" और उस व्यापक मानवी सन्दर्भ को जिससे अलग करके भाषा को देखा ही नहीं जा सकता, और जिसमें वह यथार्थतः स्थित है, "जीवन-चर्या" कहा है। विट्गेंस्टाइन ने इन दोनों ही मुहावरों का प्रयोग बहुत निश्चित और स्पष्ट अर्थों में नहीं किया है। अतः प्रस्तुत निबंध का आशय "भाषाई खेल" और "जीवन-चर्या" के अर्थ को समझना और इन दोनों के परस्पद सम्बन्ध को स्पष्ट करना है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि "भाषाई-खेल हमारी भाषा के किसी एक विशेष पक्ष का सरलीकृत मॉडल है।"[३] विट्गेंस्टाइन ने 'भाषाई-खेलों की बहुल्यता"[४] की बात की है और यह भी कहा है कि प्रतिदिन के भाषाई-खेलों की विशाल अनेकता के बारे में हम प्रायः अविज्ञ रहते हैं।[५] फिर भी उन्होंने भाषाई-खेलों की विविधता के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए एक लम्बी सूची तैयार की है–[६]

आज्ञा देना, और उसका पालन करना
किसी वस्तु की आकृति का वर्णन करना अथवा उसका नाप देना -
वर्णन के द्वारा किसी वस्तु की रचना करना (चित्रांकन)-
किसी घटना को प्रतिवेदित करना -
किसी घटना के बारे में अनुमान लगाना -
किसी प्राक्कल्पना का निर्माण और उसका परीक्षण करना–
किसी प्रयोग के परिणाम को तालिकाओं और आरेखों में प्रस्तुत करना–
कहानी गढ़ना और उसे पढ़ना –
नाटक में अभिनय करना–
नारे लगाना –
पहेली बुझाना–
लतीफा गढ़ना, उसे कहना–
व्यावहारिक गणित के किसी सवाल का हल ढूंढ़ना–
एक भाषा से दूसरी में अनुवाद करना–
पूछना, धन्यवाद देना, श्राप देना, अभिनन्दन करना, प्रार्थना करना–

इसके अतिरिक्त विट्गेंस्टाइनने अन्य तमाम भाषाई-खेलों का भी जगह जगह जिक्र किया है। स्वप्न का वर्णन करना[७] सम्वेदनाओं को अभिव्यक्त करना,[८] विगत इच्छाओं को प्रतिवेदित करना,[९] निर्णय की अभिव्यक्ति से भविष्य-कथन करना,[१०] निर्देशनात्मक परिभाषा देना,[११] 'मेरा मतलब था ..' और 'मैंने सोचा था...' के भाषाई-खेल।[१२] यहाँ तक कि विट्गेंस्टाइन ने झूठ बोलने को भी एक भाषाई-खेल कहा है जिसके लिए अन्य किसी दूसरे 'खेल' की तरह सीखने की आवश्यकता होती है।[१३] स्पष्ट ही भाषाई-खेलों की विविधता निश्चित नहीं है और इसकी कोई अटल सूची निर्मित नहीं की जा सकती। विट्गेंस्टाइन ने भाषाई-खेलों की कभी कोई स्पष्ट और केवल एक अर्थवाली परिभाषा प्रस्तुत नहीं की और शायद ऐसा किया भी नहीं जा सकता था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सभी भाषाई खेलों में मानवी कार्य, अर्थ और संप्रेषणीयता निहित होती है तथापि उनमें कोई एक, समान रूप से सभी में व्याप्त, विशेषता नहीं होती जिससे उन्हें परिभाषित किजा जा सके। जिस प्रकार अन्य खेलों में हम आड़ीतिरछी और परस्पर व्याप्त समानताओं–कभी व्यापक समानताएँ तो कभी पोरेबार समानताएँ–का एक जटिल जाल पाते हैं, [१४] उसी तरह भाषाई-खेलों का भी मानों एक जटिल जाल है। इस प्रकार की समानताओं के लिए विट्गेंस्टाइने "पारिवारिकसादृश्यता" कहा है। [१५] तात्पर्य यह है कि भाषाई-खेलों के बीच कोई सुस्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। हम उनके बीच केवल अपने प्रयोजन के अनुसार एक काम-चलाऊ सीमा निर्धारित कर सकते हैं। कारण स्पष्ट है। विभिन्न भाषाई-खेलों में प्रयुक्त होनेवाले शब्द प्राय: वही रहते हैं किन्तु भाषाई-खेलों के सन्दर्भ में उनके अर्थ बदल जाते हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि भाषाई-खेल एक अस्पष्ट संप्रत्यय है। किन्तु विट्गेंस्टाइन का मत है कि अस्पष्ट होने के बावजूद भी कई संप्रत्यय उपयोगी बने रहते हैं; बल्कि यहाँ तक कि कई बार उनकी सुस्पष्टता उनकी उपयोगिता में बाधक हो जाती है। क्या कभी कभी हम एक सुस्पष्ट तस्वीर की जगह एक धुँधली तस्वीर को वरीयता नहीं देते? क्या अपनी तर्जनी से किसी स्थान पर संकेत करते हुए यह कहना 'लगभग वहाँ खड़े हो जाइए' कोई अर्थ नहीं रखता? [१६] ऐसे उदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि कई जगह स्पष्ट परिभाषाएँ नहीं दी जा सकतीं किन्तु अपनी बात को उदाहरणों द्वारा समझाया अवश्य जा सकता है। बिट्गेंस्टाइन भाषाई-खेल के संप्रत्यय को भी उदाहरणों द्वारा प्रत्यक्षत: बताते हैं, [१७] उसकी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं करते।

खलों की ही भाँति सभी भाषाई-खेलों के भी मानो अपने-अपने नियम और अपनी-अपनी व्याकरण होती है। कोई भी भाषाई-खेल खेलते समय हम उसके नियमों के अनुसार ही 'चलते' हैं। नियम तोड़ना भाषाई-खेल में गलती करना है। इसी प्रकार किसी एक भाषाई-खेल के नियमों को दूसरे खेल में आरोपित करना, भाषाई-खेलों में घपला करना है। इस प्रकार का घपला अक्सर हो जाता है क्योंकि विभिन्न भाषा खेलों में उपयोग होनेवाले शब्द वे ही रहते हैं और उनकी सतही व्याकरण हमें धोके में डाल देती है। 'वर्णन' शब्द को ही लीजिए। किसी 'कमरे का वर्णन' करना और 'संवेदनाओं का वर्णन' करना दो अलग-अलग बातें हैं किन्तु दोनों ही प्रसंगों में 'वर्णन' शब्द का अर्थ हम कभी-कभी एक ही लगा बैठते हैं और कमरे में रखी वस्तुओं की तरह संवेदनाओं के विषय भी ढूंढने लगते हैं। यहाँ वर्णन करने की सतही व्याकरण हमें धोखा दे जाती है और हम 'कमरे के वर्णन' और 'संवेदनाओं के वर्णन' के दो भिन्न खेलों को समान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नियमों से खेलने लग जाते हैं जो स्पष्टतः गलत है। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि भाषाई-खेलों के नियम, स्वयं भाषाई-खेलों की ही भाँति, निश्चित और स्पष्ट नहीं होते। वे संकेत स्तम्भों की तरह काम करते हैं जो हमें केवल दिशा बताते हैं—वास्तविक रास्ता हमें स्वयं ही ढूंढना होता है।[१८]

नियम की अवधारणा के साथ 'गलत' और 'सही' की अवधारणाएँ भी जुड़ी हुई हैं। कोई भी भाषाई-खेल जब अपने नियमानुसार खेला जाता है तभी सही होता है। किन्तु वह नियमानुसार खेला गया है इसका निर्णय खेलनेवाला स्वयं अपनी मर्ज़ी से नहीं करता। वस्तुगत रूपसे इसकी जाँच ज़रूरी है। अतः नियमों का सार्वजनिक होना आवश्यक है। निजी-नियम नियम नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे इच्छानुसार, विना किसी वस्तुनिष्ठ जाँच के, कभी भी बदले जा सकते हैं। ऐसा भाषाई-खेल जिसकी उसके नियमानुसार सार्वजनिक और वस्तुनिष्ठ जाँच नहीं की जा सकती, वस्तुतः खेल कहा ही नहीं जा सकता। पीड़ा को एक आत्मनिष्ठ संवेदना मानना एक ऐसा ही छद्म-खेल है। यह अपनी एक निजी-भाषा हो सकती है, लेकिन इसे भाषाई-खेल नहीं कहा जा सकता[१९]

भाषाई-खेलों के अपने परिवार होते हैं।[२०] विट्गेंस्टाइन ने कम से कम तीन ऐसे परिवारों का जिक्र किया है। कुछ भाषाई-खेल ऐसे हैं जिन्हें उन्होंने 'आद्य भाषाई-खेल' कहा है।[२१] अपनी ब्लू एण्ड ब्राउन बुक्स में उन्होंने भाषाई-खेलों के संप्रत्यय को वस्तुतः केवल ऐसे ही खेलों तक सीमित रखा है। ये 'आद्य भाषाई-खेल' भाषा के वे प्रारम्भिक हिस्से हैं जिनका उपयोग प्रतिदिन की स्वाभाविक भाषा को सीखने में किया जाता है। भाषाई-खेलों का दूसरा परिवार प्रतिदिन की पूर्ण निर्मित भाषा में खेले गए भाषाई-खेलों का है। विट्गेंस्टाइन ने इस प्रकार के खेलों की एक लंबी सूची दी है। भाषाई-खेलों का तीसरा परिवार विभिन्न तकनीकी भाषाएँ और उनके अपने खेल हैं जिनका आविष्कार मनुष्य ने प्रतिदिन की भाषा के अतिरिक्त किया है और ये भाषाएँ प्रायः प्रतिदिन की भाषा का संक्रमण कर जाती हैं उससे परे और ऊपर रहती हैं।

भाषाई-खेल एक दूसरे से आच्छादित और परस्पर गुम्फित रहते हैं। केवल प्रयोजनानुसार ही उनकी सीमाएँ निर्धारित की जा जा सकती हैं। गणित को हम एक भाषाई-खेल कह सकते हैं किन्तु एक दूसरी दृष्टि से वह विज्ञान के भाषाई-खेल का एक भाग हो सकता है। इस प्रकार एक स्तर पर विज्ञान एक भाषाई-खेल है जिसके अंतर्गत भौतिकी, प्राणिकी, आदि, अनेक भाषाई-खेल सम्मिलित हैं; और इन अलग-अगल विशेष भाषाई-खेलों में अनेक सामान्य भाषाई-खेल—जैसे, प्रश्न पूछना; गणना करना, सिद्धान्त बनाना, आज्ञाएँ देना, उनका पालन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करना, प्राक्कल्पनाओं का परीक्षण करना आदि,—कभी एक दूसरे का समर्थन करते हुए, कभी-कभी विरोध करते हुए, समाविष्ट हैं। इन तमाम भाषाई-खेलों पर विज्ञान या किसी विज्ञान विशेष का एकाधिकार नहीं है। ये सभी प्रतिदिन के भाषाई-खेलों के परिवार के सदस्य हैं।

प्रतिदिन के भाषाई-खेल, इस प्रकार. बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनका न केवल हमारे रोजमर्रे के जीवन में प्रमुखस्थान है बल्कि ये वे अधिष्ठान हैं जिस पर अन्य (असाधारण भाषाएँ) आधारित हैं। विज्ञानादि की विशिष्ट भाषाएँ केवल साधारण भाषाओं के माध्यम से ही सीखी जाती हैं। साधारण भाषा और उसके खेल आधारभूत हैं।

भाषाई-खेलों को मूर्त सामाजिक कार्यों में गिना जा सकता है। प्रार्थना करना, गाली देना, गणना करना ऐसे ही सामाजिक कार्य हैं जैसे दान देना, मारना-पीटना, लेन-देन करना, आदि। यही कारण है कि किसी भी भाषाई-खेल को उसके सामाजिक सन्दर्भ में ही देखा जा सकता है। सामाजिक सन्दर्भ से स्वतन्त्र कोई भी भाषाई-खेल नहीं हो सकता। भाषाई-खेल में प्रयुक्त यदि हम किसी शब्द-संप्रत्यय को समझना चाहते हैं तो उस शब्द के प्रतिवेश में सम्पन्न होनेवाले मानवी–व्यवहार, क्रियाओं और स्वाभाविक अभिव्यक्तियों को समझना होगा। किसी भी शब्द का कोई भी ऐसा प्रयोग नहीं है जो सभी भाषाई-खेलों में एक समान लागू हो सके। एक ही शब्द विभिन्न भाषाई-खेलों में भिन्न भिन्न रूप से और भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है। अतः शब्दार्थ-वाक्यार्थ जानने के लिए हमें उन विशिष्ट परिस्थितियों का अवलोकन करना होगा जिनमें उसे इस्तेमाल किया गया है। और यही वह बिन्दु है जहाँ भाषाई-खेल जीवन-चर्या से जुड़ता है।

विट्गेंस्टाइन ने अपने लेखों-ग्रन्थों में 'जीवन-चर्या' के मुहावरे का प्रयोग 'भाषाई-खेल' की अपेक्षा काफी कम किया है। वस्तुतः यह मुहावरा **इन्वेस्टीगेशंस्** में केवल पांच बार आया है और अन्य स्थानों पर यदा-कदा ही इसको प्रयुक्त किया गया है। **इन्वेस्टीगेशंस्** से पूर्व 'जीवन-चर्या' की बजाय विट्गेंस्टाइन ने 'परिस्थितियों' और 'अवसरों' का प्रयोग किया है। देखिए—

ऐसा प्रतीत होता है कि परिस्थिति कोई भी क्यों न हो मुझे सदैव ही यह विदित रहता है कि अमुक शब्द का प्रयोग करना चाहिए या नहीं। सरसरी दृष्टि से ऐसा लगता है वह (शब्द) किसी विशेष खेल की एक चाल है किन्तु बाद में वह खेल से स्वतन्त्र हो जाता है।...कभी-कभी मानो हम कहने लगते हैं 'यह सब बकवास है, छड़ी की एक विशेष लंबाई होती है, हम उसे कैसे भी अभिव्यक्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्यों न करें।' लेकिन ज़रा सोचिए, यदि मैं सिर्फ इतना ही कहूं कि मुझे यह तो सदैव विदित ही रहता है कि छड़ी छोटी दीखती है या बड़ी, तो ! [२२]

इसी प्रकार विट्गेंस्टाइन ने किसी जन-जाति की भाषा समझने का उदाहरण प्रस्तुत किया है —

आपको (तब) पता चलेगा कि जिसे आप 'संशय' या 'विश्वास' की अभिव्यक्ति कहते हैं उसका औचित्य बहुत हद तक–निश्चित ही पूर्णतः नहीं चेष्टाओं के प्रदर्शन, मुखाभिव्यक्ति, यहाँ तक कि आवाज़ के उतार-चढ़ाव तक में निहित होता है। [२३]

अतः ऐसा लगता है कि इससे पहले कि हम किसी अन्य जनसमूह की भाषा समझ सकें, हमें चेष्टाओं, मुस्कराहटों, आदि को समझना होगा। बच्चों के बारे में तो हमें यह विदित ही है कि वे भाषा बोल पाने से पहले ही कम से कम कुछेक चेष्टाओं और संकेतों–क्रोध, स्मित-के अर्थ को सीख जाते हैं।

चेष्टाएँ, मुखाकृतियाँ, शब्द और क्रियाएँ-जीवन-चर्या के अच्छे उदाहरण कहे जा सकते है। जीवन-चर्या हमारे भाषाई-खेलों की पूर्वमान्यता है, उनमें वह निहित है। विट्गेंस्टाइन ने यह स्वीकार किया है कि भाषा बोल पाना, हमारे कार्य का या जीवन-चर्या का एक भाग है।[२४] वे कहते हैं, "किसी भाषा की कल्पना करना, एक जीवन-चर्या की कल्पना करना है।" [२५] वस्तुतः भाषा को जीवन-चर्या से अलग किया ही नहीं जा सकता। जब हम किसी बात को सही या ग़लत कहते हैं तो यह नहीं सोचना चाहिए कि उसका सही या ग़लत होना हमारे मतैक्य को अभिव्यक्त करता है। यह वस्तुतः हमारी भाषा की सहमति–हमारी जीवन-चर्या की सहमति–को प्रदर्शित करता है। [२६]

बच्चे अपने समूह की भाषा किस प्रकार सीखते हैं ? यदि हम गौर करें तो पाएँगे कि वे शब्दों का अर्थ उनकी परिभाषाओं-भले वे निर्देशनात्मक परिभाषाएँ ही क्यों न हों–से नहीं सीखते। विट्गेंस्टाइन का स्पष्ट मत है कि भाषा व्याख्या द्वारा नहीं, प्रशिक्षण द्वारा सीखी जाती है। भाषा सीखने का आरम्भ शब्दों से नहीं, किन्हीं अवसरों और कार्यों से होता है। [२७] तात्पर्य यह है कि शब्दों और भाषा के चरित्र को उन अवसरों, परिस्थितियों और कार्यों, जिनमें कि उनका प्रयोग किया गया है, से पृथक् करके नहीं समझा जा सकता। उदाहरणार्थ, 'आग जलाती है,' इस 'निश्चिति' (अथवा 'अवश्यंभाविता') का वास्तविक स्वभाव क्या है ? इसे तर्क द्वारा नहीं समझा जा सकता। तर्क के रूप में वस्तुतः यहाँ कोई युक्ति जुटाई ही नहीं जा सकती। पक्ष या विपक्ष में यदि कोई तर्क यहाँ जुटाया भी गया तो 'आग जलती है,' इस पूर्वकथन में निहित निश्चिति को वह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न तो अधिक दृढ़ कर सकता है न ही इसे दुर्बल बना सकता है। इसके विरोध में कितने ही तर्क क्यों न दिए जाएँ, हमें कोई भी तर्क आग की लपटों में हाथ डालने के लिए बाध्य नहीं कर सकता।[२८] अतः इस निश्चित का वास्तविक आधार यदि कोई है तो वह हमारी जीवनचर्या-हमारे सोचने और रहने का तरीका है।[२९]

जब हम किसी जीवन-चर्या की कल्पना नहीं कर पाते तो उसकी भाषा को भी नहीं समझ पाते। यदि कोई हमसे पूछे, क्या इस मेज़ की कोई लम्बाई है, तो यह प्रश्न ही हमारी समझ में नहीं आ सकता। हम यह कल्पना ह: नहीं कर सकते कि बिना लम्बाई की मेज़ भला कैसी होगी? इसी प्रकार पत्थरों की भाषा और चेष्टाओं को समझना भी-यदि ऐसा कुछ होता हो-हमारे लिए असम्भव है। वृक्षादि के सन्दर्भ मे इतनी कठिनाई नहीं है। कम से कम उनमें, जिसे हम गति समझते हैं, वह तो होती है। पशुओं और अन्य जीवित प्राणियों में तो हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि किसी हद तक उनकी 'जीवन-चर्या' हमारी अपनी की ही तरह होती है। विट्गेंस्टाइन कहते हैं —

एक पत्थर की ओर देखिए और कल्पना कीजिए कि उसकी भी संवेदनाएँ हैं। आप स्वयं से कहेंगे कि 'एक वस्तु पर संवेदना आरोपित करने का विचार भला आ ही किस प्रकार सकता है? फिर तो किसी एक संख्या पर भी उसे आरोपित किया जा सकता है।' और अब एक छटपटाती मक्खी को देखिए और एकदम आपकी सारी कठिनाइयाँ समाप्त हो जाएँगी...[३०]

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य के सभी भाषाई-खेल और जीवन-चर्याओं को हम पशुओं पर आरोपित कर नकते हैं। विट्गेन्स्टाइन पूछते हैं—

एक कुत्ता पीड़ा का स्वांग नहीं कर सकता? क्या वह बेहद ईमानदार है? क्या कोई किसी कुत्ते को पीड़ा का स्वांग सिखा सकता है? शायद यह सम्भव हो सके कि उसे किन्हीं अवसरों पर कुछ इस प्रकार का भौंकना सिखाया जाए कि मानो उसे पीड़ा हो रही हो। किन्तु फिर भी यहाँ उन परिस्थितियों का, जो इस प्रकार के वास्तविक स्वांग के लिए अनिवार्य है, पूर्ण अभाव होगा।[३१]

तात्पर्य यह है कि भाषाई-खेलों की सम्भावनाएँ जीवन-चर्या पर निर्भर करती हैं। वे वस्तुतः जीवन-चर्या की ही सम्भावनाएँ हैं। हमारे सभी भाषाई-खेल हमसे भिन्न जीवन-चर्याओं पर लागू नहीं किए जा सकते और न ही अपनी जीवन-चर्या से भिन्न हम कोई भाषाई-खेल खेल सकते हैं।

भाषाई-खेलों का यदि कोई आदि स्रोत है तो वह जीवन-चर्या ही है। केवल जीवन-चर्या ही भाषाई-खेलों को औचित्य प्रदान कर सकती है। हम एक विशेष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकार का भाषाई-खेल क्यों खेलते हैं ? इसका एक मात्र उत्तर यही हो सकता है कि इसके मूल में स्वयं हमारी जीवन-चर्या है। जीवन-चर्या मानो भाषाई-खेल में मूर्तमान हो उठती है। हम एक घायल मनुष्य की सहायता करते हैं, यह हमारी जीवन-चर्या है। यह सोचना कि हम उसपर तरस खाते हैं इसलिए उसकी सहायता करते हैं, ग़लत होगा क्योंकि तरस खाना और सहायता करना एक ही बात है। यह पुनरुक्ति मात्र है। यदि तरस खाना कोई व्यक्तिगत अनुभूति का नाम है तो उसका हमारे खेल से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। जब कोई व्यक्ति कहता है कि 'मुझे बहुत पीड़ा हो रही है' तो वह हमारी सहायता मांग रहा होता है। इस समय पीड़ा से सम्बन्धित इस खेल को (सहायता के लिए अप्रत्यक्ष निवेदन को) हमें नोट करना होगा कि स्वयं 'पीड़ा क्या होती है' इसकी व्याख्या करना है। 'पीड़ा' की अपने आप में कोई व्याख्या नहीं हो सकती और यदि कोई व्याख्या हो भी तो भाषाई-खेल में उसका कोई स्थान नहीं हो सकता।[३२] ये जीवन-चर्याएँ हैं जो भाषाई-खेलों को औचित्य प्रदान करती हैं और जीवन-चर्याओं का औचित्य ढूंढना बेमानी है। वे तो भाषाई-खेलों में निहित हैं, उनकी पूर्व-मान्यताएँ हैं, उनके प्राग्-भाषिक आधार हैं।

निस्सन्देह हम सामान्य लोगों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार नहीं करते जैसा स्वचालित यन्त्रों के साथ करते हैं। इसी प्रकार पीड़ाग्रस्त लोगों और पीड़ा का स्वांग करनेवाले लोगों के साथ हमारा व्यवहार भिन्न भिन्न होता है। यह जीवन-चर्या है। जीवन-चर्या इससे भिन्न भी हो सकती है। हम एक ऐसी जीवन-चर्या की कल्पना भी कर सकते हैं जिसमें गुलाम को मशीन समझा जाए और जानवरों को वस्तुएँ मानकर उनके साथ पशुवत् आचरण किया जाए। गर्म ओवन में उन्हें जिंदा डालकर उनकी क्रियाओं को—चीखने-चिल्लाने तड़प आदि को-तटस्थता से परखा जाए। ये सब भिन्न भिन्न प्रकार की जीवन-चर्याएँ हो सकती हैं; किन्तु, भाषाई-खेल की दृष्टि से उनकी व्याख्या करना निरर्थक है। उन्हें तो नोट कर करना है—

'जिसे स्वीकार ही करना है-जो प्रदत्त है, वह, कहा जा सकता है, जीवन-चर्या है।'[३३]

भाषाई-खेल अनेक और अनन्त हो सकते हैं किन्तु उनकी अनेकता मनमानी नहीं हो सकती; वे सदैव जीवन-चर्या के अनुरूप ही होंगे-उसके विरोधी, या उससे भिन्न नहीं हो सकते। जीवन-चर्या से अपनी एकता के कारण, भाषाई-खेल अपनी अनेकता और विविधता के बावजूद-मर्यादित रहते हैं। ऐसा कोई भाषाई-खेल नहीं हो सकता जो जीवन-चर्या का अतिक्रमण कर जाए, उसके परे चला

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाए। इस अर्थ में जीवन-चर्या मनुष्य के स्वभावगत इतिहास और उसके तथ्यों (विशेषताओं) की ओर संकेत करती है।[३४] और ये तमाम तथ्य केवल 'तथ्य' मात्र हैं-इनकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती। हमारे स्वभावगत इतिहास के 'तथ्य' क्या हैं?

हमारी जीवन-चर्या या स्वभावगत इतिहास की सर्वप्रथम विशेषता विचारणा है और इसे व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। मनुष्य किसलिए सोचता है? इसका उपयोग क्या है? "क्या मनुष्य इसलिए सोचता है कि चिंतन करना उसके लिए लाभप्रद है। (क्या वह अपने बच्चों की परिवरिश इसलिए करता है कि वह लाभप्रद है?)"[३५] किन्तु ऐसा नहीं है-बावजूद इसके कि सोचने का परिणाम लाभदायक ही क्यों न रहा हो, सोचना हमारे स्वभावगत इतिहास का एक 'तथ्य' है। "मनुष्य वस्तुतः सोचते ही हैं।"[३६]

हमारे स्वभावगत इतिहासकी दूसरी विशेषता भाषा है। भाषा उदाहरणतः पशुओं के स्वभावगत इतिहास की विशेषता नहीं है। हमारे सन्दर्भ में भाषा का होना और पशुओं के संदर्भ में इसका अभाव-इन दोनों ही बातों की व्याख्या नहीं की जा सकतो।

कभी कभी यह कहा गया है कि पशु इसलिए बात नहीं कर सकते कि उनमें मानसिक क्षमता की कमी है और इसका अर्थ है कि वे विचार नहीं कर सकते। किन्तु वे बातचीत नहीं कर सकते, बस। या, यदि भाषा के आद्य रूप को अपवाद मान लिया जाए तो यूं कहा जा सकता है कि वे भाषा का प्रयोग नहीं कर सकते। आज्ञा देना, प्रश्न करना, पुनर्गणना करना, गप्प लगाना हमारे स्वभावगत इतिहास के वैसे ही अंग हैं जैसे चलना-फिरना, खाना-पीना, खेलना-कूदना।[३७]

विचारणा के कुछ ऐसे भी रूप हैं जिनमें भाषा पूर्व-मान्यता की तरह निहित है। निम्नलिखित पर ध्यान दें।

कोई भी यह कल्पना कर सकता है कि एक पशु क्रोधित है, भयभीत है, आश्चर्य-चकित है। लेकिन आशान्वित है? और क्यों नहीं?

एक कुत्ते को यह अहसास हो सकता है कि उसका स्वामी द्वार पर खड़ा है किन्तु क्या उसे यह भी अनुमान है कि उसका स्वामी परसों के दिन वापस आ जाएगा? और यहाँ किस कार्य को न कर पाने की ओर संकेत है?

जो बातचीत कर सकते हैं क्या आशा भी केवल वे ही लोग कर सकते हैं? क्या वे ही जिन्होंने भाषा-प्रयोग में दक्षता प्राप्त कर ली है? तात्पर्य यह है कि आशा करना हमारी जटिल जीवन-चर्या का एक पर्याय है।[३८]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संक्षेप में यह (आशा करना) एक ऐसा उदाहरण है जिसके लिए भाषा की आवश्यकता है और ऐसे अनेकानेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जो केवल भाषा-प्रयोग करनेवाले मनुष्य के संदर्भ में ही संभव हो सकते हैं। अतः भाषा का प्रयोग एक ऐसा जाति-गुण है जो हमारे स्वभावगत इतिहास के एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करता है।

मानवप्रकृति की एक अन्य विशेषता को विट्गेंस्टाइन ने 'निर्णयों की सहमति' कहा है।[३९] किन्हीं विशेष परिस्थितियों में हम सब सामान्यत समान निर्णय लेते हैं- यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ यदि हम सभी पीड़ा को दुःखद मानने में सहमत न होते और पीड़ा के प्रति हमारी सबकी प्रतिक्रियाएँ एक समान न होतीं तो पीड़ा की अवधारणा ही मनुष्य के लिए बुद्धिगम्य न हो पाती। विट्गेंस्टाइन के अनुसार पीड़ित होने पर हम सबके लिए रोना और कराहना स्वभावगत बात है और यह भी उतना ही स्वभावगत है कि, पीड़ा जो हमारे सरीखे दूसरे लोगों को दुःख देती है, उसका हम उपचार करें–

न केवल अपनी जब बल्कि कोई दूसरा व्यक्ति पीड़ित होता है तो उसकी परिचर्या करना उसके दुःखते अंग की देखभाल करना हमारी एक आदिम प्रतिक्रिया है लेकिन यहाँ आदिम शब्द या तात्पर्य क्या वया है? शायद यही कि इस प्रकार का व्यवहार प्राग्भाषिक है, कि कोई एक भाषाई-खेल इस पर आधारित है, कि यह विचारणा का परिणाम नहीं है बल्कि विचारणा का एक आद्य रूप है।[४०]

हमारे स्वभावगत इतिहास का एक अन्य पक्ष हमारी समान अभिरुचियों से सम्बन्धित है। इस प्रसंग में विट्गेंस्टाईन ने 'स्वाँग' की अवधारणा का उदाहरण प्रस्तुत किया है–

...कल्पना कीजिए, किसी एक आदिम जाति के व्यक्तियों की परवरिश आरम्भ से ही कुछ इस प्रकार हुई है कि अपनी भावनाओं को किसी भी रूपमें अभिव्यक्त न कर सके। यदि कोई शिकायत करता है तो उसका मजाक उड़ाया जाता है या उसे दंड दिया जाता है। वहाँ ऐसा कुछ भी नहीं होता जिसे हम (भावनाओं की अभिव्यक्ति के नाम पर) स्वांग भी कह सके। शिकायत करना मानों स्वयं ही एक स्वांग है।[४१]

.. 'स्वांग', ऐसे लोग कहेंगे, 'कितनी बेतुकी अवधारणा है'[४२] क्योंकि यहाँ की जीवन चर्या एक भिन्न प्रकार की होगी। जिन विषयों में हमारी अभिरुचि है, उनमें उनकी नहीं होगी। यहाँ भिन्न प्रकार की अवधारणाएँ अकल्पित नहीं हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वस्तुतः यही एक तरीका है जिससे फर्क किस्म की अवधारणाओं की कल्पना की जा सकती है।[४३]

विट्गेंस्टाइन के अनुसार इस प्रकार विभिन्न भाषाई-खेल मानव प्रकृति के कुछेक 'तथ्यों' पर निर्भर होते हैं कि सभी मनुष्य सोचते हैं, भाषा का प्रयोग करते हैं अपने निर्णयों और प्रतिक्रियाओं में सहमति दर्शाते हैं और उनकी समान अभिरुचियाँ होती हैं। इस अर्थ में भाषा और उसके भाषाई-खेल मानवी क्रियाओं द्वारा, मनुष्य की स्वभाव विशेषताओं द्वारा, उसकी जीवन-चर्या द्वारा निर्धारित होते हैं। इन 'तथ्यों' और 'जीवन-चर्याओं' का अस्तित्व सभी भाषाई-खेलों से पहले है। भाषा के लिए ये एक महत्वपूर्ण भूमि तैयार करते हैं किन्तु वे स्वयं अव्याख्यायित रहते हैं। इनके लिए कोई सफाई नहीं दी जा सकती।

उपर्युक्त चर्चा से कभी कभी यह गलतफहमी हो सकती है कि विट्गेंस्टाइन ने भाषाई-खेलों को युक्तिसंगत बनाने के लिए जीवन-चर्या को उनके मूलाधार के रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु यह बात पूर्ण-सत्य नहीं है क्योंकि यदि भाषाई-खेलों को यह कहा जाए कि उनका मूलाधार जीवन-चर्या है जो उन्हें निर्धारित करती है तो यही बात जीवन-चर्या के लिए भी कही जा सकती है। यदि भाषाई-खेल जीवन-चर्या द्वारा निर्धारित होते हैं तो बहुत हद तक जीवन-चर्या भी भाषाई-खेलों द्वारा निर्धारित होती है। दोनों का प्रभाव परस्पर है। विट्गेंस्टाईन ने ऐसे तमाम आदिवासियों और जनजातियों के कल्पित उदाहरण दिए हैं जिनकी जीवन-चर्या हमारी अपनी से भिन्न प्रकार की है। और इसलिए यह कह जा सकता है कि वे अपनी मूलतः अवधारणाओं की वजह से एक भिन्न प्रकार की दुनिया में रहते हैं। हमारी अवधारणाएँ भिन्न हैं, अतः हमारी जीवन-चर्या भी भिन्न है।

पुनः, जीवन-चर्या और भाषाई-खेलों के परस्पर सबंध से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि भाषाई-खेलों या जीवन-चर्याओं को एक दूसरे से व्याख्यायित किया जा सकता है। विट्गेंस्टाइन का यह लेशमात्र भी प्रयत्न नहीं है कि वे इसमें से किसी के स्वभाव के 'कारणों' का पता लगाएँ—

.. मैं यह भी नहीं कहता कि प्रमुख प्राकृतिक तथ्य फर्क होते तो भिन्न भिन्न लोगों की अवधारणाएँ फर्क होतीं (एक कल्पना के रूप में) बल्कि यह कहना चाहता हूँ कि यदि किसी का यह विश्वास है कि कुछ ऐसी भी अवधारणाएँ होती हैं जो पूर्णतः सत्य हैं और यदि वे भिन्न होतीं तो इसका अर्थ होता कि हम जिसे उपलब्ध करना चाहते हैं, वह उपलब्ध न कर पाते—ऐसी दृश्य में यह अच्छा होगा कि वह प्रकृति के कुछ ऐसे तथ्यों की कल्पना करें जिनके हम अभ्यस्त नहीं हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तब उसे सामान्य अवधारणाओं की अपेक्षा भिन्न प्रकार की अवधारणाओं का निर्माण बुद्धिगम्य हो सकेगा।[४४]

कारणों का पता लगाना विज्ञान का काम है। दर्शन का नहीं है।

इसके अतिरिक्त यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि जिस प्रकार जीवन-चर्या के प्रत्यय को विट्गेंस्टाइत ने अव्याख्यायित माना है और उसे तथ्य के रूप में स्वीकार भी करने के लिए हमें आमंत्रित किया है, उसी तरह भाषाई-खेल भी अंततः अव्याख्यायित ही रहते हैं। उन्हें भी ज्यों का त्यों स्वीकार ही करना है। कारण स्पष्ट है। यदि हम भाषाई-खेलों की व्याख्या करते हैं तो हमें भाषा के परे जाना होगा, उसका अतिक्रमण करना होगा। किन्तु यह असंभव है। और ऐसी दशा में तथाकथित व्याख्याएँ असंतोषप्रद कैसे मानी जा सकती हैं? आखिर आपके प्रश्न भी तो इसी भाषा में निर्मित किए गए हैं, यदि कुछ पूछना है तो उसे इसी भाषा में तो अभिव्यक्त किया गया है।[४५] तात्पर्य यह है कि भाषा से परे कोई मानक था वस्तुगत यथार्थ नहीं होता जिससे भाषा की तुलना की जा सके। मानवी भाषा मानो स्वयं ही अपने यथार्थ का निर्माण करती है। भाषा और भाषाई-खेलों के अतिरिक्त और कुछ भी ऐसा नहीं है जिससे किसी भी कथन की सत्यता या असत्यता का औचित्य दर्शाया जा सके। एक मात्र संभावित औचित्य हमारे भाषाई अभ्यास हैं। वस्तुतः जीवन-चर्या का संप्रत्यय भी भाषा से अलग करके नहीं देखा जा सकता। भाषा और जीवन-चर्या वस्तुतः एक ही हैं। **जीवन-चर्या प्राग्भाषिक भाषा है। भाषा भाषिक जीवन-चर्या है।**

भाषाई-खेलों के लिए-विशेषकर प्रतिदिन के साधारण भाषाई-खेलों के लिए किसी भी प्रमाण या औचित्य का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। विट्गेंस्टाईन कहते हैं—

.. प्रतिदिन के भाषाई-खेल को तो कदाचित् हमें स्वीकार ही करना है और उसकी गलत व्याख्या को गलत ही मानना है। आरंभिक भाषाई-खेल, जिन्हें बच्चों को सिखाया जाता है, के लिए कोई सफाई पेश नहीं की जा सकती। औचित्य स्थापित करने के लिए किए गए प्रयत्न को अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए।[४५]

.. हमारी गलती यह है कि जिसे हमें प्रकृत कार्य के रूप में देखना चाहिए, अर्थात्, जहाँ हमें यह कहना चाहिए कि अमुक भाषाई-खेल संपन्न हुआ, हम उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न आरंभ कर देते हैं।[४६]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

. प्रश्न अपने अनुभवों द्वारा भाषाई-खेल की व्यख्या का नहीं है, बल्कि भाषाई-खेल को केवल नोट करने का है।[४७]

उपरोक्त के प्रकाश में विट्गेंस्टाइन का यह कथन और भी स्पष्ट हो जाता है –

. दर्शनशास्त्र हर चीज को हमारे समक्ष रख देता है– न तो वह उसकी व्याख्या करता है और न ही उससे कुछ घटित करता है।[४८]

. वह हर चीज को जैसी की तैसी छोड देता है।[४९]

–सुरेंद्र वर्मा

१९, राम टेकरी एक्सटेंशन,
तेलिया तालाब,
मंदसौर (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. विट्गेंस्टाइन, लुडविग : **फिलॉसफिकल इन्वेस्टीगेशंस** : अक्सफर्ड' १९७२, परिच्छेद ३०४ (आगे टिप्पणियों में इस ग्रंथ के लिए **इन्वेस्टीगेशंस्** लिखा जाएगा और उसके बाद की संख्या परिच्छेद का संकेत करेगी। यदि संख्या के पूर्व 'पृ.' लिखा हो तो उसे 'पृष्ठ' समझना चाहिए। सभी उद्धरणों का अँग्रेजी से अनुवाद स्वयं लेखक द्वारा किया गया है।

२. **इन्वेस्टीगेशंस्** २५।

३. फिलिप्स, डेरॅक एल. **विट्गेंस्टाइन एण्ड साइन्टिफिक नॉलेज**, मैक्मिलन, १९७७, पृ. ३२।

५. **इन्वेस्टीगेशंस्**, २४।

५. वही, पृ., २२४।

६. वही २३।

७. **इन्वेस्टीगेंशंस्** पृ. १८४।

८. वही, २८८।

९. वही, ६५४।

१०. वही, ६३२।

११. वही, २७।

१२. वही, पृ. २१७।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१३. वही, २४९ ।
१४. वही, ६६ ।
१५. वही, ६७ ।
१६. देखिए, इन्वेस्टीगेशंस् ७१ ।
१७. वही, २३ ।
१८. इन्वेस्टीगेशंस् ८५ ।
१९. वही, २४३-२४४ ।
२०. वही, १७९ ।
२१. देखिए, इन्वेस्टीगेशंस् २ तथा पृ. २०० ।
२२. नोटबुक, पृ. १८१ ।
२३. द ब्लू एण्ड ब्राउन बुक्स, न्यूयोर्क १९५८, पृ १०३ ।
२४. इन्वेस्टीगेशंस्, २३ ।
२५. वही, १९ ।
२६. वही, २४१ ।
२७. लेक्चरस् एण्ड कन्वर्सेशन्स्, वर्कले एण्ड लाओस एञ्जल्स, १९७३, पृ. ३ ।
२८. इन्वेस्टीगेशन्स्, ४७२ ।
२९. देखिए, वही, ३२५ ।
३०. इन्वेस्टीगेशंस् २८४ ।
३१. वही, २५०
३२. विट्गेंस्टाइन का निजी भाषा संबंधी दृष्टिकोण इसे पूर्णतः स्पष्ट कर देता है ।
३३. इन्वेस्टीगेशंस्, २२६ ।
३४. 'जीवन-चर्या' के संप्रत्यय को मनुष्य के 'स्वभावगत इतिहास' और उसके 'तथ्यों' से सर्वप्रथम डेरिक, एल. फिलिप्स ने जोड़ा है । देखिए, विट्गेंस्टाइन एण्ड साइन्टिफिक नॉलेज, मैक्मिलन, १९७७, पृ. ८०–८४
३५. इन्वेस्टीगेशन्स् ४६७ ।
३६. वही, ४६६ ।
३७. इन्वेस्टीगेशंस्, २५ ।
३८. वही, १७४ ।
३९. इन्वेस्टीगेशस्, २४२, ४२१ ।
४०. जीटल, १९६७, परिच्छेद, ५४०–४१ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४१. जीटल, परिच्छेद ३८३।
४२. वही, ३८४।
४३. वही, ३८८।
४४. इन्वेस्टीगेशंस्, पृ २:०।
४५. इन्वेस्टीगेशंस्, पृ. २००।
४६. वही, ६५५।
४७. वही, १२४।
४८. इन्वेस्टीगेशंस्, १२६।
४९. वही, १२४।

०००

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विकास प्रक्रिया—मानव का वर्तमान और भविष्य

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। साथ ही साथ वह विकास की प्रक्रिया में उलझा हुआ एक जानवर भी है। अतः वह प्रकृति के साधारण जनन और जरा के नियमों से भी बन्धा है। विकास की प्रक्रिया में अनेक घटकों का योगदान रहा है और रहेगा। एक उदाहरण लें। ऑक्सीजन के अणु को ही ले लें। इसके बिना हमारा जीवित रहना असम्भव है। पुरातन काल में जब प्रथम बार ऑक्सीजन का अणु उत्पन्न हुआ होगा तब इसे भी एक प्रकार का प्रदूषण (Pollution) कहा जा सकता है। उस समय यदि कोई ऐसा जीवाणु होता जिसे इस प्रकार के अणु से अरुचि होती तो आज विकास की प्रक्रिया कुछ और ही होती। इस कल्पना से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विकास की प्रक्रिया कितनी संवेदनशील है।

ऐसी प्रतिसंवेदी विकास की प्रक्रिया को वर्तमान स्थितियों में रखकर देखें। आज हम किस चौराहे पर खड़े हैं इसे कई तरफ से देखा जा सकता है। इनमें से सबसे मुख्य आयाम है जनसंख्या का। कृपया ध्यान रक्खें कि मैं आपको (Malthusians) की ओर नहीं ले जा रहा। बस तथ्य भर की बात है। जनसंख्या में वृद्धि सभी को चौंकानेवाली है। सन एक से लेकर सन १६५० तक जबकि विश्व की आबादी ढाई करोड़ से पाँच करोड़ हुई, आशा है कि वर्तमान जनन-गति से सन १९७५ से सन २००५ तक केवल तीस वर्षों में हम समस्त विश्व के लोग चार अरब से आठ अरब हो जायेंगे। अरस्तू कहता था कि अनियंत्रित जनसंख्या निर्धनता, क्रान्ति और हिंसा को जन्म देती है। आज हमारे नगरों में बढ़ती हुई भीड़-भाड़ का हमारी संवेदनशीलता (Sensitivity) पर क्या प्रभाव है किसी से छिपा नहीं है। ऊँची जन्म-दर का एक और प्रभाव है हमारे काम करनेवाले लोगों के गिरते अनुपात पर। यदि जन्म-दर प्रति हजार पर चालीस हो तो उस आबादी के चालीस प्रतिशत से भी अधिक लोग पन्द्रह वर्ष से कम आयु के होते हैं। इसका प्रभाव पड़ता है राष्ट्र की कार्य-क्षमता पर। बढ़ती हुई आबादी के और भी दूरगामी परिणाम हैं, जैसे औद्योगीकरण, बढ़ता शोर, प्रकृति के साधनों से अन्धा बलात्कार, वायु-जल-मिट्टी का प्रदूषण आदि।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानव-विकास की वर्तमान प्रक्रिया पर एक दूसरे आयाम का प्रभाव और भी अधिक कारगर है। वह है जीवन की बढ़ती गतिशीलता। आइए इसे समझने के लिए कुछ उदाहरण लें। स्वर्गीय भाभा ने एक बार कहा था कि प्रथम १८५० वर्षों के अन्त तक हम लोग विश्व भर में ३३ अरब टन प्रति शताब्दी की दर से कोयला जला रहे थे। अब यह दर ३३० अरब टन प्रति शताब्दी है। अन्य शब्दों में पिछले करीब २००० वर्षों में प्रयोग की गई समस्त उर्जा का आधा भाग वर्तमान शताब्दी में फूंका गया।

इसी प्रकार अब प्रति ५–६ वर्ष में मानव ज्ञान दुगुना हो रहा है। प्लेटो से अब तक पैदा हुए समस्त वैज्ञानिकों की ८०% संख्या आज जीवित है। आज यूरोप में प्रति दिन १००० से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। मनुष्य अपनी जीविका के लिए जल्दी-जल्दी स्थान बदल रहा है। आज के हमारे औद्योगिक प्रतिष्ठान जुटे हैं अपने उत्पादन की जीवन-अवधि कम करने में। कोई चीज बाजार से क्रय कीजिए वह अब कम दिन चलती है। सारांश में चारो ओर गति बढ़ रही है और हमारी समस्त ज्ञानेन्द्रियों पर बाह्य दबाव बढ़ता जा रहा है। इसी के साथ-साथ हमारा परिवार, जोकि सदैव से एक सुदृढ़ इकाई की तरह बना रहा है और चारों ओर के झटके और उतार–चढ़ाव अद्‌भुत रूप से झेलता रहा है, धीरे-धीरे चटख रहा है। कुछ देशों में यह टूटन धीमी है, कुछ में तेज। परिस्थितियाँ तेजी से बदल रही हैं। आज हम सुनते हैं बात किराए के मानव–भ्रूणों की। वैज्ञानिक लोग कल्पना कर रहे हैं Embryo-Emporiums की।

इन्हीं परिवर्तनों के साथ एक और आयाम बदल रहा है। वह है हमारा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक वातावरण। इसी परिप्रेक्ष्य में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन है मूल्य–बोध का। आज की मूल्य–हीनता से कौन परिचित नहीं है? मनुष्य जुटा है संघर्ष में और उलझा है गलाघोंट प्रतिस्पर्धाओं में। इसी वर्तमान परिवेश का मिला–जुला असर है मानव के विकास की प्रक्रिया पर। आज का बदला हुआ पर्यावरण हमारे लिए अनेक "सौगात" लेकर आया है: क्रोध, कुंठा, त्रास, तनाव, निराशा, निर्ममता और भय। उसकी प्रबल आकांक्षा और वस्तुस्थिति में एक भीषण दरार बन गई है। वह चाहता है चिरयुवा रहना किन्तु निरन्तर बढ़ रहा है बुढ़ापे की ओर—कम समय में वयस्कता (परिपक्वता नहीं) की ओर जल्दी मृत्यु की ओर। सीमित समय में आज यहाँ सभी घटकों का विकास की प्रक्रिया पर प्रकाश डालना असम्भव है। अतः आइए एक घटक चुन लें–क्रोध। बड़ा महत्वपूर्ण है। देखें हमारा पुरातन ज्ञान और आज का विज्ञान क्या कहता है इस बारें में।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गीता में कहा है :

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।

क्रोध से अविवेक, अविवेक से भ्रमति स्मरण शक्ति, जिससे बुद्धिनाश और अन्त में प्रण (श्रेय—साधन) से गिरना । यदि हम नवीनतम अन्तःस्रावी-विज्ञान का अध्ययन करें तो भी यह जानने के बाद कि क्रोध का हमारे मस्तिष्क पर किस प्रकार असर होता है और इसका परिणाम क्यों और क्या होता है तो हम निकट-तम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं । केवल समानता की बात है "All that is old is gold" की बात नहीं । इस उदाहरण का सबसे अधिक महत्व है यह जानंना कि किसी एक संवेग (क्रोध) का हमारे व्यवहार पर कितना गम्भीर असर होता है और ऐसे बढ़ते हुए संवेग आधुनिक मानव की विकास - प्रक्रिया को कितना मोड़ देने में सक्षम हैं ।

आज की स्थिति में परिचित होने के बाद भविष्य में मानव—विकास की प्रक्रिया पर विचार किया जा सकता है । इस सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या हम लोग विकास की इस प्रक्रिया को सुखद मोड़ दे सकते हैं । यह इस बात पर निर्भर है कि हम मानव—भविष्य को निर्धारित करनेवाली शक्तियों का किस प्रकार प्रयोग करते हैं । हम लोग किस प्रकार संगठित होकर चुनौतियों का सामना करते हैं । यद्यपि प्राकृतिक शक्तियां (Natural forces) स्वयं विकास की प्रक्रिया में बड़ी महत्वपूर्ण हैं किन्तु फिर भी इनमें प्रयास करने पर सुखद परिवर्तन सम्भव है । उदाहरण के लिए, वैज्ञानिकों का मत है कि आनुवन्शिकी (Geneticn) में जीन में विकास की प्रक्रिया लॉटरी से मिलती-जुलती है और इसमें प्रयास करने से कृत्रिम सुधार सम्मव है । आज हम सभी सुजनन—विज्ञान (Eugenics) से परिचित हैं । अब यह सम्भव लगता है कि प्रयास करने से हानिप्रद जीन से मानव जाति को छुटकारा मिल जाय । कृत्रिम चर्म, फेफड़े, गुर्दे, रक्त, रक्त, नलिकाएँ और हृदय जीव—अभियान्त्रिकी (Bio-Engineering) की सफलता के प्रतीक हैं । साथ ही साथ ये सभी जीव-वैज्ञानिक की हार के भी द्योतक हैं । यह इस बात की याद दिलाते हैं कि अभी तक वैज्ञानिक रुग्णता को पूरी तरह समझ ही नहीं पाये हैं । अन्यथा वे बीमारी जनन एवं जरा की प्रक्रिया को रोक देते । किन्तु फिर भी विज्ञान की प्रगति से ऐसी आशा की किरण अवश्य फूटती है कि यदि मानव प्रयास करे तो जीवन के उत्कर्ष और सौन्दर्य में चार चाँद लग सकते हैं । हम सभी मिलकर एक स्वस्थ पर्यावरण ला सकते हैं । कुछ सुन्दर समुद्र-तट, पर्वत—माला, मरुस्थल और वन—उपवन सदैव के लिए सुरक्षित रखकर हम आनन्दमय भविष्य की ओर बढ़ सकते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं। इसी प्रकार एक सुसंस्कृत सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक वातावरण भी प्रयास करने से बनाया जा सकता है। इसके विपरीत आधुनिक तकनीक पूर्ण मानव संहार करने को भी सक्षम है। हमारे बढ़ते हुए कदम इस बात का निर्णय करेंगे कि हम भविष्य में किस ओर चलेंगे। चाहें हम रचनात्मक भविष्य की ओर चलें या विनाश के गर्त में, एक बात तय है, और वह है कि भविष्य में जीवन की गतिशीलता निश्चित बढ़ेगी। अभी तक हमने इस बढ़ती गति को मानव पर तनाव बढ़ाने के रूप में ही देखा है। आइए अब देखें इस गति की एक खूबी। सड़क के किनारे बैठ कर एक प्याला चाय पीते समय इधर–उधर चलते–फिरते लोगों पर एक नजर डालें। आप को सभी कुछ ठीक-ठाक लगेगा। अब आप एक वाहन पर स्वयं तीव्र गति से इसी भीड़ से गुजरें। इस बढ़ती गति का हमारे ऊपर एक विशेष प्रभाव पड़ता है। अब हमें परिवहन–तन्त्र के अवगुण तुरन्त दिखाई देने लगते हैं। झुंझलाहट इसी का एक परिणाम मात्र है। तीव्र गति के उन पलों में हम एक उत्तम परिवहन–तन्त्र की अपेक्षा भी तुरन्त करने लगते हैं। शरीर एवं बुद्धि के स्तर पर तीव्र गतिशीलता का यह प्रभाव अद्‌भुत है। आइए एक और घटना–क्रम का विहंगावलोकन करें।

एक साधारण ढीले-ढाले साक्षर भारतीय को अपने वाहन पर पीछे एक सवारी बैठा ले देखिए। अक्सर आप देखेंगे कि वह वाहन भी चलाता है और पीछे बैठे हुए महानुभाव से जीवन की अनेकानेक घटनाओं पर जीवन्त गोष्ठी भी करता जाता है। वाहन रुकते ही उसके शरीर-बुद्धि की चपलता मन्द पड़ जाती है। मौलिक प्रश्न है कि क्या चारों ओर बढ़ती जीवन की इस गति से हम चपल स्वस्थ गुण को ग्रहण कर सकते हैं। और साथ ही साथ इसके द्वारा उत्पन्न हुए कुंठा, त्रास, और तनाव को कम कर सकते हैं। यदि हां, तो कैसे ? इसी प्रश्न के उत्तर में छिपी है मानव के सुनहरे भविष्य की कुंजी। और गुण-दोष की छटनीं में छिपी है मानव मस्तिष्क की क्षमता जिसकी सहायता ने उसके विकास को भविष्य में आनंदमय मोड़ दिया जा सकता हूँ। अतः मैं इसे सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न कहता हूँ। आइए देखें और समझें कि हम किस प्रकार अपने बल बूते ही सुखद भविष्य की नींव डाल सकते हैं।

हम यह मान कर चलें कि प्रयास हमारे प्राण का प्रतिविम्व जैसा है। जन्म से मृत्यु तक हमारे इस प्रयास का लक्ष्य क्या है ? मेरा विचार है कि यह सफर एक पवित्र स्वतंत्रता भर का ही है। मानव-बालक बड़ा निरीह पैदा होता है। वह शेर के बच्चे की तरह जन्म के कुछ ही समय बाद कूदफांद नहीं पाता। धीरे-धीरे बड़ी कठिनाई से माँ की गोद से वह बैठना, चलना, खड़े होना, दौड़ना सीखता है। यह बात है उसकी शारीरिक स्वतंत्रता की। फिर शुरू होती है कहानी उसके आर्थिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वतंत्रता प्राप्त करने के प्रयास की। फिर समय आ भी सकता है, नहीं भी, प्रबुद्ध चेतना का, वैचारिक स्वतंत्रता का। इस संदर्भ में हम तीन शब्दों का प्रयोग करते हैं (सहज) वृत्ति (Instinct), बुद्धि (Intelligence) और सहज-बोध (Intuition) या अन्तःप्रज्ञा। शेली कहता था कि मानव-जीवन एक ऐसे सुलगते जलते अंगारे की तरह है जिस पर अक्सर राख जमा होती है, और कभी कभी एक झोंका आता है और यह अंगारा चमक उठता है। गम्भीर प्रश्न यह है कि वह झोंका क्या है, और क्यां यह सम्भव है कि उस अंगारे की चमक दमक का अनुकूल, नियमन या नियंत्रण हम स्वयं कर सकें। मेरा उत्तर हां में है। एक उदाहरण लें। करोड़ों ऐसें लोग हैं जिनमें जीवन की एक नन्हीं सी चिनगारी भरी है। यह चिनगारी उनके जीवन की समस्त ऊर्जा का प्रतीक-मात्र है। यह ऊर्जा इतनी कम है कि इन लोगों के जीने या मरने से मानव-विकास की प्रक्रिया पर कोई असाधारण प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरी श्रेणी में वे लोग हैं जिन्होंने अपनी प्रज्ञा से इस चिनगारी को एक लौ % में बदल लिया है। जो ज्ञानी हैं उन्हें ऐसे लोगों की इस लौ के प्रकाश-ताप का भान हो जाता है। ऐसे लोगों की संख्या कम है, किन्तु वे मानव विकास की प्रक्रिया में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। एक तीसरी श्रेणी और है ऐसे बिरले महामानवों की जिन्होंने अपने सच्चे मन प्रयास से इस लौ को एक ज्वाला में बदल दिया था। उनमें इस अद्भूत परिवर्तन के बाद शरीर की उपस्थिति एक औपचारिकता मात्र है। इस अद्भुत परिवर्तन को मैं किन शब्दों में बांधूं? शब्दों की शक्ति सीमित है। जब तक और कोई अच्छी अभिव्यक्ति न मिल जाय, दो शब्दों का उपयोग करते हैं इस परिवर्तन को समझने के लिए: Time transgression अर्थात् समय की सीमा का अतिक्रमण, उल्लंघन। आप से यदि मैं पूछूं कि आप उस पल की व्याख्या कैसे करेंगे जब आइन्स्टान ने पदार्थ और ऊर्जा का सम्बन्ध पाया होगा? इसकी व्याख्या के बाद आइन्स्टाइन चाहे जीवित रहता या न रहता उसने समय की सीमा का उल्लंघन कर लिया था। अर्थात् उसका शरीर एक औपचारिकता-मात्र रह गया था, इस चमत्कार के बाद। यह एक ऐसा चमत्कार था जिसके बिना मानव विकास की प्रक्रिया कुछ और ही होती। भविष्य के लिए यह जिज्ञासा का प्रश्न है कि क्या सचेतन रूप से हम प्रयास के बल पर इस ओर बढ़ सकते हैं? मेरा प्रबल मत है कि यह सम्भव है और इसे समझना और पाना मानव के सुखद भविष्य के लिए अत्यावश्यक है। मेरे विचार से इस अद्भुत स्तर को पाने के लिए कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ हैं। प्रथम: चरम एकाग्रता और निरीक्षणक्षमता। अन्य शब्दों में लक्ष्य से आत्मसात् होने का प्रयास। इसी मार्ग में हमारे अनेकानेक मनीषियों ने शून्यता के कुछ पलों का अनुभव किया है। दूसरी बात है बाहर से आनेवाले आवेगों की छटनी का। उनके परिष्कार,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिमार्जन का। आज के परिवर्तनों की गति अधिक होने के कारण यह महत्वपूर्ण है। तीसरी बात है छंटे हुए आवश्यक आवेगों को (सहज) वृत्ति के विशाल क्षेत्र में संग्रह करना। इसके आगे का क्षेत्र स्वयं अनुभवजन्य अधिक है। सत्य यह है कि मनुष्य इस प्रकार अपनी प्रज्ञा को किसी चमत्कार को पकड़ने के लिए तत्पर करना है। मेरा मत है कि जब प्रबल प्रज्ञावान मानव इस मार्ग से आगे बढ़ता है तो समय की सीमा लाँघी जा सकती है। यह सच है कि मानव-सामर्थ्य असीमित है। यह सम्भव है कि उसकी Tensility (तन्यता) वातावरण के वेगशाली परिवर्तनों, बढ़ते संवेगों और गतिशीलता के बावजूद बढ़ाई जा सके। इन्हीं समस्याओं से आज के कई वैज्ञानिक जूझ रहे हैं। अभी तक के अनुसन्धानों का प्रवाह यह बताता है कि हम शायद ऐसे रास्तों की ओर जा रहे हैं, जो हमारे पुरातन समय के मनीषियों को ज्ञात था। यह है रास्ता लंगड़े ज्ञान से, मनन,श्रद्धा, निष्ठा से अंधी कर्मण्यता तक पहुँचकर ज्ञान से जोड़ने का। अर्थात् योग का। कुछ लोग कहते हैं कि आयोजन निपट प्रयोजन के बिना लिया कोई दैवी या मधुर शब्द भी लक्ष्य से आत्मसात् होने में संगीत का काम करता है किन्तु यह गीत आवश्यक है:

सकल अहंकार हे आमार
डुबाव चोखेर जले

मैं तो मानता हूँ कि मानव विकास के सुखद वर्तमान और भविष्य की प्रक्रिया इसी सत् चित् और आनन्द या सत्यं शिव सुन्दरम् में छिपी है।

—भूमित्र देव

प्राणिविज्ञान विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ.

० ० ०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कविता और अर्थ

प्राचीन भारतीय काव्य-दृष्टि ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को बहुत महत्त्व दिया है। भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कह कर शब्द और अर्थ की अविभाज्य एकता को काव्य की पहिचान के लिए निर्णायक माना था। काव्य की यह पहिचान उसके माध्यम—काव्य भाषा—के सम्बन्ध से निर्धारित की गई थी। शायद इसीलिए दण्डी ने शब्द और अर्थ के इस सम्बन्ध की चर्चा काव्यशरीर के नाते की : 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'। यदि कवित्व को उसके शरीर—माध्यम के उपयोग या भाषिक संरचना—से अभिन्न मानने—न मानने का विवाद छोड़ दिया जाए, तो दण्डी की इस उक्ति में शब्द और अर्थ या 'वागर्थ' की उस अविच्छेद्यता की प्रक्रिया के दर्शन किए जा सकते हैं जिसका उपयोग कालिदास ने अपने आराध्य 'पार्वतीपरमेश्वरौ' की अविच्छेद्यता को उपमा देने के लिए किया था। दण्डी के विचारानुसार पदावली काव्य का शरीर है, लेकिन तभी जब वह एक विशेष गुण से सम्पन्न हो : वह गुण है 'इष्टार्थव्यवच्छिन्न' होना अर्थात् इष्टार्थ से विलक्षणता-सम्पन्न होना।

कवि का अभिप्रेत अर्थ शब्द में समाते समय उसमें एक जादुई शक्ति उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार काव्य-शरीर के रूप में पदावली में जो असाधारणता उत्पन्न होती है, वह उस अभिप्रेत से आती है जिसे व्यक्त करना कवि को अभीष्ट था। तभी तो एक ही तरह की पदावली एक स्थान पर काव्योत्कर्ष की साधक और दूसरे पर बाधक बन जाती है। 'कटकटहिं मर्कट विकट भट बहुकोटि–कोटिन्ह धावहीं' और 'सब जात फटी दुःख की दुपटी कपटी न रहैं जहँ एक घटी' में एक जैसी पदावली होते हुए भी एक में इष्टार्थ अथवा कवि के अभिप्रेत से व्यवछिन्न होने के कारण वह कवित्व को प्राप्त हुई है जबकि दूसरी उक्ति में उसी प्रकार की पदावली ने कवित्व में बाधा डाली है। यदि एक स्थिति में 'नीरस तरुवर विलसति पुरतः' में काव्य हो सकता है तो दूसरी स्थिति में 'शुष्कः वृक्षः तिष्ठत्यग्रे' में भी काव्य का अस्तित्व सम्भव है। कब किस तरह की उक्ति काव्य हो सकती है, इसका निर्णायक 'इष्टार्थ' है। लेकिन, यह इष्टार्थ कोई ऐसी शक्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं है जो बाहर रह कर पदावली को निमंत्रित करती हो, प्रत्युत काव्य-रचना की प्रक्रिया में शब्द-सन्धान के लिए संघर्ष करते हुए अंततः रचित कृति में शब्द के भीतर से उसकी विलक्षणता को आलोकित करता है। तुलसीदास ने 'जल-बीचि' के सादृश्य से काव्य में शब्द और अर्थ के इसी सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है : "गिराअरथ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।'

अर्थ के सम्बन्ध से शब्द को काव्य मानने की प्रवृत्ति कहीं-कहीं इस तरह भी प्रकट हुई है मानो अर्थ का अपना गुण शब्द को काव्य बनाता हो। पंडितराज जगन्नाथने 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' कह कर शब्द को काव्य बतलाते हुए भी उसका काव्यत्व अर्थ के गुण–रमणीयता–पर आश्रित मान लिया है। उनकी इस परिभाषा में शब्द का अपना गुण उसे काव्य नहीं बनाता, प्रत्युत वह जिस अर्थ का वाहक है, इसी पर उसका काव्यत्व निर्भर रहता है। दण्डी ने पदावली को यद्यपि काव्य न मानकर काव्यशरीर ही माना है, फिर भी उसका काव्यशरीरत्व उसके अपने गुण-व्यवच्छिन्न या विलक्षण होने–पर निर्भर बतलाया है; यह बात अलग है कि उसमें यह गुण अर्थ के सम्बन्ध से संक्रमित होता है। दण्डी के मतानुसार इस गुण का उत्स अर्थ में निहित है, लेकिन शब्द अर्थ का सेवक मात्र नहीं है। अर्थ के स्रोत से विलक्षणता प्राप्त होते ही पदावली काव्य-शरीर बन जाती है। जगन्नाथ और दण्डी दोनों के दृष्टिकोणों में मुख्य अन्तर यह है कि जगन्नाथ की दृष्टि में शब्द अर्थ के प्रतिपादन का साधन है जबकि दण्डी के विचारानुसार अर्थ पदावली की विलक्षणता का स्रोत है। दोनों की दृष्टि में पदावली या शब्द की समान प्रतिष्ठा नहीं है और उसे काव्यत्व प्रदान करने के सम्बन्ध में अर्थ की स्थिति के विषय में भी दोनों में मतभेद है; फिर भी अर्थ की महिमा को चुनौती दोनों में से किसी ने नहीं दी है।

: १ :

आधुनिक युग में पश्चिम में अर्थ की महिमा के समक्ष कुछ कवि-विचारकों ने प्रश्न-चिन्ह अवश्य लगाया है। मलार्मे ने तो यही कहा था कि कविता विचारों से नहीं, शब्दों से लिखी जाती है; आर्किबाल्ड मैक्लीश ने साफ़ ही कह दिया कि कविता का अर्थ नहीं, उसका होना प्रयोजनीय है; ए पोइम शुड नॉट मीन, बट बी। एज़रा पाउण्ड ने जब यह कहा कि कविता उपन्यास के उतनी निकट नहीं होती जितनी चित्रकला के, तो उनका अभिप्राय भी मैक्लीश के दृष्टिकोण के निकट था। चित्रकला में अर्थ की अभिव्यक्ति आवश्यक नहीं हैं, वह मात्र रूप-रचना हो सकती है, जबकि उपन्यास में अंकित कथा के रूप में अर्थ का अस्तित्व

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनिवार्य है। यदि कविता उपन्यास की अपेक्षा चित्रकला के अधिक निकट है तो उसमें अर्थ की अभिव्यक्ति अनिवार्य नहीं रह जाती—उसका रूप-गठन ही उसके काव्यत्व का निर्णायक बन जाता है।

कविता को अर्थ की अनिवार्यता से मुक्त करने के आग्रह की अपनी एक पृष्ठभूमि है। सौन्दर्यशास्त्रीय या नन्दतिक दृष्टिकोण कलाओं की मूलभूत एकता के प्रति आग्रही है। कलाओं की एकता की धारणा को कभी-कभी इतना तूल दिया जाता है कि उनकी अपनी माध्यमगत भिन्नता का विचार तिरस्कृत होकर रह जाता है। कलाओं की एकता की इस धारणा का प्रतिफलन इस रूप में भी देखने में आता है कि कला-धर्म रूप-सौष्ठव का पर्याय बन जाता है। अर्थ की ओर जाना रूप-सौष्ठव की शुद्धता से विचलन प्रतीत होता है; क्योंकि अर्थ का विचार रचना की मांसलता से हमारा ध्यान बँटाता है। जिस कला में कृति की मांसलता से अवधान के स्खलित होने की आशंका जितनी कम रहती है, वह उतनी ही शुद्ध मानी जाती है। इस दृष्टि से संगीत सर्वाधिक शुद्ध कला है। उसका कोई विषय होना आवश्यक नहीं। उसकी सार्थकता विशुद्ध रूप से रूप-संघटना (ध्वनि-संरचना) पर निर्भर रहनी है। इसी दृष्टि से संगीत अन्य कलाओं के लिए आदर्श है। संगीत के समान अन्य कलाओं से भी यह अपेक्षा की जाने लगती है कि उनकी गति अर्थनिरपेक्षता के इस आदर्श की उपलब्धि की दशा में हो।

चित्रकला अनेक बार विषय-चित्रण से मुक्त होकर कलाकार की स्वतन्त्र कल्पना को रंग-रूप देने में सार्थक होती है। अंकित चित्र अपने-आप में एक रूप-सृष्टि होता है, अपने से बाहर के किसी रंग-रूप के अंकन का आयोजन उसमें नहीं होता। ऐसा करके चित्रकार शुद्धकला के आदर्श को प्राप्त कर लेता है।

चित्रकार रेखाओं और रंगों से जो कार्य करता है, वही कार्य कवि शब्दों से कर सकता है। ऐसा होना इस सीमा तक सम्भव है कि समीक्षक को कवि के कृतित्व में कवि और चित्रकार का संघर्ष दिखलाई दे जाए। शमशेर के विषय में मुक्तिबोध ने लिखा ही था, "शमशेर की मूल मनोवृत्ति एक इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार की है। ......शमशेर ने अपने हृदय में आसीन चित्रकार को पदच्युत कर कवि को अधिष्ठित किया है। ...... पदच्युत चित्रकार के जिस सिंहासन पर कवि विराजमान है, वह सिंहासन अपनी जादुई शक्ति से कवि को बाध्य करता है कि वह इम्प्रेशनिस्टिक टेक्नीक और मनोवृत्ति अपनाये और इस प्रकार इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकला के मूल नियमों को काव्य-कला में गुप्त रूप से संस्थापित करे।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शमशेर की कविता में मुक्तिबोध को कवि और चित्रकार के कला-कर्म का जो विपर्यास दिखलाई दिया है, उसका कारण कलाओं की भूलभूत एकता की धारणा की अस्वीकृति न होकर एक कला के सर्जनात्मक आयामों को दूसरी में विस्थापित करने की जटिलता का ज्ञान है। काव्य और चित्रकला की माध्यमगत भिन्नता को लक्ष्य कर उन्होंने कवि और चित्रकार की भिन्न-भिन्न भूमिकाओं के एक हो जाने से उत्पन्न कठिनाई को ध्यान में रखा है। इस प्रसंग में शमशेर की कविता के विषय में जो कहा गया है, वह चित्रकार की भूमिका में उतरे हुए किसी भी कवि द्वारा कविता को अर्थ से मुक्त किए जाने की प्रक्रिया के विचार की दृष्टि से महत्वपूर्ण है: "शमशेर चित्रकार के सिंहासन पर बैठकर उस सिंहासन की जादुई शक्ति से संचालित होकर, अर्थात् चित्रकला से प्राप्त संस्कारों के वशीभूत हो कवि-कर्म करते हुए, उन विशेष क्षेत्रों में विचरण करने जाते हैं, जहाँ उनकी चित्रात्मक संवेदना और दृष्टि अधिक कारगर साबित नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए शब्द-ध्वनि रंग-शक्ति नहीं है।...भाषा द्वितीय संकेत व्यवस्था है। वह मूलभूत सूचनाओं की सूचना है। यह सूचना प्रथम की तुलना में काफी अमूर्त, एब्स्ट्रेक्ट है। इसलिए जब तक विशेष और विस्तृत तथा जटिल उपाय अमल में न लाए जाएँ, तब तक द्वितीय संकेत-व्यवस्था द्वारा दी गई सूचनाएँ प्रथम संकेत-व्यवस्था का उद्दीपन और उत्तेजन नहीं कर सकतीं। अतएव चित्रकला में, रंग-संकेत जितने कारगर हों, उतने केवल शब्द-संकेत काम न कर सकेंगे, जब तक कि विशेष उपाय अमल में न लाए जाएं।"

यह कहना शायद, सही नहीं है कि कविता में भी भाषा द्वितीय संकेत व्यवस्था होती है। सामान्य व्यवहार की भाषा से काव्यभाषा इसी बात में भिन्न होती है कि जहाँ पहली द्वितीय संकेत-व्यवस्था होती है वहाँ दूसरी प्रथम संकेत व्यवस्था बन जाती है। कविता की अपनी शक्ति द्वितीय संकेत-व्यवस्था को प्रथम संकेत-व्यवस्था में परिणत कर देने अथवा उसके निकट पहुंचा देने पर निर्भर रहती है। गणेश त्र्यम्बक देशपांडे ने भट्टनायक की रस-दृष्टि की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "काव्यगत शब्दों की अभिधा-शक्ति शास्त्रगत अभिधा के समान शुद्ध नहीं रहती। वह भावना तथा भोगीकरण-व्यापारों से मिश्रित रहती है।" इससे यह पता चलता है कि काव्य में प्रयुक्त शब्दों का काम सूचना देना न होकर विभावन अर्थात् रचना में भाव को सम्प्रेषण के उपादनों में समो देना होता है। इसीलिए काव्य में भाषा और सम्प्रेषण के उपादानों के मध्य व्यवधान नहीं रह जाता। कवि का मनोभाव जब रचना में व्यक्त होता है तो उसे सम्प्रेषणीय बनाते समय शब्द से अर्थ और अर्थ से भाव तक का फैलाव सिकुड़कर शब्द में इस तरह समा जाता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है कि सीधे शब्द-प्रयोग में उसे सम्प्रेषित करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है–कवि के शब्द-विधान में भाव का स्पंदन जिस प्राणशक्ति का संचार कर देता है, उसे केवल उन शब्दों में अनुभव किया जा सकता है और यह अनुभव उन शब्दों से सीधे होता है। शब्दों से भाव तक पहुँचने के लिए कोई सीढ़ियां नहीं चढनी पड़तीं–कोई अनुक्रम शब्द और भाव के मध्य नहीं रहता। इसीलिए रसानुभूति असंलक्ष्य क्रम ध्वनि मानी गई है। शब्द का अर्थ काव्य में भी बना रहता है, लेकिन उसका कार्य सूचना देना नहीं रह जाता; वह तत्काल भावप्रेषण में तिरोहित हो जाता है। सम्प्रेषण की प्रक्रिया में भाषा के इस वैशिष्ट्य को लक्ष्य कर भट्टनायक ने 'भावकत्व' व्यापार की स्थापना की थी। काव्य-भाषा साक्षात्कारों को वहन करने के कारण सीधे इन्द्रियबोध का उपादान होती है-वह सूचना न देकर अनुभव का विषय बनकर पाठक के लिए मानस-प्रत्यक्ष का मार्ग प्रशस्त कर देती है।

(२)

ऐसा इसीलिए होता है कि काव्य-भाषा में कल्पनाशक्ति समाई रहती है और वह अनुषंगों के बल पर उसे सीधे भावदीप्ति की क्षमता प्रदान करती है। यही कल्पनाशक्ति विभावन में ढल कर पाठक को भावकत्व की स्थिति सुलभ कराती है। आज भी, जब कि कविता का विचार रस की दृष्टि से करना बहुत संगत नहीं है, कविता में अभिधा के आगे विभावन और भावकत्व की धारणा सार्थक बनी हुई है। यह विभावन कहीं शब्दार्थ से चित्र की सृष्टि कर चित्र को ही भाव का आलम्बन बना देता है तो कहीं इस तरह की गई चित्र-सृष्टि सीधे कोई भाव न जगाकर रचनाकार के किसी आशय को मूर्त करने का निमित्त होती है। शमशेर और मुक्तिबोध दोनों ने शब्दार्थ से चित्र-रचना की है, लेकिन दोनों की चित्र-सर्जना में यह अंतर विद्यमान है। मुक्तिबोध ने अपने एक कल्पित मित्र के मुख से कहलाया है :–"विचारों को तुम तुरंत संवेदनाओं में परिणत कर देते हो फिर उन्हीं संवेदनाओं से तुम चित्र बनाते हो।" इस प्रकार मुक्तिबोध की फेंटेसियाँ संवेदनामय विचारों की अभिव्यक्ति का निमित्त हैं जब कि शमशेर के काव्य में उपलब्ध चित्र स्वयं संवेद्य हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

सींग और नाखून

सींग और नाखून
लोहे के बख्तर कंधों पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सीने में सूराख हड्डी का
    आँखों में घास-काई की नमी।
एक मुर्दा हाथ
    पाँव पर टिका
    उलटी कलम थामे।
तीन तसलों में कमर का घाव सड़ चुका है।
जड़ों का भी कड़ा जाल
हो चुका पत्थर।

इस कविता में शब्दार्थ से एक चित्र बनाया गया है। शब्दों का अर्थ चित्र-रचना के लिए काम आया है। चित्रकार जो काम रेखाओं से करता वह शमशेर ने शब्दों के अर्थ से किया है। यदि चित्र में रेखाएँ प्रारंभिक सूचना देती हैं तो इस कविता में शब्द-प्रयोग को द्वितीय संकेत-व्यवस्था या सूचना की सूचना मानने का कोई कारण नहीं है; लेकिन इसके आगे यह कविता यदि किसी अर्थ को वहन करती है तो वह उस भाव की दीप्ति से भिन्न नहीं हो सकता जो इन शब्दों से प्राप्त चित्र की अनुक्रिया के रूप में पाठक या श्रोता के मन में उत्पन्न होता है। यदि यह चित्र शब्दों से न बनाया जाकर रेखाओं से बनाया जाता तो भी उसमें यह अर्थ रहता। वास्तव में यह अर्थ रचना का आस्वाद है—कलाकार द्वारा प्रदत्त निर्मिति का पाठक की चेतना से सम्पर्क होने पर उसे जो अनुभव होता है, वह है। कथ्य या आशय अथवा अभिप्रेत के अर्थ में भी इस कविता में कवि के मंतव्य की खोज की जा सकती है, लेकिन मंतव्य हाथ आने पर वह अनुभव बना न रह सकेगा जो इन पंक्तियों में प्रयुक्त शब्दों से बने चित्र से प्राप्त होता है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि चित्र शब्दों से बना है या रेखाओं से। दोनों स्थितियों में चित्र से चेतना का सम्पर्क रचना के आस्वाद के रूप में अनुभव का विषय बनता है। चित्र चाहे रेखाओं से बना हो चाहे शब्दों से, उसके आशय की खोज उस अनुभव का मूल्य चुकाकर ही की जा सकती है जो उसके आस्वाद से प्राप्त होता है। चित्र जब कलाकार के मन्तव्य तक पहुंचने का साधन-मात्र रह जाता है तो उसका सर्जनात्मक वैशिष्ट्य उसके अर्थ में तिरोहित हो जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांशतः कविता में कवि का आशय व्यक्त होता है और कवि अनेक बार चित्रों की सृष्टि अपने आशय को मूर्त बनाने के लिए करता है। इस स्थिति में कविता का आशय उन चित्रों से बिलगाया जा सकता है; लेकिन इस प्रक्रिया से जो अर्थ हाथ लगता है, वह काव्यानुभव—विरहित ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो सकता है। काव्य का अर्थ-ग्रहण आपत्तिजनक नहीं है, लेकिन काव्यानुभव के मूल्य पर—दूसरे शब्दों में, कविता को विघटित करके—प्राप्त किया गया अर्थ कला की ओर पीठ किए रहता है। इसलिए उसका कोई कलात्मक मूल्य नहीं रह जाता। किसी रचना का आशय कलात्मक दृष्टि से तभी मूल्यवान् हो सकता है जब उसके सर्जनात्मक वैभव की चेतना के मध्य वह ग्रहण किया गया हो। रचना को उसकी मांसलता में ग्रहण करने पर ही ऐसा हो सकता है—कवि के मनोभाव की अभिव्यक्ति ने जो विभावन-कल्पना-सृष्टि-रचना में उपलब्ध कराया है, उसे आत्मसात् करते हुए जब अर्थ ग्रहण किया जाता है तभी कला-संवेदना की दृष्टि से उसका कोई मूल्य हो सकता है। उदाहरण के लिए अब्दुल बिस्मिल्लाह की कविता 'लोहे की दीवार' ली जा सकती है। इस कविता में कवि ने जो मन्तव्य प्रकट किया है, उसका कलात्मक मूल्य उस अनुभव को दीप्त करने की क्षमता में निहित है जो शब्दार्थ से रचे गए चित्रों के भीतर प्राप्त होता है। इस कविता की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

न तुम बैलट की चाप सुन सकोगे
न गिट्टियों की चीखें
बैलट के पहियों में मोजे हैं
और गिट्टियों की जबानें कटी
इसलिए तुम भी अपनी बार
चीखने का नहीं, बचने का यत्न करना

तुम अभी मौन हो इसलिए पता नहीं है
कि तुम्हारे दाँतों के आगे
और ओठों के पीछे
लोहे की दीवार खड़ी है।

इन पंक्तियों में बिस्मिल्लाह ने मताधिकार की प्रवंचना उद्घाटित की है। जनता निर्वाचन के जिस अधिकार का भ्रम पाले रहती है, उसी का उपयोग सत्ता उसे फुसलाने के लिए करके चुपचाप उसका दमन करती रहती है। यह आशय इन पंक्तियों से ग्रहण किया जा सकता है, लेकिन इसमें वह काव्य हमारे हाथ नहीं आता जो कवि के कल्पना-समृद्ध शब्द-प्रयोग में निहित है। बैलट की कल्पना रोलर के रूप में करने के साथ जनता को उससे कुचली जा रही गिट्टियों का रूप देकर कवि ने सादृश्य के बल पर दोनों के मध्य जो नया सम्बन्ध विधान किया है, उसी में इन पंक्तियों की मार्मिकता निहित है। जैसे ही यह कवि-कल्पित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्बन्ध-विधान हमारे ध्यान से हटता है, वैसे ही आशय कवित्वशून्य रह जाता है। बैलट के पहियों में मोजे होने और गिट्टियों की जबानें कटी होने की कल्पना नेइस सम्बन्ध को और भी संश्लिष्ट बना दिया है। इसी प्रकार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से वंचित होने की व्यथा का अनुभव लोहे की उस दीवाल की कल्पना के बिना असम्भव है जो दाँतों के आगे और ओठों के पीछे खड़ी बतलाई गई। इस कल्पना से आशय को पृथक् कर कवि का मन्तव्य ग्रहण किया जा सकता है, कविता नहीं।

कई बार ऐसा भी होता है कि कथ्य के स्तर पर कवि का देय बहुत साधारण या महत्त्वहीन होता है, लेकिन वह कथ्य कवि-मानस की जिन प्रतीतियों के भीतर आकार ग्रहण करता है, वे असाधारण होती हैं। चन्द्रकात देवताले की एक कविता है–'एक नदी'। इस कविता में उन्होंने प्रेमिका की याद आने पर होनेवाला अनुभव अंकित किया है। यह विषय न तो नया है न असाधारण, लेकिन प्रेमिका की याद आने पर होनेवाले अनुभव को देवताले ने जिन प्रतीतियों में प्रस्तुत किया है वे अपने-आप में अपूर्व हैं।

एक नदी

न जाने कौन से अक्षांश
        और देशान्तर पर
नींद की नदी सूरज की चट्टान से
        टकरा गयी
और उजाले की एक पीली चमकदार
        कश्ती में बैठी हुई वह
जैसे अपने ही भीतर उगे
सुर्खरंगी फूलों के पौधों को नोचती रही
पूरे अस्तित्व के शीशे पर उसके स्वर
बौछारों की तरह टकराते रहे
और हम धूप और छाया के
        जंगलों में बहती
एक पानीहीन नदी में
        गुमसुम नहाते रहे।

अनायास याद आजाने की घटना प्रतीति में ढलकर अनजाने-अनचीन्हे क्षेत्र में नींद की नदी के सूरज की चट्टान से टकरा जाने का दृश्य बन गई। विस्मरण से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एकाएक स्मरण की स्थिति में पहुँच जाने को कवि ने नींद की नदी के विपरीत सूरज की चट्टान की कल्पना में प्रत्यक्ष किया है और विस्मरण (नींद की नदी) पर स्मरण के हावी हो जाने के अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए सूरज की चट्टान से उसके टकरा जाने को उजाले की चमकदार कश्ती, सुर्खरंगी फूलों के पौधों को नीचे जाने और अस्तित्व के शीशे पर बौछार की तरह स्वरों के टकराते रहने में प्रतिफलित होते देखा है।

कविता में इन्द्रियबोध सदा इतना प्रखर नहीं होता; फिर भी उसके होने का भान पाठक को होता है और यह भान उसे अर्थ में विघटित किए जाने के प्रतिवाद के लिए पर्याप्त कारण है। इन्द्रियबोध के अभाव की स्थिति में कभी-कभी प्रतीकानुषंग पूरे शब्द-प्रयोग को लाक्षणिक भंगिमा से सम्पन्न कर जिस विदग्धता की सृष्टि करते हैं उसी में कविता का होना निहित रहता है। नन्दकिशोर आचार्य की कविता 'बाँसुरी : मोरपाँख' के उदाहरण से यह बात समझी सकती है:

बुरा तो नहीं मानोगे
यदि मुझे, अब
तुम्हारी बाँसुरी बने रहना
　　स्वीकार नहीं।
यह नहीं कि मैं उपेक्षित हुआ—
बल्कि अधरों पर तुम्हारे सदा
　　सज्जित रहा;
किन्तु मेरा कब रहा संगीत वह
जो मेरे रन्ध्र-रन्ध्र से बहा।
मुझ से तो अच्छी रही
वह मोर-पाँख
जो तुम्हारे मुकुट पर चढ़ी
—और न भी चढ़ती
पर जिसका सौन्दर्य
उसका अपना था।

इन पंक्तियों का कवित्व मुख्य रूप से दो प्रतीकों बाँसुरी और मोरपाँख—से संकेतित परस्पर विपरीत स्थितियों को आमने-सामने कर देने पर टिका है। इन प्रतीकों से निस्सृत होकर सांकेतिकता पूरी कविता में फैल गई है। इससे 'संगीत' और 'सौन्दर्य' को नई अर्थवत्ता ही नहीं, नई दीप्ति भी प्राप्त हुई है जिसका स्रोत अनुषंगजन्य लाक्षणिक वक्रता है। अधरों पर सज्जित होने और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मुकुट पर चढ़ने की सांकेतिकता को भी इसी स्रोत से ऊर्जा प्राप्त हुई है। इस प्रकार पूरी रचना में बाँसुरी और मोरपाँख के प्रतीकों से उद्गत प्राणधारा व्याप्त हो गई है। इस कविता में ये प्रतीक केवल अर्थ के उपादान न होकर रचना के मांसल अवयव हैं। यदि इनके प्रतीकार्थ को अलग कर यह कह दिया जाए कि किसी का साधन बनने से अधिक महिमामय अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखना है, भले ही साधन बनकर कितना ही बडप्पन क्यों न पाया जाए; तो कविता हमसे छूट जाती है—कलानुभव से हम वंचित रह जाते हैं।

यह भी सम्भव है कि कविता न तो इन्द्रिय-प्रत्यक्षों की प्रखरता पर निर्भर हो न प्रतीकानुषंगों की लाक्षणिक वक्रता पर; फिर भी कविता कविता होने के नाते महत्त्व की अधिकारिणी हो, अर्थ के नाते नहीं। राजेश जोशी की कविता 'नींद' में नीद न आने की शिकायत एक मुहावरे के सहारे की गई है जिसमें लक्षणा का प्रयोग माना भी जाए तो वह रूढ़ा लक्षणा ही होगी जिसकी भास्वरता रूढ़ि ने नष्ट नहीं तो क्षीण अवश्य कर दी है, फिर भी कविता का अस्तित्व उसमें बना हुआ है :

नींद

तकिए में
कपास का एक पेड़
कपास के फूल पर
चिड़िया नहीं आती
नींद
किस चिड़िया का नाम है।

इन पंक्तियों में उपलब्ध कविता उस कल्पना में निहित है जिसने चिड़िया के सेतु से तकिए के कपास से और नींद न आने की स्थिति को जोड़ा है। इस सम्बन्ध-विधान के लिए एक ओर कपास के फूल पर चिड़िया के आने से सम्बन्धित लोक विश्वास और दूसरी ओर 'किस चिड़िया का नाम है' मुहावरे को लेखक की कल्पना ने परस्पर सम्बद्ध कर दिया है। यह इतने सहज, संयत ढंग से नपे-तुले शब्दों में किया गया है कि मुहावरा लोकविश्वास के भीतर खप गया है जिससे नींद न आने की शिकायत में विलक्षणता आ गई है।

इस सन्दर्भ में 'सपाट बयानी' जैसी संज्ञा भ्रम उत्पन्न करती है क्योंकि उससे 'बयान' के भी कविता होने की सम्भावना व्यक्त होती है। डॉ. नामवर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सिंह ने सपाटबयानी का उदाहरण देने के लिए नागार्जुन की जो कविता उद्धृत की है, उसमें प्रयुक्त भाषा अंशतः भावसम्पृक्त लाक्षणिक वक्रता से सम्पन्न है। उस कविता में 'चूल्हा रोया' 'चक्की रही उदास' जैसी लाक्षणिक क्रियाओं का प्रयोग ही नहीं किया गया है, अनेक स्थितिव्यंजक चित्र भी उसमें अंगीभूत हैं :

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उसके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।

दाने आये घर के अन्दर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन के ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठीं घर भर भी आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद।

फिर भी इस कविता का सर्जनात्मक वैशिष्ट्य भाव-सम्पृक्त लाक्षणिक वक्रता अथवा स्थिति–व्यंजक चित्र–सर्जना तक सीमित नहीं है। वह इन विशेषताओं से समन्वित उस भाषिक क्षमता में निहित है जिसने अकाल की दारुण स्थिति का अनुभव समय के फैलाव में व्यक्त किया है। प्रथम पद्य की हर पंक्ति के आरम्भ में 'कई दिनों तक' की आवृत्ति इस काल–व्याप्ति के भान को विशदता प्रदान कर गई है। अगले पद्य की प्रत्येक पंक्ति के अन्त में 'कई दिनों के बाद' का प्रयोग कर कवि ने उस स्थिति से मुक्त होने में लगे समय की लम्बाई की चेतना को सघन किया है। पहले पद्य में उस स्थिति के लम्बे समय तक बने रहने को मूर्त किया गया है तो दूसरे पद्य में उससे उबर पाने में लगी देर साकार हुई है। स्थिति की निरन्तरता को कवि ने पहले विद्यमानता के बिन्दु से फिर समापन के बिन्दु से आँका है। इस प्रकार दो रूपों में आकार ग्रहण करते हुए भी पूरी कविता में काल-व्याप्ति का बोध ही मुख्य रहा है, फिर भी कविता में एकस्वरता नहीं आने पाई है क्योंकि कवि ने उसे जिन दो विपरीत बिन्दुओं से अंकित किया है, उनके फलस्वरूप अभिप्राय की एकता-स्थिति के साक्षात्कार की विभिन्नता में खो गई है।

स्पष्ट है कि इस कविता का काव्यत्व या उसके कविता होने का श्रेय बयान की सपाटता या सपाट बयानी को नहीं, रचना-कर्म की सूक्ष्मता को है जिससे काल-व्याप्ति की संवेदना को कल्पना में ढालकर उसे आत्मसात् कर सकने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में सक्षम भाषा में उतारा। कलात्मक दृष्टि से मूल्य इस सर्जनात्मक वैशिष्ट्य का ही है, कविता के आशय का नहीं। कविता का कथ्य नितान्त अखबारी है जबकि उसकी सर्जनात्मक परिणति कला की अपनी विभूति है।

: ३ :

भाषा में कल्पना के रचाव के स्थान पर कवि जब अपनी बात खोल कर समझाने लगता है तो रचना की संश्लिष्ट आवयविकता ख़तरे में पड़ जाती है। ऐसा होने पर घटकों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होने लगती है और संरचना में जोड़ स्पष्ट दिखलाई देने लगते हैं। समर्थ कवि भी जब अर्थ-प्रेषण के लिए अपनी कल्पना को विश्लिष्ट रूप में अंकित करता है तो उसकी सर्जनात्मक क्षमता क्षीण होकर प्रकट होती है। मुक्तिबोध सामान्यतया अपनी संवेदना को फैन्टेसी में पर्यवसित कर देते हैं, लेकिन 'भूल-गलती' इसका अपवाद है। इस कविता में उन्होंने प्रतीक और प्रतीकार्थ की भेदक रेखा को इतना उभार दिया है कि रचना में प्रस्तुत-अप्रस्तुत का द्वैध बराबर बना रहा है जिसमें आरोप का प्रयत्न स्पष्ट झलकता है। इसी प्रकार **रामचरितमानस** के छोटे-बड़े सांगरूपकों में प्रस्तुत-अप्रस्तुत के जोड़ साफ़ दिखलाई देते हैं। 'मानस' में कहीं-कहीं मन्तव्य की स्पष्टता की चेष्टा सादृश्य को एकदम अनावृत कर गई है। उदाहरण के लिए :

> अर्क जवास पात बिन भयउ। जस सुराज खल उद्यम गयउ॥

और

> अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदयँ बसइ धन जैसे॥

में कल्पना की संश्लिष्टता के दर्शन ही नहीं होते।

: ४ :

लेकिन कविता के अर्थ से उसके 'होने' को अलगाने की आवश्यकता अधिक इसलिए अनुभव होती है कि अनेक बार कविता के मूल्यांकन के नाम पर उससे दुहे गए अर्थ का मूल्यांकन किया जाने लगता है। मैक्लीश ने जब अर्थ को परे धकेल-कर कविता के 'होने' पर बल दिया तो इस प्रकार के मूल्यांकन का प्रतिवाद ही किया था। अर्थ का विरोध करते हुए उन्होंने रचना की मांसल प्रतीति का प्रतिपादन करके प्रकारान्तर से उस भारतीय काव्यदृष्टि के पक्ष में अपना मत व्यक्त किया जो शब्दार्थ के सायुज्य के रूप में भाषा में कल्पना के रचाव को काव्य का लक्षण या कम-से-कम उसका शरीर मानती थी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कला के प्रति निष्ठावान समीक्षक 'अर्थ' से 'रचना' की भिन्नता के विषय में प्राय: सचेत रहता है। मुक्तिबोध ने शमशेर के काव्य पर विचार करते समय उनके काव्य के कथ्य पर कोई टिप्पणी न करके उनकी कला-प्रवृत्ति की ही व्याख्या की। इस प्रसंग में 'रचना' और अर्थ के अन्तर का प्रतिपादन किए बिना ही अपने समीक्षा कर्म के लिए उन्होंने 'अर्थ' को छोड़कर रचना को ग्रहण किया है। कामायनी : एक पुनर्विचार में उन्होंने कृति के निर्वचन से उपलब्ध कथ्य का मूल्यांकन किया है। यह निर्वचन उनका अपना है और उसमें भूल भी हो सकती है; फिर भी इस विषय में वे सचेत थे कि यह मूल्यांकन 'अर्थ' का था, कविता का नहीं। उक्त समीक्षा-ग्रंथ में उन्होंने बार-बार इस बात की चर्चा की है कि वे **कामायनी** के काव्यत्व का मूल्यांकन नहीं कर रहे। यही कारण है कि समीक्ष्य कृति के निर्वचन से प्राप्त अर्थ में उन्हें जिस जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति जान पड़ी उसका डट कर विरोध करते हुए भी वे उसके सर्जनात्मक वैभव की प्रशंसा रह-रहकर मुक्त कंठ से करते रहे।

: ५ :

फिर भी कला के कलाबाह्य उपयोग की सम्भवना और उसके औचित्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। अन्य कलाओं के समान कविता का भी नानाविध उपयोग होता है। इस उपयोग के अन्तर्गत रचना' और 'अर्थ' दोनों का लाभ लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई कविता किसी विक्षिप्त कवि की है, अथवा कविता रच चुकने के बाद वह विक्षिप्त हो गया हो तो उसकी 'रचना के माध्यम से उसके विक्षेप के मूल तक पहुँचा जा सकता है। इससे उसकी चिकित्सा में सहायता मिल सकती है; लेकिन वह उसकी 'रचना' का उपयोग है, जो उसके कविता होने का अनुभव नहीं करा सकता। खोजने पर कविता के इस उपयोग के उदाहरण मिल जाएँगे, लेकिन उनकी कलात्मक सार्थकता का दावा किया जाने का कोई उदाहरण नहीं मिल सकता। इसलिए ऐसा उपयोग कला के क्षेत्र में कभी चिन्ताजनक नहीं माना गया।

इसके विपरीत कविता के अर्थ के उपयोग ने कला को समझ के लिए बहुत बार खतरा पैदा कर दिया है। कविता से दुहे गए अर्थ में समाज-चेतना, संस्कृति-बोध और इतिहास-दृष्टि और बहुत-कुछ दूसरी चीजें खोजी जा सकती हैं। ये चीजें उसमें रहती हैं, इसलिए उनकी खोज में कुछ भी अनुचित नहीं है। अनुचित यह तब हो जाता है जब इनके सहारे कलाकार की महानता नापी जाने लगती है अर्थात् जब अर्थ में इन चीजों की खोज को कला-मूल्यों का स्थानापन्न बना दिया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाता है। इससे कला-विषयक निर्णय गलत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'प्रसाद' कवि की अपेक्षा नाटककार के रूप में महान् हैं!

यह स्थिति कला-मूढ़ता की द्योतक है, जिससे कविता के मूल्यांकन को बचाना आवश्यक है। कविता के 'अर्थ' का जो भी मूल्य हो, उसका 'होना' उसमें निहित नहीं रहता। जिसे आवश्यकता हो, वह कविता से अर्थ दुह ले, कला का सरोकार 'रचना' से उत्पन्न काव्यानुभव से है, अर्थ से नहीं।

– जगदीश शर्मा

५६, गोल्फ कोर्स
जोधपूर (राजस्थान)

समसामयिक परिप्रेक्ष्य में मुंशी प्रेमचन्द के साहित्य के विविध आयामों का हिंदी के मर्मज्ञ और मूर्धन्य समीक्षकों द्वारा पुनर्मूल्यांकन

प्रेमचन्द : सृष्टि और दृष्टि

सम्पादक : चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशक : महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा
नारायण पेठ, पुणे–४११०३०

सजिल्द, मूल्य २५ रु. मात्र

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (४)

मू. "यदा यदुत्पन्नं सत् कार्यानुकूलसहकारिमध्यमधिशेते तदा तदेव कार्यं प्रति तस्य प्रयोजकत्वमिति चेत्" तत्किमवान्तरजातिभेदमुपादाय बीजस्वभावेनैव वा ? आद्ये स एव जातिभेदस्तत्र प्रयोजकः, किमायातं बीजत्वस्य । द्वितीये तु समानशीलानामपि सहकारिवैकल्यादकरणमित्यायातम्, तत्तत्सहकारिसाहित्ये सति तत्तत्कार्यम्प्रतिप्रयोजकस्य बीजस्वभावस्य सर्वसाधारणत्वादिति ।

बीज से अन्य बीज, अङ्कुर या बीजानुभव इन तीनों में से कोई भी क्यों उत्पन्न नहीं होता इस आशंका के निवारणार्थ बौद्धों की ओर से यह प्रतिवाद संभव है कि (एकही कारण के अनेक कार्य होनेपर भी) जिस कार्य की कारणसामग्री के मध्य में अवस्थित होकर कोई कारण उत्पन्न होता है, उसी कार्य के लिये वह कारण उपयुक्त होता है, अन्य के लिये नहीं । अतः बीज हर समय उक्त तीनों कार्य संपन्न नहीं कर पायेगा । इसपर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि बीज जिस किसी कार्य के लिये (विभिन्न परिस्थितियों में) जो प्रयोजक होता है वह 'तत्काल कार्यकारिरूप' से होता है या बीजरूप से ? यदि 'तत्कालकार्यकारित्व' ही बीज की प्रयोजकता का निर्धारक माना जाय तो बीजत्व की कहीं आवश्यकता नहीं रह जायेगी । इस आपत्ति को टालनेके लिये यदि बीजत्व को बीजप्रयोकता का निर्धारक मानें तो सभी बीजत्वयुक्त बीज अङ्कुरकारक हैं, किन्तु वे सहकारि (मध्य में अवस्थित) सहकृत न हों तो अङ्कुरोत्पादन नहीं कर सकते ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है । सहकारियों की उपस्थिति में कार्योत्पादन समर्थ जो बीज (स्वरूप बीज)-स्वभाव है वह सभी बीजों में एकसमान ही विद्यमान होता है ।

मू. अत्रापि प्रयोगः– यद्येन रूपेणार्थक्रियासु नोपयुज्यते न तत् तद्रूपम्, यथा बीजं कुञ्जरत्वेन किञ्चिदप्यकुर्वन्न कुञ्जरस्वरूपम्, तथा च शाल्यादयः सामग्रीप्रविष्टाः बीजत्वेनार्थक्रियासु नोयुज्यन्त इति व्यापकानुपलब्धिः प्रसङ्गहेतुः तद्रूपताया अर्थक्रियां प्रति योग्यतया व्याप्तत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उक्त बात सिद्ध करने के लिये (बौद्ध विचारपद्धति का अनुसरण कर) प्रसङ्गानुमानरूप प्रमाण भी प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके लिये अपेक्षित व्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार होगा : जो वस्तु जिस रूप से किसी कार्य के लिये उपयुक्त नहीं होती वह वस्तु उस रूपसे युक्त नहीं होती; जैसे बीज का हाथी के रूप से किसी कार्य के लिये उपयुक्त नहीं होनेसे वह हाथी के रूप से युक्त नहीं होता। अत: किसी वस्तु को किसी धर्मयुक्त होने के लिये उसे उस धर्म से किसी कार्य में व्याप्त होना आवश्यक है। किन्तु बौद्धामतानुसार खेत में बोया बीज भी 'तत्कालकारि'स्वरूप से ही अङ्कुरोत्पादक होता है। अत: ऐसे बीजमें उक्त व्याप्य-व्यापकभावान्तर्गत 'बीज' रूप से 'अङ्कुरोत्पादकत्व'रूप व्यापकधर्म विद्यमान नहीं है। इस कारण उसमें बीजरूप व्याप्यधर्म भी नहीं रह सकता। (व्यापक धर्म न होने पर व्याप्यधर्म का होना सभव नहीं।) तात्पर्य यह है कि यदि बीजत्व का किसी कार्य के लिये उपयोग ही न हो तो उसकी बीज में सत्ता मानना निराधार है।

मू. "तद्रूपत्वमेतस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादशक्यापन्हवमिति चेत्" अस्तु तर्हि विपर्ययः—यद्यद्रूपं तत् तेन रूपेणार्थक्रियासूपयुज्यते, यथा स्वभावेन सामग्रीनिवेशिनो भावाः, बीजजातीयाश्चैते कुशूलस्थादय इति स्वभावहेतुः तद्रूपतामात्रानुबन्धित्वाद्योग्यतायाः,

उक्त कथनपर बौद्धों की ओर से यह प्रतिवाद हो सकता है कि बीजत्व किसी कार्य का प्रयोजक न भी हो तो भी अकार्यकारी बीज में भी उसकी उपस्थिति प्रत्यक्षगम्य ही होनेसे उसका अस्वीकार संभव नहीं। इसपर नैयायिक भी विपर्ययानुमानद्वारा यह सिद्ध कर सकता है कि यदि बीज में बीजत्व की अवस्थिति मान ली जाती है तो ऐसे बीज को कोई न कोई कार्य अवश्य संपन्न करना होगा। अनुमानार्थ अपेक्षित व्याप्ति इस प्रकार है: जो वस्तु जिस स्वरूप से युक्त होती है वह उस स्वरूप से कोई-न-कोई कार्य सम्पन्न करती ही है। जो वस्तु स्वरूपविशेष से युक्त नहीं होती वह उस स्वरूप से कोई भी कार्य नहीं कर पाती। जैसे पत्थर बीज न होने से बीज का कार्य नहीं कर पाता। सामग्रीमध्यस्थित बीज तत्कालकार्यकारित्वरूप से युक्त होने से अङ्कुरोत्पादन का कार्य करता है। भंडार में रखा गया बीज बीजत्वयुक्त है। अत: उसे बीजरूप से कोई न कोई कार्य करना ही चाहिये।

मू. ततश्चास्ति किञ्चित्कार्यं यत्र बीजत्वेन बीजमुपयुज्यत इति। "बीजानुभव एवासाधारणं कार्यं यत्र बीजत्वं प्रयोजकं तच्च सर्वस्मादेव बीजाद्भवतीति किमनुपपन्नम् इति चेत्" न, यौगिकतदनुभवस्य तदन्तरेणाप्युपपत्तेः। "लौकिक इति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चेत्" सत्यमेतत् नत्विदमवश्यं सर्वस्माद्बीजाद्भवति इन्द्रियादिप्रत्यासत्तेरसदातनत्वात्, असार्वत्रिकत्वाच्च,

तो ऐसा कोई न कोई कार्य होना आवश्यक है जिसके लिये बीज रूप से बीज उपयोगी हो सके। क्या बीज का ज्ञान ही ऐसा कार्य होगा जिसके लिये बीज मात्र विशेषकारण हो सके ? नहीं; बीज उपस्थित न होने पर भी योगसामर्थ्य से प्राप्त होनेवाले बीजविषयक ज्ञान के लिये बीज की आवश्यकता नहीं होती। यदि कहें कि बीज के लौकिक (या सामान्य) ज्ञान के लिये ही बीज की जरूरत (विषयक के रूप में) पड़ती है तो उत्तर होगा कि यह बात सच नहीं है। सभी बीजों से बीजविषयक ज्ञान घटित होना बीज के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष घटित होने पर निर्भर है। किन्तु यह सन्निकर्ष कभी कभी ही घटित होता है और वह भी विशेष परिस्थितियों में ही।

मू. ततश्च योग्यमपि सहकार्यसन्निधानान्न करोतीत्यर्थसिद्धम्। "कार्यान्तरमेवातीन्द्रियं सर्वबीजाव्यभिचारि भविष्यतीति चेत्" तन्न, तावदुपादेयम्, अमूर्तस्य मूर्तानुपादेयत्वात्, परिदृश्यमानमूर्तघटिततया मूर्तान्तरस्य तद्देशस्यानुपपत्तेः। नापि सहकार्यम्, मिथःसहकारिणामव्यभिचारानुपपत्तेः।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बीज स्वप्रत्यक्षजनक होने पर भी जबतक उसके साथ इन्द्रियरूप सहकारियों का सन्निधान नहीं होता तबतक वह यह प्रत्यक्षज्ञान भी उत्पन्न नहीं कर सकता। इसका तात्पर्य यह है कि समर्थ कारण के लिये भी सहकारियों की आवश्यकता होती है। इस पर यह प्रतिवाद संभव है कि सभी बीजों से उत्पन्न हो सकनेवाला कोई इन्द्रियगोचर ऐसा कार्य होगा जिसके लिये केवल बीज ही आवश्यक हो। किन्तु यह कार्य न बीज-समवेत होगा न बीज-निमित्तक। बीज-समवेत कार्य या तो अमूर्त (निराकार) होगा या मूर्त। बीज मूर्त होनेसे कोई अमूर्त वस्तु उसमें समवेत नहीं हो सकती। कोई मूर्त वस्तु भी बीज-समवेत नहीं हो सकती। क्योंकि बीज-समवेत (या बीज से उत्पन्न होनेवाला) अङ्कुर भी है; अतः यदि अन्य कोई मूर्त वस्तु बीजमात्र का कार्य हो तो वह अंकुर के स्थान में नहीं रह सकती। दो मूर्त पदार्थों का एक ही स्थान में रहना संभव नहीं है। बीजनिमित्तक कार्य भी सहकारि-सहकृत बीज-निमित्तक हो (सहकारिविरहित समर्थ वस्तु भी कार्योत्पादन नहीं करती यह बात सिद्ध हो गयी है।) तो जो बीज सहकारि-सहकृत नहीं होगा वह इस कार्य का निमित्त-कारण नहीं होगा। ऐसी परिस्थिति में बीज-सामान्य का कोई कार्य है यह बात सिद्ध नहीं होगी जिससे बीज-स्वभाव निष्प्रयोजन मानना अनिवार्य हो जायेगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मू. अपिचैवंसति प्रयोजकस्वभावो नान्वयव्यतिरेकगोचरः, तद्गोचरस्तु न प्रयोजकः, दृश्य च कार्यजातमदृश्येनैव स्वभावेन क्रियते, दृश्येन त्वदृश्यमेवेति, सोऽयं 'यो ध्रुवाणी 'त्यस्य विषयः ।

उक्त आपत्तियों को देखते हुए कहना पड़ता है कि बौद्धों के कथनानुसार जो 'कुर्वद्रूपत्व' जैसा धर्म कार्य-अंकुर के लिये अपेक्षित है उसका इस कार्य के साथ साहचर्य प्रत्यक्षगम्य नहीं और जिस बीजत्व जैसे धर्म का अंकुर के साथ साहचर्य प्रत्यक्षगम्य है वह अंकुर का प्रयोजक नहीं; वैसे ही दृश्य अंकुर जैसा कार्य अदृश्य कुर्वद्रूपत्वरूप धर्मद्वारा निर्धारित होता है और कोई अतीन्द्रिय कार्य दृश्य बीजस्वभाव से निर्धारित होता है। ये सारी विचित्र बातें

'यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि च सेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुव नष्टमेव च ॥'

इस कहावत की याद दिलाती हैं। इसका मतलब है कि जो व्यक्ति निश्चित बातों को छोड़कर अनिश्चयात्मक बातों के पीछे लगता है वह निश्चित और अनिश्चित दोनों बातों से हाथ धो बैठता है।

मू. अथवा व्यतिरेकेण प्रयोगः–विवादाध्यासितं बीजं सहकारिवैकल्य-प्रयुक्ताङ्कुरादिवैकल्य तदुत्पत्तिनिश्चयविषयीभृतबीजजातीयत्वात्, यत्नः सहकारिवैकल्यप्रयुक्ताङ्कुरादिवैकल्यं न भवति न तदेवम्भूत बीजजातीयं, यथा शिलाशकलमिति ।

अबतक विशद की हुई बातों को ही व्यतिरेकानुमान के द्वारा नैयायिक संक्षेप में पुनः उपस्थित करता है। अनुमान इस प्रकार है: विवादास्पद कुशलस्थ बीज सहकारियों से सहकृत होने के कारण ही अंकुररूप कार्य उत्पन्न नहीं कर पाता; क्यों कि वह निश्चय से अकुरोत्पादक बीज की जाति का है। जो पत्थर जैसी वस्तु सहकारियों के न होने से अंकुरोत्पादन नहीं करती वह अंकरोत्पादक बीज को जाति की भी नहीं होती।

मू. "न च किमुक्तसाध्यव्यावृत्तेरुक्तसाधनव्यावृत्तिरुदाहृतत्वात् किं वा परम्परयापि तथाविधप्रसवसामर्थ्यविरहादिति व्यतिरेकसन्देह इति वाच्यम्"। प्रागेव शंङ्काबीजस्य निराकृतत्वादिति ।

उक्त व्यतिरेकानुमान के लिये आधारभूत व्यतिरेक व्याप्ति के बारे में एक संदेह संभव है। वह यह है कि पत्थर जैसे व्यतिरेक दृष्टान्त में सहकारिविरहयुक्त अंकुरानुत्पादकत्व के अभाव के कारण बीजजातीयत्व का अभाव है यह बात न होकर संभवतः परंपरया अंकुरोत्पादकता का अभाव होने के कारण ही उसमें बीज-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जातीयत्व का अभाव हो। सरल शब्दों में, संदेह इस बात को लेकर हो सकता है कि 'कुर्वद्रूप' बीज से भिन्न होने के कारण ही शायद पत्थर बीजजातीय न हो। इसपर नैयायिक उत्तर देतें हैं कि 'कुर्वद्रूपत्व' जैसे धर्म का निकारण किया जा चुका होने से ऐसा संदेह उठ ही नहीं सकता।

मू. "स्यादेतत्, मा भूत् सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गः, अस्तु बीजत्वमेव प्रयोजकम्, भवतु च सहकारिसमवधाने सति कर्तृस्वभावत्वं भावस्य, तदा च तदसन्निधानेऽकरणमप्युपपद्यताम्, तथापि तज्जातीयमात्र एवेयं व्यवस्था न त्वेकस्यां व्यक्तौ, करणाकरणलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गस्य प्रत्यक्षसिद्धतया तत्र दुर्वारत्वादिति चेत्"। न विरोधस्वरूपानवधारणात्।

अब एक नया (क्षणभंगसाधक) तर्क प्रस्तुत करने के उद्देश्य से बौद्ध भूमिका बना रहे हैं। वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि कार्यकरणसामर्थ्य तथा असामर्थ्य इन दो विरुद्ध धर्मो का किसी वस्तु में सहावस्थान नहीं होता। बीजगत बीजत्व ही अंकुर-प्रयोजक होता है। कोई भी वस्तु सहकारियों से सहकृत होनेपर ही अपना कार्य कर पाती है और उनके न होने पर वह यह कार्य नहीं कर पाती। ये सब बातें स्वीकार कर लेने पर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि किसी जाति के संबंध में ही वे लागू की जा सकती हैं। जैसे, बीज जाति के कुछ बीज समर्थ होंगे तो कुछ असमर्थ, कुछ सहकारिसहकृत होंगे तो कुछ असहकृत। किन्तु किसी बीज-व्यक्ति को ये बातें नहीं लागू की जा सकतीं। तथापि कार्यकारित्व तथा अकारित्व ये विरुद्ध धर्म (तथाकथित) एक ही व्यक्ति में प्रत्यक्ष से ही गम्य हैं, इस विरोध के निरासार्थ क्षणभङ्गवाद मानना आवश्यक हो जाता है। इस तर्क पर नैयायिकों का कहना है कि उक्त विरोध का स्वरूप बौद्ध नहीं समझ पाये हैं।

मू. स खलु धर्मयोः परस्पराभावरूपत्वं वा स्यात् नित्यत्वानित्त्ववत्, धर्मिणि तदापादकत्व वा शीतोष्णत्ववत्, तद्वृत्ता वा दण्डित्वकुण्डलित्ववत्।

विरोध के स्वरूप को उद्घाटित करने के लिये नैयायिक पूछते हैं कि यह विरोध दो धर्मो के परस्पराभावरूप होने के सदृश है क्या? जैसे नित्यत्व और अनित्यत्व परस्पराभावरूप हैं वैसे ही सामर्थ्य और असामर्थ्य परस्पराभावरूप हो सकते हैं। दो और विकल्प इस विरोध के स्वरूप के संबंध में नैयायिक प्रस्तुत करते हैं। वे है: 'परस्पराभावव्याप्यत्व' तथा 'परस्परात्यन्ताभाववत्व'। शैत्य उष्णत्वाभावव्याप्य है और उष्णत्व शैत्याभावव्याप्य। अतः एक की उपस्थिति दूसरे के अभाव को आपादित करती है। यह विरोध का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दूसरा तरीका है। दण्डित्वरूप धर्म में कुण्डलित्व का और कुण्डलित्व में दण्डित्व का अभाव होना यह तीसरे प्रकार के विरोध का उदाहरण है।

मू. न प्रथमः, निर्विशेषणस्यासिद्धेः, यावत्सत्वं किञ्चित्करणात्। सद्विशेषणस्य तु विरोधसिद्धावप्यध्यासानुपपत्तेः। यदा यदकरणं हि तदा तत्करणस्याभावो न त्वन्यदा तत्करणस्य, न चैतयोरेकधर्मिसमावेशमातिष्ठामहे।

उक्त तीन विरोध की विधाओं में पहली विधा से सामर्थ्य-असामर्थ्य को विरोधी नहीं सिद्ध किया जा सकता। शुद्ध अकारित्व बीज या अन्य वस्तु में कभी नहीं होता। जबतक कोई वस्तु विद्यमान है तबतक वह कुछ न कुछ करती ही रहती है। और कुछ नहीं तो भिन्न-भिन्न वस्तुओं या स्थानों से अपना संयोग प्रत्येक वस्तु स्थानान्तरणवशात् बनाती रहती है। अतः निरपेक्ष अकारित्व किसी भी वस्तु में नहीं होता। सापेक्ष अकारित्व, अर्थात् जब किसी कार्य को कोई वस्तु उत्पन्न करती है उस समय उस कार्य को अनुत्पादन, इनमें जरूर विरोध है; किन्तु ये दो विरोधी धर्म बीजादि में अवस्थित नहीं दिखाई देते। एक समय जिस कार्य को कोई वस्तु उत्पन्न करती है उससे अन्य समय उस कार्य की वह अनुत्पादक जरूर है। किन्तु इन दो धर्मों में कोई विरोध नहीं है।

मू. न द्वितीयः, भावाभावव्यतिरिक्तयोः करणाकरणयोरसिद्धेः, व्यापारापरव्यपदेशसहकारिभावाभावौ हि करणाकरणं कार्यभावाभावौ वेति। अतिरेकसिद्धावपि स्वकाल एव स्वभावप्रतिक्षेपवत् अकरणाभावनाक्षिपेत् करणं न त्वन्यदा। न हि यो यदा नास्ति स तदा स्वाभावं प्रतिक्षेप्तुमर्हतीति, विरोध्यभावं वा आक्षेप्तुम्, तथासति न कदापि तन्न स्यात्, न वा कदापि तद्विरोधी भवेदिति 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत' इत्यायातम्, न वा विरोधः।

विरोध की दूसरी विधा कारित्व-अकारित्व के संबंध में गैरलागू है यह अब नैयायिक विशद करते हैं। कारित्व यदि भाव है तो अकारित्व उसका अभाव ही होगा। वैसे ही अकारित्व को भाव मानें तो कारित्व उसका अभावरूप होगा। कारित्व और अकारित्व के दो अर्थ हो सकते हैं। 'कारण-व्यापार' के रूप से पहचाने जानेवाला सहकारियों का संकलन या असंकलन यह एक अर्थ है और दूसरा 'कार्योत्पत्ति या अनुत्पत्ति'। इनमें से कोई भी अर्थ लें तो भी कारित्व अकारित्व, परस्पराभावरूप ही सिद्ध होते हैं। किन्तु इन्हें परस्पराभावव्याप्य मानकर परस्पराभाव-प्रतिक्षेपक मान भी लें तो भी विरूद्धधर्माध्यास सिद्ध नहीं होता। जैसे कोई वस्तु अपने उपस्थिति-काल में ही अपने अभाव का प्रतिक्षेप करती है वैसे ही कारित्व अपने काल में ही अकारित्व के अभाव का आपादन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करेगा, अन्य काल में नहीं। जो वस्तु जब नहीं है वह वस्तु उस समय के अपने अभाव का प्रतिक्षेप या अपने विरोधी के अभाव का आपादन नहीं कर सकती। ऐसा यदि संभव हो तो हर समय प्रत्येक वस्तु की सत्ता बनी रहेगी क्योंकि विरोधी के अस्तित्व का निरपेक्ष विरोध वह बराबर करती रहेगी। ऐसा मान लेने से गीता में प्रतिपादित सांख्य-मत, जिसके अनुसार असत् कभी सत् नहीं होता और सत् कभी असत् नहीं होता, स्वीकार कर लेना होगा। और अगर ऐसा करें तो विरोध नाम की कोई बात ही नहीं रह जायेगी।

मू. "नन्वेवं सति परिमाणभेदोऽपि कालभेदेन न विरुध्येत, तत्राप्येवं वक्तुं सुकरत्वात्"। न बाधकबलेन तत्र कालभेदस्य विवक्षितत्वात्, तथाहि—नारब्धद्रव्यैरेव द्रव्यावयवैर्द्रव्यान्तरमारभ्यते मूर्तत्वसमानदेशत्वयोरेकदा विरोधात्, तथा चारम्भपक्षे पूर्वद्रव्यनिवृत्तिः, अनिवृतावनारम्भ इति। तत्र निवृत्तावाश्रयभेदादेव परिमाणभेदः, अनिवृत्तौ संयोगिद्रव्यानुपचये क्व परिमाणभेदोपलम्भो यो विरोधमावहेत्, तदुपचये तु क्व परिमाणान्तरोत्पत्तिः आश्रयानुपपत्तेः, अत एव स्थौल्यातिशयप्रत्ययोऽपि तत्र भ्रान्तः, तस्मात् कालभेदेनापि न परिमाणभेद एकस्मिन्धर्मिण्युपसंहर्तुं शक्यत इत्यादि पदार्थचिन्ताचतुरैः सह विवेचनीयम्।

यदि समयभेद के आधार पर कारित्व और अकारित्व के विरोध का समर्थन किया जाय तो इसी प्रकार विभिन्न परिमाणों के विरोध का भी समर्थन किया जा सकता है। तब जो वस्तु आज छोटी हैं वही कुछ समय के अनंतर बड़ी दिखाई देनेपर पहली वस्तु बदली न होकर वही बड़ी हो गयी है ऐसा मान लिया जाय तो क्या हर्ज है? इस आशंका पर नैयायिक प्रतिवाद करते हैं कि एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न समयपर भी विभिन्न परिमाण नहीं होते यह बात प्रमाणसिद्ध होने से विभिन्न परिमाणों का एक वस्तु में समन्वय घटित नहीं हो सकता। इस कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है: एक वस्तु के उत्पादक जो घटक हैं वे ही उस वस्तु के नष्ट हुए बिना दूसरी वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकते (ऐसा यदि संभव हो तभी विभिन्न परिमाण एक ही घटकों से निर्मित वस्तु में सहावस्थित हो सकते हैं।) क्योंकि दो मूर्त वस्तुएँ एक ही स्थान में कदापि नहीं रह पायेंगी। यदि एक ही घटक से अन्यान्य वस्तुओं का प्रादुर्भाव माना जाय तो नयी वस्तु का प्रादुर्भाव होने के पूर्व पुरानी वस्तु या तो नष्ट हो जायेगी, या वह वैसे ही बनी रहेगी इनमें से पहला विकल्प स्वीकार कर लें तो नया परिमाण पहली वस्तु में नहीं, नयी वस्तु में अवस्थित मानना पड़ेगा। तब परिमाण-विरोध की बात ही उपस्थित नहीं होगी। दूसरा विकल्प स्वीकार करने पर, पहली वस्तु नष्ट होने के कारण इस वस्तु में जबतक अन्य संयोगिद्रव्य सम्मिलित नहीं होता तबतक उसके परिमाण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में फर्क कैसे आ सकता है ? और यदि ऐसे द्रव्य का पूर्ववस्तु में समावेश मानें भी लें तब भी जबतक (इस कारण) नयी वस्तु की उत्पत्ति-पूर्व वस्तु के स्थान में स्वीकार नहीं की जाती तबतक पहले परिमाण का स्थान दूसरे परिमाण ने ग्रहण किया यह कैसे माना जा सकता है ? यदि कोई पूछे कि परिमाण-भेद का प्रत्यभिज्ञान तो अनुभवसिद्ध है—जैसे एक दुबले पतले व्यक्ति को मोटा हुआ देखकर 'यह वही है जो पहले बिलकुल दुबला था, ऐसी पहचान होना एक मामूली बात है—तो उसपर नैयायिक कहेंगे कि यह प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त है या तो वस्तु में परिवर्तन हुआ होना चाहिये या उसका परिमाण एकसा ही रहना चाहिये। कृश व्यक्ति जब मोटा होता है तब उसका शरीर कम से कम बदल ही जाता है यह मानना आवश्यक है। अतः कालभेद से भी एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी परिमाण अवस्थित नहीं हो सकते। इन बातों का स्पष्टीकरण पदार्थ-विचार करनेवाले वैशेषिकों की सहायता से करना आवश्यक है क्यों कि वे ही पदार्थस्वरूप का यथावत् स्वरूप निर्धारण करने में रुचि रखते हैं।

मू. "अस्तु तर्हीहापि बाधकं बलम् प्रसङ्गतद्विपर्यययोरुक्तत्वादिति चेत्" न, तयोः सामर्थ्यासामर्थ्यविषयत्वात्तत्र चोक्तत्वात्। स्तां वा, न तथापि ताभ्यां शक्त्यशक्त्योरविवक्षितत्वात् कालभेद एव विरोधः साध्यते, तथोपसंहर्तुमशक्यत्वात्। "यदा तदेत्युपक्षेप्य यत् समर्थं तत्करोत्येवेत्युपसंहर्तुं शक्यमिति चेत्" न, कालनियमाविवक्षायां यत्समर्थं तत्करोत्येव कदाचिदिति स्यात्, तथा च सम्भवविधेरत्यन्तायोगो विरुद्धः, न त्वयोगः नीलं सरोजं भवत्येवेतिवत्।

पुनः बौद्ध पूछते हैं कि जैसे परिमाण-भेद एक ही वस्तु में संभव नहीं यह बात बाधक-प्रमाण से सिद्ध मान ली जाती है वैसे ही कारित्व-अकारित्व के सहावस्थान के संबंध में भी प्रसङ्ग-विपर्ययरूप बाधक-प्रमाण के आधार पर निर्णय क्यों न किया जाय ? अर्थात्, जो बीज कारि है वह अकारि नहीं होगा और जो अकारि है वह कारि नहीं होगा ऐसा प्रसङ्ग-विपर्यय के आधार पर मान लिया जा सकता है। इसपर नैयायिकों का उत्तर है कि कारित्व और अकारित्व ये सामर्थ्य तथा असामर्थ्य रूप ही हों तो उनके संबंध में पीछे जो प्रसङ्ग-विपर्ययानुमान प्रस्तुत किये गये थे उनका खंडन कर दिया गया है। किन्तु यदि सामर्थ्य-असामर्थ्य से भिन्न ही कारित्व-अकारित्व मान लेना हो तो कालनिरपेक्ष शुद्ध-कारित्व और शुद्ध-अकारित्व का विरोध प्रसङ्ग-विपर्यय द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। जो जिस समय एक कार्य करता है वह उसी समय उस कार्य का अकारि नहीं होता। यही विरोध प्रसङ्ग-विपर्यय से सिद्ध हो सकता है। सामान्य कारित्व और सामान्य अकारित्व किसी भी वस्तु में एक साथ नहीं रह सकते।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसपर यह आशंका संभव है कि कालनिर्देश किये विना, 'जो समर्थ है वह अपना कार्य करता ही है' ऐसा कथन क्या नहीं किया जा सकता? उत्तर है कि 'हां, किया जा सकता है।'; किन्तु इस प्रकथन का अर्थ होगा कि 'समर्थ व्यक्ति कभी न कभी अपना कार्य करता ही है।' यहाँ 'ही' का अर्थ 'अत्यंतायोग' या बिलकुल कार्य करने का 'व्यवच्छेद' या निरास हैं न कि 'अयोग' या न करने का निरास है। यदि 'अयोगव्यवच्छेद' 'ही' का ('एव' कार का) अर्थ होता तो 'समर्थ व्यक्ति सर्वदा कार्य करता है' ऐसा अर्थ उपर्युक्त कथन का होगा, जो ठीक नहीं है। तात्पर्य यह है कि कभी न कभी कार्य कर लेने पर भी वस्तु 'समर्थ' मानी जा सकती है।

मू. "ननु यदसमर्थं प्रथमासीत् तस्य पश्चादपि सामर्थ्यं कुत आयातम्, प्रथम समर्थस्य वा पश्चादपि कुत्र यातम्"। नैतदेवम्, तत्तत्सहकारिमतस्तत्तत्कार-कत्वं हि सामर्थ्यम्, अतद्वतस्तदन्यवतो वा तदकर्तृत्वमसामर्थ्यम्, इदञ्चौत्पत्तिकमस्य रूपम्। तेच सहकारिण: स्वोपसर्पणकरणवशाद्भिन्नकाला इत्यर्थात्कार्याणामपि भिन्नकालतेति। "तथाप्येककालस्थ एव भावो जातनष्टस्तदा तदा तत्कार्यं करोतु, उत्पन्नमात्रस्य तत्स्वभावत्वादेकदेशस्थवत् इति चेत्"

अब पुन: प्रश्न किया जा रहा है कि जो वस्तु पहले असमर्थ थी वह बाद में समर्थ कैसे हो गयी? उसमें सामर्थ्य कैसे बाद में प्रकट हो गया? वैसे ही जो वस्तु पहले समर्थ थी उसका सामर्थ्य बाद में कहाँ और कैसे चला गया? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है: सहकारियों से सहकृत होकर अपना कार्य कर सकना ही कारणवस्तुगत सामर्थ्य है। सहकारिविरहित होनेपर अन्य कार्यसहकारियों से सहकृत होनेपर अपना कार्य न कर पाना यही कारणवस्तुगत असामर्थ्य है। यही वस्तु का स्वाभाविक और (जन्मत: विद्यमान) रूप है। इसका मतलब यह नहीं कि वस्तुएँ सहकारिसहकृत होकर ही जन्म लेती हैं। सहकारियों के भी अपने अपने भिन्न-कालिक कारण हुआ करते हैं। जिससे कार्य भी जब तब पैदा नहीं होता। जब सभी सहकारि संकलित होते हैं तभी कार्य उत्पन्न होता है। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे एक स्थान में अवस्थित कारण दूसरे स्थान में कार्य उत्पन्न करता है (उदाहरणत: इन्द्रियों के द्वारा आत्म में सुखानुभूति घटित होती हैं।) वैसे ही क्षणमात्र-स्थायी कोई पदार्थ अन्यं काल में भी अपना कार्य क्यों न उत्पन्न करे यदि कार्योत्पाद-सामर्थ्य उसका स्वभाव हो? कारणबिनाश के बाद भी सहकारिसंकलन होनेपर कार्य घटित होने में क्या बाधक है? यदि कोई बाधक नहीं तो एक ही वस्तु को विभिन्न कालों में अवस्थित मानने की आवश्यकता नहीं है।

मू. सेयमेककालस्थता स्वरूपापेक्षया सहकारिसान्निध्यापेक्षया वा? आद्ये न

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किञ्चिदनुपपन्नम्, नित्यानामप्येवंरूपत्वात् वर्तमानैकस्वभावत्वात्सर्वभावानाम्, तदेवचित्सावधि तु क्वचिन्निरवधीति विशेषः। सावधित्वेऽपि व्यापारफलप्रवाहप्रकर्षाप्रकर्षाभ्यां विशेषः। द्वितीयस्तु स्यादपि यदि तेषां यौगपद्यं भवेत्, क्रमिणस्तु सहकारिणः इत्युक्तम्। सहकारिसहितः स्वभावेन करोतीति वक्तरि तु जातनष्ट एव करोत्वित्युत्तरप्रसङ्गो निर्गलशैशवस्येत्यलमनेन।

एक काल में अवस्थित वस्तु अन्यकाल में कार्य क्यों न उत्पन्न करे? इस ऊपर के प्रश्न में 'एककाल' से मतलब या तो अपना उपस्थितिकाल होगा या अपने सहकारियों का अवस्थितिकाल। पहला विकल्प स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। क्षणिक ही क्या नित्य पदार्थ भी अपने ही काल में अवस्थित होते हैं। सभी पदार्थ वर्तमानस्वभाव ही होते हैं। कोई भी पदार्थ भूत या भविष्य बनकर नहीं रह सकता। नश्वर पदार्थों की वर्तमानता सावधिक होती है और अविनाशी पदार्थों की वर्तमानता निरवधिक होती है। मतलब यह है कि नश्वर-पदार्थ विनाशशील होने से सर्वदा वर्तमान नहीं होते किन्तु नित्य पदार्थ हमेशा ही वर्तमान होते हैं। सभी नश्वर पदार्थ सावधिक होनेपर भी इनमें से कुछ सहकारियों को प्राप्त कर तथा अन्य कुछ अवान्तर प्रक्रियाओं को (व्यापार-फल-प्रवाह) जन्म दे कर उनके द्वारा दूरगामी कार्य से सम्बद्ध होते हैं। जैसे यज्ञयागादि का अपूर्व के द्वारा स्वर्गप्राप्ति जैसे फल से संबंध होता है। उपरि निर्दिष्ट दूसरा विकल्प ('सहकारियों का अवस्थितिकाल ही सहकृत वस्तु का काल है' यह) स्वीकार किया जा सकता है यदि सब सहकारी एकही समय घटित हों। लेकिन यह बात नहीं है। सहकारी प्रायः क्रमिक होते हैं। इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि 'वस्तुमात्र का स्वभाव सहकारिसहित होकर कार्य करना है' इस मतपर 'वस्तु उत्पन्न होते ही कार्योत्पादसमर्थ होनी चाहिये' ऐसा आक्षेप उपस्थित करना नितान्त बालिशता का द्योतक है।

मू. तस्मात्कार्यस्य स एव कालः, कारणस्य तु स चान्यश्चेति सम्बन्धिकालापेक्षया पूर्वकालताव्यवहारः। अपि च यदा तदेतिस्थाने यत्र तत्रेति प्रतिक्षिप्य तयोरेव प्रसङ्गतद्विपर्यययोः को दोषः। "न कश्चिदिति चेत्" तर्हि देशाद्वैतं वा कारणभेदो वा आपद्येत। "आपद्यताम् तदादाय योगाचारनयनगरं प्रवेक्ष्याम इति चेत्" न, हेतुफलभाववादं वैरिणमनपोह्य तत्र प्रवेष्टुमशक्यत्वात्। तदपवादे वा सत्त्वाख्यसाधनशस्त्रसन्यासिनस्तव बहिर्वादसंग्रामभूमावपि कुतो भयम्?

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस समय कारण विद्यमान हो (और जिस समय सहकारी भी विद्यमान न हों) वही यदि कारण का स्वकाल हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और उसी काल में कार्य उत्पन्न होना आवश्यक हो तो कारण का (परिभाषानुसार) कार्यपूर्ववर्ति होना कैसे संभव होगा? उक्त स्पष्टीकरण के अनुसार तो कारण और कार्य ये समवर्ती ही होंगे? इस प्रश्न के समाधानार्थ स्पष्टीकरण किया जा रहा है कि कार्य का काल कारणसामग्री के समवधान के तुरन्त बाद का है। किन्तु कारण का काल यह और उसके पू॰ का ये दोनों हैं। कुछ कारण-जैसे निमित्त-कारण-कार्य उत्पन्न होनेपर प्राय: समाप्त हो जाते हैं। किन्तु समवायीकारण कार्य उत्पन्न होने के बाद और कार्यविनाश होने तक बराबर विद्यमान रहता है। कारण के काल को कार्य का पूर्वकाल इसीलिये कहते हैं कि वह कार्योत्पत्ति से संबद्ध जो काल या क्षण है उससे पूर्वक्षण में अवश्य विद्यमान रहता है।

अब नैयायिक बौद्धों पर प्रत्याक्षेप करते हुए कहते हैं कि 'बीज जब समर्थ हो तभी उसे अंकुरोत्पादन करना चाहिये' इस प्रकार के प्रसंगविपर्यय के बदले यदि 'खेत में बोया बीज उसी समय कुशूल में भी अंकुरोत्पादन-समर्थ हो तो उसे कुशूल में भी अंकुरोत्पादन करना चाहिये' ऐसा प्रसंग तथा विपर्ययानुमान उपस्थित किया जाय तो उनके द्वारा क्षणिक बीज में भी, खेत में अंकुरोत्पादन-सामर्थ्य और कुशूल में अंकुरोत्पादन-असामर्थ्य इन दो विरोधी धर्मों के अध्यास के कारण, भेद मानना अनिवार्य हो जायगा। जिस विरुद्ध धर्माध्यास के कारण स्थिर प्रतीत होनेवाली वस्तु को क्षणिक मानना पड़ा उसी अध्यास के कारण अब क्षणिक को भी देशभेद से भिन्न मानना आवश्यक हो जाता है ऐसा नैयायिकों का आक्षेप है। यदि यह अध्यास भेदकारी नहीं हो तो बौद्धों का बतलाया अध्यास भी भेदकारी नहीं हो सकता। कह सकते हैं कि खेत में बोये बीज का जो सामर्थ्य है वही उस समय कुशूल में बीजोत्पादन का भी सामर्थ्य है। अर्थात्, (कालभेद से जैसे बीज का सामर्थ्य बदल सकता है) वैसे देशभेद से बीज का सामर्थ्य बदलता नहीं। खेत में पड़ा बीज खेत में उत्पादनसमर्थ हो तो उसे कुशूल में भी उत्पादनसमर्थ मानना होगा। यह बात अलग है कि वह खेत में पड़ा होने समय कुशूल में रखा नहीं होता (न वह उस समय वहाँ रखा ही जा सकता है क्यों कि खेत में पड़ा होनेसे वह कुशूलस्थ बीज से अलग हो जाता है।) किन्तु ऐसा कहने का मतलब होगा कि बीज के अवस्थान तथा अनवस्थान के प्रदेश अलग अलग नहीं हैं। सभी प्रदेश बीज-प्रदेश ही हैं। यदि कोई बीजप्रदेश न हो तो वहाँ बीज असमर्थ सिद्ध हो जायगा।) यह बात तब संभव होगी जब या तो सभी प्रदेश एक ही मान लिये जायें या सभी प्रदेशों में एक ही बीज की स्थिति मान ली जाय। इसपर, विज्ञानवादी भूमिका अपनाकर बौद्ध यदि कहें कि बाह्य समझे जानेवाले सब पदार्थ विज्ञानरूप ही होने के कारण तथाकथित प्रदेशभेद आभासमात्र है (वे सब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विज्ञानरूप ही हैं अतः प्रदेशभेद के आधारपर सामर्थ्य-असामर्थ्य का विरोधाध्यास सिद्ध करना तर्कसंगत नहीं) तो उसपर सीधा प्रतिवाद यह होगा कि कार्य और कारण के भेदपर आधारित जो कार्यकारण नियम है उसे विज्ञानवादी कदापि स्वीकार नहीं कर सकता। और यदि कार्य-कारणभाव नियम को ही त्यागने के लिये बौद्ध तैयार हो जायें तो क्षणिकत्वसाधन के लिये सत्वरूप हेतु पर आधारित अनुमान प्रस्तुत करना भी उसके लिये असंभव हो जायगा। ऐसी परिस्थिति में स्थिरवाद के अस्वीकार का दुराग्रह बौद्धों के लिये कदापि उचित नहीं होगा।

—नारायणशास्त्री द्राविड

आचार्य एवं अध्यक्ष,
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिक्रिया

'भारतीय साहित्यकार की समस्याएँ' शीर्षक से प्रकाशित 'अज्ञेय' का प्रवचन बड़े मनोयोग से पढ़ा। उनका यह कथन बड़ा यथार्थ लगा कि आज कविता का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है।

किंतु यह कहना कदापि सत्य नहीं है कि "ऐसी कविता में, वाचिक परिस्थिति में, जो कि वास्तव में श्रव्य काव्य होता है, हमेशा रीत प्रधान होती हैं और कवि का व्यक्तित्व गौण हो जाता है ...।.. जो 'क' की लिखी हुई है वह 'ख' की भी लिखी हुई हो सकती थी या जो 'ख' ने लिखी है वह 'क' ने लिखी हुई भी हो सकती थी ...।" किन्ही दो कवियों की बात छोड़िए, एक ही काव्यधारा के और एक ही सम्प्रदाय के दो कवियों का उदाहरण लीजिये। क्या सूरदास और नन्ददास की कविता में अन्तर नहीं है? क्या सूरदास की कविता में उनका भावुक व्यक्तित्व और नन्ददास में उनका तार्किक व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित नहीं है? दोनों की कविताओं में उनका व्यक्तित्व इतना प्रकट है कि कोई भी अध्येता कविता सुनते ही कह देगा कि यह किसकी कविता है। इसी प्रकार क्या 'अज्ञेय' कह सकते हैं कि एक ही काव्यधारा छायावाद के जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दत पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा की कविताओं में कोई अंतर नहीं है? चारों की कविताओं में आकाश-पाताल का अंतर है और सबकी कविता में उनका व्यक्तित्व स्पष्ट परिलक्षित है।

आज की कविता पढ़कर जब हम उसमें कवित्व न खोज कर उसके रचयिता की खोज करने लगते हैं तो इसका कारण यह है कि उसमें कवित्व नहीं है या इतना कम है कि उस पर ध्यान ही नहीं जाता है और इसीलिए रचयिता का नाम जानना चाहते हैं। रचयिता के नाम पर आज की कविता कुछ चल जाती है। जब हम जान लेते हैं कि यह 'अज्ञेय' की कविता है तो मन को समझाते हैं कि इसमें अवश्य कवित्व होगा, ढूंढना चाहिए। आज स्थिति यह है कि कविता से उसके रचयिता का व्यक्तित्व नहीं जानते, रचयिता को जान कर उसकी कविता को समझने का प्रयत्न करते हैं।

—सियाराम तिवारी

हिन्दी विभाग
विश्वभारती
शांतिनिकेतन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रंथ-समीक्षा

(१)

रघुवंश; आधुनिकता और सृजनशीलता; मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली; पृ. सं. १८०; मूल्य ४५-००

हमारे यहाँ कुछ ही आधुनिक लेखक होंगे जो आधुनिकता को लेकर किसी लम्बी बहस में जाना चाहें- अधिकतर लेखक उसे एक हल कर लिया गया संदर्भ मानकर आगे बढ़ जाना चाहेंगे और सृजनशीलता की चिन्ता भी कुछ ही कृती लेखकों में देखी जाती है जो रचनाकर्म से किसी गहरे स्तर पर जुड़े होते हैं। दिलचस्प यह है कि इन दिनों ऐसे स्थिर आग्रहोंवाले व्यक्ति भी दीख़ जाएँगे जो सृजनशीलता की चिन्ता को समाज की मुख्यधारा से कटे हुए अन्तर्मुख या भटके हुए लोगों की चिन्ता मान चुके हैं। रघुवंश उन थोड़े से लेखकों में हैं जिनके लिए रचनात्मक ईमानदारी के कसौटी-प्रश्नों से टकराना है, प्रश्नों के सरल हल ढूंढ़ना नहीं।

'आधुनिकता और सृजनशीलता' में रघुवंश के समय समय पर लिखे गए निबंध संकलित हैं। विषयों के अनुसार उन्हें तीन खण्डों में संपादित किया गया है–आधुनिकता और सृजनशीलता, लोक साहित्य और प्रकीर्ण। इनमें पहला खंड ही सबसे महत्वपूर्ण और विचारोत्तेजक है। पहले ही निबंध 'भारतीय बौद्धिक परिस्थिति और आधुनिकता का संदर्भ' में रघुवंश अनुभव करते हैं कि देश की अवरुद्ध सृजनशीलता के कारणों को विवेचित करने के लिए आज की भारतीय बौद्धिक परिस्थिति का सही विश्लेषण जरूरी है। उनकी दृष्टि में साहसिक क्रांतिकारिता के बिना संस्कृति की सृजनशीलता चुक जाती है और समन्वय का आग्रह करनेवाली मूल्यदृष्टि किसी भी स्तर पर क्रांति को नहीं पनपने देती। हमारे यहाँ की मुख्य बिडम्बना रघुवंश के अनुसार यह है कि अधिकतर बुद्धिजीवी आधुनिकता को एक ओर पश्चिमीकरण के रूप में ग्रहण करते हैं दूसरी ओर भारतीय परम्परा के जड़

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संस्कार उनमें गहरे स्तर पर बने रहते हैं। रघुवंश की चिन्ता का विषय केवल समकालीन साहित्यिक सृजनशीलता नहीं है-पूरा भारतीय जीवन-संदर्भ है। उनकी स्पष्ट धारणा है: 'देशकाल में समाहित सामाजिक यथार्थ से टकराए बिना रस रोमांस और रहस्य के मानववाद की सृष्टि की जा सकती है, खोखली अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्व नागरिकता को जन्म दिया जा सकता है, पर किसी रचनात्मक यथार्थ-दृष्टि का अनुसंधान नहीं किया जा सकता।' (पृष्ठ ११)

आधुनिक सर्जनशीलता को रघुवंश किसी विशेष अर्थ में मूल्य निरपेक्ष मानते हैं पर इस मूल्यनिरपेक्षता की व्याख्या ऐसी करते हैं कि मूल्यवादी भी उनसे सहमत हो लेंगे—"आधुनिकता मूल्य निरपेक्ष इसी अर्थ में है कि सृजनशीलता के रूप में स्वयं मूल्यों का स्रोत है।" (पृ. ४९) अभिव्यक्ति के माध्यमों में भाषा का प्रश्न रघुवंश की गहरी चिन्ता से जुड़ा है– बिना भाषिक संचरना के कोई अनुभव व्यक्त नहीं हो सकता। आज के मूल्य-संदर्भ में भाषा और अनुभव की प्रक्रिया पर विचार करने के लिए रघुवंश विसंगति के मर्म की व्याख्या करना चाहते हैं। भाषा-विसंगति के दुहरे स्तरों पर अपनी सक्रियता प्रमाणित करती है। एक स्तर पर वह एक विवशता, एकरसता निरन्तरता के बोझ को व्यक्त करती है, दूसरे स्तर पर विसंगति का उपयोग अनुभव की सीमा विवशता को न व्यक्त कर उसकी नई संभावनाओं को उजागर करता है। (पृ. ८३)

दूसरे खंड के एक महत्त्वपूर्ण निबंध 'लोककाव्य की भावभूमि और रसनिष्पत्ति' में रघुवंश ने काव्य और लोककाव्य का यह अंतर स्पष्ट किया है कि काव्य-प्रसंग में रसनिष्पत्ति की व्याख्या जिस तटस्थता अर्थात् निजता से मुक्ति के आधार पर की गई है, लोककाव्य के संदर्भ में वह प्रासंगिक नहीं हैं क्योंकि लोकगायक इस अभि-व्यक्ति के प्रति न तटस्थ है और न निजत्व की भावना से असम्पृक्त है। फिर भी उसकी सहज रसात्मकता विचारणीय है क्योंकि उसका सहयोग सामाजिक स्तर पर ग्रहण किया जाता है। इस प्रश्न के भीतर बहुत-से प्रश्न हैं जिन पर आगे बहस होनी चाहिए थी पर विडम्बना यह है कि हमारी साहित्यिक आलोचना में सारी बहसें अभिजात वर्गीय साहित्य पर केन्द्रित रही हैं और जनवाद की दुहाई देनेवाले भी वहीं टिके हुए हैं।

तीसरे खंड के एक निबंध 'साहित्य का प्रगतिशील मानदण्ड' में रघुवंश ने स्पष्ट कहा है कि लोकप्रियता जनसाहित्य का मानदण्ड नहीं हो सकती। उनकी चिन्ता यह नहीं कि मार्क्सवादी दृष्टि ने साहित्य की यथार्थवादी सामाजिक व्याख्या की है– बल्कि यह तो साहित्य के हित में ही है, उनकी चिन्ता यह है कि मार्क्सवादी दृष्टि 'साहित्य का श्रमिक जनता के जीवन के अनुसार सज्जित होना अनिवार्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानती है'। अब यह कहने की जरूरत नहीं रह गयी है कि मार्क्सवादी दृष्टि इस हद तक सरलीकरण नहीं सिखाती, न उसे उपयोगी मानती है। इस दृष्टि के कुछ स्थूल व्याख्याताओं की प्रतिक्रिया में ऐसे पूर्वग्रह बना लेना अपनी दृष्टि के हित में नहीं है। 'प्रेमचंद की प्रासंगिकता' इस पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण और अन्तिम निबंध है। रघुवंश प्रेमचंद को आदर्शवादी कहने के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि प्रेमचंद के सर्जनात्मक तत्त्व और उनकी भाषिक संरचना जीवन के यथार्थ से ही ग्रहण किए गए हैं। कलात्मक संयोजन किन बिन्दुओं पर कमजोर है उसकी जाँच भी रघुवंश ने की है।

इस प्रकार अलग अलग विषयों के निबंधों के इस संकलन में लेखक की रचनात्मक ईमानदारी और वैचारिक, नैतिक, कलात्मक दृष्टि की पहचान सुलभ है। लेखक के पूर्वग्रह और अन्तर्विरोध भी जहाँ-तहाँ स्पष्ट हैं और उन्हें छिपाने या गौरवान्वित करने का साहित्यिक छत्र यहाँ नहीं दिखाई देता।

—परमानंद श्रीवास्तव

हिन्दी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर (उ. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(२)

मृत्युंजय उपाध्याय : **वैश्वानर**, (१९८०), बंगाल हिन्दी परिषद्, १५, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता, ७०००१२ पृ. ६९ डिमाई, सजिल्द, मूल्य २० रुपये

'वैश्वानर' में श्री. मृत्युंजय उपाध्याय मानव-जीवन के सत्य की खोज करने का प्रयास करते हैं। जीवन की सफलता, आदर्श और उपलब्धियाँ मानव को श्रेष्ठता तो प्रदान करती हैं पर उसके जीवन के मूल सत्य भूख की प्राथमिकता को नकारा नहीं जा सकता। अतीत से वर्तमान तक की दीर्घतम परिधि को इस लघु आकारिक काव्य में समेट कर इस सत्य का पहचान कराने का प्रयत्न मृत्युंजय ने किया है। समकालीन मानवजीवन की भीषण एवं दुःखमय अवस्था के परिप्रेक्ष्य में उक्त सत्य को मिथिकीय संदर्भों में कवि ने पिरोया है। इसके कारण काव्य को एक प्रतीकात्मकता आ मिली है। रचनाकार की कुशलता के कारण काव्य में बोझिल तत्वपरकता या विवरणात्मकता नहीं आयी है बल्कि अभिव्यक्ति सहज स्वाभाविक एवं नाटकीय बन गयी है।

इस कथात्मक काव्य का नायक विश्वामित्र है। वेदों से पुराणों तक भारतीय सांस्कृतिक ग्रथों में विश्वामित्र के बहु-आयामी व्यक्तित्व के प्रकट उल्लेख मिलते हैं। विश्वामित्र का चरित्र एक महान् तपस्वी, महान् विद्रोही ब्राह्मण, महान गुरु एवं सप्तमंडल के स्रष्ट के रूप में विराट् तथा मेनका द्वारा तपोभंग, वसिष्ठ से संघर्ष, सेनःशंप की मुक्ति, त्रिशंकु की रक्षा इत्यादि कतिपय प्रसंगों के कारण जुझारू, क्रांतिकारी एवं यथार्थ से परिपूर्ण बन गया है जो आज के संदर्भ में भी अर्थवान् लगता है। विश्वामित्र के व्यक्तित्व के इन यथार्थ बिंदुओं को पकड़कर कवि ने प्रस्तुत दीर्घ काव्य में उसे साकार किया है।

महाभारत महाकाव्य के शांतिपर्व के एक प्रसंग में युद्धिष्ठिर ने प्रश्न उठाया था—'केनस्विद् ब्राह्मणो जीवेत् जघन्य काल आगतो।' प्रश्न के उत्तर में भीष्म पितामह ने 'विज्ञान-बल से' जीवन-निर्वाह की बात कही थी और यह बताया था कि पुराकाल में विश्वामित्र जैसे तपस्वी ब्राह्मण को भी आपत्काल में मृत्यु से बचने के लिए चाण्डाल-घर में पड़ी कुत्ते की टांग को चुराना पड़ा था। इस मिथिकीय प्रसंग भित्ती पर सामयिक जीवन के सत्य के अन्वेषण का प्रयत्न 'वैश्वानर' में किया गया है।

विश्वामित्र वक्ता हैं। घटनास्थल है चांडाल का घर। चांडाल श्रोता है। मध्यरात्रि में चल रहे इस कथन-प्रवाह में कौन, कहाँ, क्या, कैसे, क्यों, जैसे प्रश्नों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के उत्तरों की खोज की गयी है। निर्बल, निस्सहाय और अकेले विश्वामित्र जघन्य, महाभयंकर विकराल काल के आगमन को देख रहे हैं। भीषण परिस्थितियों की भार से उनका मानस भयानक दबाव महसूस कर रहा है। अपने अतीत के महान् पराक्रम के संदर्भ में वर्तमान की विकरालता उन्हें विलक्षण पीड़ा दे रही है। इस विरोधमय नाटयात्मक स्थिति में विश्वामित्र की अपार पीड़ा एव जटिल मानसिकता के विविध पहलुओं को कवि ने उजागर किया है। विश्वामित्र के स्वगतपरक संभाष में अनेक मिथकीय संदर्भ उभरते हैं, युगीन सत्य के संकेत भी स्पष्ट हो जाते हैं। यह आत्मगत कथन न केवल हार्दिकता से प्रभविष्णु हुआ है बल्कि दृश्योपम वर्णनों एवं समर्थ शब्द-संयोजन से भी समृद्ध हुआ है।

—दुर्गा दीक्षित

हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे, ७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियां भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा माथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पुणे विश्वविद्यालय के तत्त्वज्ञान एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११ ०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

राममूर्ति त्रिपाठी	शैवमत और सूफी मत : कार्यरत केन्द्रीय संवेदना	३०३
भगवती राव	मनुष्य और जगत्	३१४
रामदास पाण्डेय	स्थितप्रज्ञता एवं आत्मनिष्ठता : गीता एवं कीर्कगार्ड (एक तुलनात्मक पर्यालोचन)	३२४
ब्रह्ममित्र अवस्थी	पातञ्जलयोग में ईश्वर प्रणिधान–उसका स्वरूप और स्थान	३३५
सुरेंद्र वर्मा	भाषाई-खेल और जीवन-चर्याएँ	३४०
भूमित्र देव	विकास प्रक्रिया-मानव का वर्तमान और भविष्य	३५५
जगदीश शर्मा	कविता और अर्थ	३६१
नारायणशास्त्री द्राविड	आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (४)	३७५
	प्रतिक्रिया	३८७
	ग्रंथ-समीक्षा	३८८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ३ अंक १

दिसम्बर १९८१

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

* पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका

* नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे * राजेन्द्र प्रसाद * आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ¤ रमाकान्त सिनारी ¤ विजय भारद्वाज ¤ शारदा जैन
रमाकान्त त्रिपाठी ¤ संगमलाल पांडे ¤ आर्. बालसुब्रमणियन्
अशोक रा. केळकर * के. जे. शहा * नारायणशास्त्री द्राविड * के. सच्चिदानंद मूर्ति * जी. सी. नायक * ग. ना. जोशी * मोहनलाल मेहता * जे. फाईस * सुमन गुप्ता * रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे * चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें :
कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६-००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२-००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८-००
	एक प्रति	रु. ०५-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २००-००

राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेदान्त में अस्तित्व और मरण

मृत्यु एक रहस्यमय विषय है। इस विषय पर चिन्तन उतना ही पुराना है जितना मनुष्य। विगत दशकों में पश्चिमी बुद्धिजीवियों ने मृत्यु की विवेचना चिकित्साशास्त्र और विधि, समाजविज्ञान और मानवशास्त्र, मनोविज्ञान और साहित्य, धर्मशास्त्र और दर्शन जैसी पद्धतियों द्वारा विशेषरूप से की है। इस निबन्ध में मृत्यु और मरण की विवेचना हम दार्शनिक मानवशास्त्र (फिलॉसाफिकल एन्थ्रोपालोजी) की पद्धति से करेंगे। दार्शनिक मानवशास्त्र जैसी पद्धति की नव्यता और विषय की अतिबृहत्ता को ध्यान में रखते हुए इस निबंध के अप्रतिपाद्य को अविलम्ब कह देना आवश्यक है। हम न तो शुद्ध दर्शन कहेंगे, और न शुद्ध मानव-शास्त्र। पुनर्जन्म के भाव या अभाव को सिद्ध करना हमारा प्रयोजन नहीं। फलतः तदर्थ दिये गए तर्कों की प्रामाणिकता को प्रतिष्ठित करना हमारा अभीष्ट नहीं। आत्मजनों के मरने पर लोग क्या विधि-कर्म करते हैं, या किस रंग के वस्त्र कितने दिनों तक पहिनते हैं—इसकी विवेचना भी यहाँ यथेप्सित नहीं। मृत्यु और वस्त्र-वर्ण का सम्बन्ध एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक तथ्य है, जिसकी विवेचना का भार हम मानवशास्त्रियों को सौंपते हैं। दार्शनिक मानवशास्त्र की पद्धति और परिधि को लेकर दार्शनिकों में मतभेद है। यह मतभेद अहेतुक या निर्दोष नहीं। हम स्वीकारते हैं कि दार्शनिक मानवशास्त्र की हमारी भी परिभाषा निर्मल नहीं। हमारी मान्यता है कि विकल्पों के माध्यम से तत्त्वार्थ जगत् के निर्माण की प्रविधि का नाम दर्शन है, एक ऐसी तकनीकी साधना जिसमें समवायी जीवन को आकार और संस्कार देने का आग्रह होता है। वस्तुतः दर्शन मानव अस्तित्व में अन्तस्थ दो सच को प्रतिष्ठित करने की योजना है। प्रथम, वस्तुगत को तदर्थ और यथारूप अस्वीकार करना, दूसरे, मनुष्य को धुरी बनाकर सांबोधिक संसार की रचना। मनुष्य ने वस्तुओं को वस्तुओं के लिए कभी नहीं स्वीकारा। स्वयं से स्वयं के ही आयाम प्रस्थापित करने के लिए मनुष्य ने वस्तुजगत् को सघन विषयों, प्रमेयों और अभिधेयों का परिमाण दिया। मनुष्य अपनी ही सीमा है। इहलोक और पर-लोक में इन दोनों के मध्य, आदि और अन्त से अपर सच स्वयं मनुष्य ही है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वयं से निष्क्रमण कर आत्मेतर सत्ताओं में पहुँच कर फिर स्वयं तक प्रतिगमन करते रहने की परिधि ही मनुष्य का इतिहास है। व्यवहार ओर परमार्थ, संसार और निर्वाह की परिकल्पना मनुष्य की आत्मकता की विस्तृति और अपने प्रतिरूप को सत्तात्मक आयाम देने के उदाहरण हैं। दर्शन आत्मबोध की सत्तात्मक विस्तृति की प्रविधि है, आत्म-परिभाषा की ऐसी तकनीक जिसके धरातल पर समवायी आत्मकता की अभिव्यंजना का आदेश है।

अतः दर्शन संज्ञात्मक संस्कृति (कागनिटिव कल्चर) की सिद्धपीठ है, संचेतन मन से नियोजित आदर्शों के सन्दर्भ में जन्म, जीवन और मरण की समवायी युक्ति है। मृत्यु कोई निःसंग समस्या नहीं। यह संज्ञात्मक संस्कृति में चल रहे समवायी जीवन का एक भाग है, उस जीवन का भाग जिसकी रचना मनुष्य ने समवायी आत्मकता के परिप्रेक्ष्य में की है और जिसके सन्दर्भ में वह मृत्यु को स्वीकारता या नकारता है। मृत्यु अस्तित्व के आकार और रीति की समस्या है, जीवन के अर्थ और आदर्श की समस्या।

प्रस्तुत निबन्ध में हम अद्वैत वेदान्त में मरण की परिकल्पना को दार्शनिक मानवशास्त्र की पद्धति से अभिव्यंजित करेंगे। वेदान्त के अनुसार जीवन के आदर्शों की सिद्धि ही जीवन का अन्त है, अस्तित्व का एक ऐसा सुखात्मक अवसान जिसमें व्यक्ति के सामाजिक और ऐतिहासिक मूल्य शेष हो जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि भौतिक मृत्यु की चर्चा करना हमारा लक्ष्य नहीं, ऐसी चर्चा चिकित्साशास्त्र का आधेय है। हमारी चर्चा का विषय चिकित्साशास्त्र की सफलता से संजात व्यथा से है, ऐसी सफलता जिसकी सिद्धि व्यक्ति को अमरत्व देने में है। वह समाज और इतिहास कैसा होगा जिसमें सर्व सर्वत्र अमर हो? यह प्रश्न अमर जीवों की सघनता से संत्रस्त अस्तित्व की अभिव्यक्ति है। इसी संत्रास से परितप्त हो ऋषियों ने दर्शन को "महौषधिशास्त्र" (मेटा-मेडिसन) के नाम से अभिहित किया था, और जिस पर प्रस्थान ही उन्होंने काय-चिकित्सा और शल्य-विज्ञान पर चिन्तन करने के बाद किया था। मेटा-मेडिसन के रूप में अद्वैत वेदान्त का ध्येय उस संबन्धार्थ जगत की रचना करना था जिसमें जन्म, जीवन और मरण कल्याणात्मक घटनाएँ हैं, जिसमें अमरत्व की ईहा और उसकी सिद्धि के साधन महाव्याधि हैं, न्यूरोसिस हैं।

इस निबन्ध के पाँच प्रभाग हैं। प्रथम प्रभाग में हम 'योगवासिष्ठ' से प्रश्नों की एक मेखला प्रस्तुत करेंगे। हम देखेंगे कि आत्मबोध के किस पैमाने से प्रेरित हो मनुष्य किस तरह के प्रश्न उठाता है, कैसे वह इन प्रश्नों के माध्यम से वस्तुजगत् को तदर्थ अस्वीकार करता है, क्यों वह मृत्यु-भय से संत्रस्त है, और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्यों उसे अमर अस्तित्व के प्रति अनीहा है ? ऐसे संत्रास में संबन्धार्थं जगत् के निर्माण का आग्रह है, और दर्शन उस निर्माण की प्रविधि। इस प्रविधि की प्रथम कोटि सत् है, जिसका संक्षिप्त विवेचन दूसरे प्रभाग में हुआ है। निरस्त सत् (आत्मन्) को इतिहास और संबन्धार्थ संसार में अस्तित्व की ईहा नहीं। हम सिद्ध करेंगे कि सत् की परिकल्पना मृत्यु-वरण की युक्ति हैं, जन्म या जीवन की नहीं। कैसे निरीह सत् की भूमि पर "मैं" और "मेरे" की गरिमा में बंधने को अहंपुरुष का आविर्भाव होता है, और कैसे सघन विषयों की संस्कृति उत्तम पुरुष में जी रहे जीवों की समवायी कर्म-कथा है– इसका विवरण तृतीय प्रभाग में है। चतुर्थ प्रभाग में हम देखेंगे कि कैसे यह अहंपुरुष निरतिशय अस्तित्व का भारहार बन गया है, कैसे यह "मैं" और "मेरे" की परिधि का विस्तार करता हुआ मृत्यु को नकारता है, और कैसे वह अहम्-मम के भार से रहित सत् की खोज में जन्म और मरण की पुनःस्थिति से त्रस्त है। पांचवे प्रभाग में हम अद्वैत वेदान्त द्वारा संविहित एक जन्म के अभिलाषी अस्तित्व का निर्देश करेंगे। जन्म लेकर मैं अपने कर्मी अस्तित्व को कैसे जीऊं कि मृत्यु का वरण कर सकूं, और मरणोपरान्त पुनर्जन्म की ईहा न हो। पुरुषार्थी पुरुष के मृत्यु-वरण को हम अभिजात्य अस्तित्व का मान देंगे। हम यह प्रतिष्ठित करेंगे कि वेदान्त के अनुसार मृत्यु-वरण एक कल्याणात्मक वासना है जो अमरत्व की वासना से श्रेष्ठतर है।

प्रथम प्रभाग

योगवासिष्ठ में एक आख्यान है। अस्तित्व की व्यथा ले राम के रूप में अवतारी ईश्वर अपने मानवी गुरु विश्वामित्र से कहते हैं : "हे महर्षि, विषयों का धारी और भोगी अस्तित्व विरस हो गया है। इस विसरता ने मुझे चिन्तित कर रखा है। आखिर संसार में क्या सुख है ? मनुष्य जन्मा है मरने के लिए, और वह मरेगा ऐसे कि उसका पुनर्जन्म होगा पुनर्मरण के लिए। विषयी अहं– पुरुष जैसे मरीचिका में फंसा मृग हो, जिसने मरीचिका को सरोवर समझ लेने की गलती कर दी है, और जो मरुभूमि के अन्तराल में दिशाहीन हो गया है। आवेशी मानव मायावी विषयों के अनुधावन में सनक सा गया है, उन विषयों में जो होने का आभास देकर भी वस्तुतः होते नहीं। मरीचिका में जल प्राप्ति की व्यथा ही मृग की नियति बन गयी है। उसी तरह मनुष्य भी पुनर्जन्म के सुख से प्राप्त पुनर्मरण की पीड़ा से अभिशप्त है। इतने पर भी संसार नाम वाली इस पुनर्जन्म और पुनर्मरण की पुनःस्थिति से निर्गति की चिंता मनुष्य नहीं करता। वह इस तरह के प्रश्न नहीं उठाता : मैं कौन हूँ ? मेरे विषयी अस्तित्व का क्या सबक़ है ? संसार नाम वाली यह विषयता कैसे संजात हुई ? क्या संसार एक दीर्घीकृत छलना है, या इसमें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुछ सत्य भी है ? यदि यह इन्द्रजाल है तो इसे तद्रूप में स्वीकार कर ही क्यों न जीएँ ?

"हे महर्षि, इन दिनों मैं ऐसे ही प्रश्न उठाता रहा हूं। मुझे बताइये मर कर फिर जन्म लेने की ईहा मनुष्य में क्यों है ? होकर न होने की, और न होकर फिर होने की यह पुनःस्थिति क्यों ? मुझे तो लगता है कि मरण और पुनर्मरण की यह परम्परा निःसार है, शुष्क वेणु में कीचक के वेलय गान की तरह निरर्थक। अस्तित्व जल रहा है, और मैं इससे निर्गति चाहता हूं। उत्क्लेशी अस्तित्व से मुझे कुत्सा हो गई है, इतनी कुत्सा कि मैं पाषाणवत् निर्वेद हो गया हूं। कभी कभी सोचता हूं कि मरण और पुनर्मरण के प्रति मनुष्य की निरपेक्षा पर रो लूं। किन्तु मैं जानता हूं मेरे स्वजन मेरे रोने पर खुद रोने लगेंगे, इसीलिए रो रो कर भी नहीं रो पाता। निपुण तस्कर की भांति संसार नाम वाली इस सघन विषयता ने मनुष्य की मेटाफिजिकल चिन्ता को उपहृत कर रखा है। मेटाफिजिशियन नाम वाले प्रहारी के अतिरिक्त विषयी परिधि में फस गये अस्तित्व का त्राण और कौन कर ही सकता है ?

"हे महर्षि, इस विषयी अहंपुरुष की आदिभूमि अविद्या है। यह पुरुष स्वयं की अनन्त तक सम्भूति से खुश है, यद्यपि पुनर्मरण से उसे पीड़ा होती है। मैं इस अहं–पुरुष से भयभीत हूं, क्योंकि इसके आकार में अविद्या नाम वाली ईहा शरीरी हो गयी है। स्वयं को धुरी बनाकर संबन्धार्थ जगत् को स्वीकारने के लिए यह अहंपुरुष जन्मा है, और उसी की कर्मकथा के रूप में अहंपुरुष का संसार उसकी आत्मकथा का फैलाव है। में इस अहंपुरुष के आदेश को स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि बालक की तरह यह एक वस्तु से दूसरे वस्तु तक झपटता है। स्वयं से इतर विषयों को स्वयं में ही प्रतीक्ष्य कर आत्मानुप्राप्ति की यह रीति ने अहं–पुरुष को एक उन्मत तुरंग वना दिया है, ऐसा तुरंग जो विक्षिप्त हो घर से भागता है केवल घर वापस आने के लिए।

"मेरा शरीर उत्तम पुरुष में जी रहे मेरे कर्मी अहं का गृह है, "मैं" और "मेरा" कहने का माध्यम। मैं इस शरीर को अपनी परम धाम नहीं मान सकता। यह शरीर कृतघ्न है, क्योंकि बड़े. यत्न से पालन-पोषण के वावजूद यह जीर्ण-शीर्ण होकर मरता है, और मृत्यु को नकारने में अनन्त अस्तित्व की ईहाभक्ति से सहयोग नहीं कर पाता। मतिमान् व्यक्ति यह जानता है कि सत् और शरीर का सम्बन्ध आपाती है, कि शरीरी अस्तित्व उसकी आत्मा नहीं, कि वह शरीर का नहीं, कि शरीर उसका नहीं। बचपन विनोद में वीत जाता है, और युवावस्था काम-केलि में। किन्तु युवावस्था डायमण्ड के उन खण्डों की तरह है जो किसी अभागे हाथों से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

फिसलकर दूर चले जा रहे हों। फिर अल्प-वीर्य शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, और युवतियाँ उस दोहरे शरीर की उपमा ऊंट से कर मनोविनोद करती हैं। कामुकता तब भी अपने उत्कर्ष पर होती है, किन्तु शिथिल इन्द्रियाँ केवल विषाद ही दे पाती हैं। समाज जीर्ण शरीर को अनुपयोगी सिद्ध कर देता है, और क्षीणबल अहं–पुरुष केवल मानहानि भोगता है। परलोक की चिन्ता में मनुष्य पुण्य कर्म की चिन्ता में रहता है, यद्यपि शरीर बदहज़मी से इहलोक में ही त्रस्त है। और तब विषाद और व्याधि से समवेत शरीर को मौत हड़प लेती है। अस्तित्व और अमर अस्तित्व की ईहा व्यर्थ है, निष्प्रयोजन और निःसार है।

"इतने पर भी निरतिशय अस्तित्व की ईहा से प्रेरित मनुष्य सोचता है: 'यह विषय-जगत् मेरे लिए है, और मैं इसका भोक्ता हूं। ये उपकरण हैं जिनके चलते मैं वस्तु-जगत् को विषय-जगत् में बदल दूंगा, और फिर विषय-जगत् का भोग पुनः पुनः और अनन्त तक करूंगा।' ऐसा है यह कर्मी अस्तित्व जिसे मनुष्य उत्तम पुरुष की शैली में जी रहा है, और जो जीव को आत्मन् समझ लेने की भ्रांति से संजात है। "मैं" और "मेरे" की शैली में भोगा संसार मित्रों और दुश्मनों में, पक्ष और प्रतिपक्ष में विभक्त है। हे महर्षि, आप ही बताइये सत् और सम्मति के, निराकार आत्मन् और अहंपुरुष के अन्तर को समझनेवाला विचारशील पुरुष विषयी अस्तित्व को कैसे स्वीकार कर सकता है?

"हे महर्षि मैं संत्रस्त हूं। मैं मरना नहीं चाहता, किन्तु जीवित रहने का कोई सबब भी नहीं देख पाता। आप मुझे उस सत् का सम्भाषण करें जो विषय जगत् की सिद्धपीठ है। ऐसी चर्चा मुझे शान्ति देगी। होकर न होना और न होकर पुनरपि होने की व्यथा से निर्गति देगी। मुझे बताइये कि जनक जैसे महीपतियों ने वियोगी होकर भी किस कौशल से कर्मी अस्तित्व को भोगा था, उनकी पुरुषार्थी मौत का ऐसा क्या रहस्य था कि पुनर्मरण के लिए उनका पुनर्जन्म नहीं हुआ। मनुष्य अपने अस्तित्व का क्या करें? किस चिन्ता का आसरा ले मनुष्य उचित और अनुचित, सुख और दुःख की सरकुलैरिटी से निर्गति पा सकता है? और फिर ऐसी चिन्ता की भूमि क्या है? मुझे कर्मी अस्तित्व को स्वीकार करने का सबब दीजिये, ऐसा सबब जिसके परिप्रेक्ष्य में ऐसे जी सकूं कि जीवन का पारभौतिक अर्थ खो न जाय। बिना सबब के मैं सन्त्रस्त रहूंगा। यदि सबब है, और मुझे उसका निर्देश नहीं दिया जाता तो मैं अन्न जल का त्याग कर नंगे घूमूंगा। मैं सब कुछ त्याग कर आत्महत्या कर लूंगा। मेरे लिए कोई भी कुछ नहीं, और मैं भी किसी के लिए कुछ नहीं?"[1]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहने की आवश्यकता नहीं कि ईश्वर द्वारा नंगा होने और आत्महत्या करने की धमकी बड़ी गम्भीर बात है। मगर गुरु विश्वामित्र इस धमकी से भयभीत नहीं होते। विश्वामित्र उस संस्कृति की कड़ी है जिसके विधायकों ने उत्तम पुरुष की रीति में भोगे संत्रास को ईश्वर और जीव के अजनबीपन से ऊपर उठ कर स्वीकारा था। फलतः इस संत्रास का समाधान मनुष्य द्वारा ईश्वर की शरणागति में नहीं। इसका समाधान है ईश्वर के 'प्राब्लेमेटिक' हो जाने में, अस्तित्व की कुंठा को भोग कर निर्वस्त्र होने और आत्महत्या की धमकी देने में। इसीलिए तो विश्वामित्र हिन्दू धर्म के भगवान राम की प्रशंसा मतिमान् प्रश्न पूछ सकने के लिए करते हैं। आखिर ईश्वर यदि जन्म, जीवन और मरण का सबब समझे बिना अस्तित्व को अस्वीकार कर दे तो विचारशील मनुष्य ईश्वर की प्रशंसा तो कर ही सकता है। विश्वामित्र के अनुसार, कुछ लोग ऐसे हैं, विशेषतः स्वर्ग के मालिक इन्द्र जैसे देवता, जो अस्तित्व को खो देने के डर से दार्शनिक प्रश्न नहीं उठाते। विश्वामित्र की दृष्टि में अस्तित्व का अर्थ महामानव होने में है, ऐसा मानव जिसे मेटाफिजिकल चिन्तन की धुन है, और जिसे विश्वास है कि जन्म और मरण की समस्यायें उठाना मेटामेडिसिन है : **विचारो हि महौषधम्।**

किन्तु राम को जीने और मरने की पड़ी है। विश्वामित्र के हितोपदेश सुनने का धैर्य राम के पास कहां से हो? सचेत विश्वामित्र तुरन्त ही एक आख्यान सुनाते हैं, वही आख्यान जिसे व्यास की संस्तुति पर शुकदेव ने राजा जनक से विदेहनगर में सुना था। जनक ने कहा था : "हे शुकदेव, संसार की ऐसी रीति है कि उसमें सब कुछ हो करके फिर नहीं रहता। इस संसार का आविर्भाव अविद्या नाम वाली पारभौतिक ईहा से होता है। इसी ईहा के परिप्रेक्ष्य में अहं-पुरुष भोक्ता के रूप में अस्तित्ववान् हुआ है। देश और काल में विषयजगत् की सीमा इन्हीं कर्मी पुरुषों का क्रियात्मक आयाम है। संसार से, जो कर्मी पुरुषों की संकल्पात्मक सघनता ही है, तभी निर्गति हो सकती है जब मनुष्य निरतिशय अस्तित्व की वासना का अपहार शुद्धावासना से करता है।"[२] प्रसंग बढ़ाते हुए जनक कहते हैं कि अहं-पुरुष के संकल्पात्मक अस्तित्व का प्रकाशन कर ही दार्शनिक चिन्ता संसारी सच को उजागर कर सकती है। ऐसी चिन्ता मनुष्य को जीवेम शरदः शतम् के परिप्रेक्ष्य में मृत्युवरण की प्रेरणा देकर पुनरपि जन्मम् पुनरपि मरणम् से मुक्ति देती है।[३]

प्रस्तुत आख्यान अपने आप में पूर्ण है। यह उन प्रश्नों की अपरिहार्यता सिद्ध करता है जिन्हें वह उठाता है, और पूछे गए प्रश्नों का आवश्यक उत्तर नहीं देता। योगवासिष्ठ ईश्वर को 'प्राब्लेमेटिक' अस्तित्व दे उन्हें मतिमान् प्रश्न पूछने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की बुद्धि देता है, ऐसे प्रश्न जिन्हें अजनवी हो गये ईश्वर ने स्वयं को पहिचानने के लिए पूछा है। अतः ये प्रश्न निरीह नहीं, वस्तुजगत् के प्रति तटस्थ साइन्टिफिक उत्कण्ठा मात्र नहीं। योगवसिष्ठ के लेखक ने अजनवी अस्तित्व को भोगा है, फिर समाधान पाकर समस्या तक लौटा है। इसीलिए तो राम के प्रश्न "प्लाण्टेड" हैं, पूर्वानुमानित समाधान के वाचक हैं। सम्भावित समाधान खोजने के पूर्व ही उत्तर स्वयं प्रश्नों के मिस मुखर हो गए हैं। राम के प्रश्न-समाधान-विशेष के पक्ष में युक्ति है, एक दार्शनिक प्रतिज्ञा तक पहुंच सकने की सीढ़ी। यह सच है कि ये प्रश्न समाधान खोजते हैं, उससे भी बड़ा सच है कि ये अवाग्र प्रतिज्ञा की प्राप्ति के बाद पूछे गए हैं। राम के प्रश्न वस्तुजगत् को तदर्थ स्वीकार करने और एक विशेष आयाम ने 'प्राव्लेमेटिक' अस्तित्व से वाकिफ होने के प्रस्ताव है। योगवासिष्ठ का दर्शन 'हरम्यूनिटिकल सरकिल' का एक आदर्श नमूना है, अवाग्र निष्कर्ष से प्रेरित तकनीक द्वारा उसी निष्कर्ष तक पहुँचने का उदाहरण।

प्रस्तुत आख्यान के प्रश्न 'आन्टोलाजीकिल' हैं। वे वस्तुकृत हो गये अस्तित्व के प्रति मतिमान् आक्रोश हैं और मौत के रोज़-व-रोज के अन्दाज में आमूल परिवर्तन चाहते हैं। ये प्रश्न संत्रस्त अस्तित्व की अभिव्यक्ति है, ऐसा सत्रास जो दार्शनिक चिन्तन पर अनाधारित अस्तित्व को अस्वीकार करने और सतर्क चिन्तन के बावजूद जीवन के सबब तक न पहुँचने से संजात है। राम मानते हैं कि शरीर सम्बन्धार्थ जगत् को भोगने का साधन है, यश और अधिकार की कर्मभूमि है। किन्तु वे शरीर को अकृतज्ञ कहते हैं, क्योंकि मनुष्य की कामना के बावजूद शरीर जीर्ण-शीर्ण होकर बेज़ान हो जाता है। उन्हें मालूम है कि वृद्धावस्था में लैंगिक ईहाएँ उत्कट होती हैं, किन्तु वे त्रस्त इसलिए हैं कि ढ़ल गई इन्द्रियाँ मनुष्य को ज़लील करती हैं। राम के शरीर और मन में बेगानकी है। इस विवर अस्तित्व के प्रति उन्हें आक्रोश है, क्योंकि निरतिशय अस्तित्व की ईहा और उसके साधन-रूप शरीर में अजनवीपन है। राम को लगता है जैसे उनके अस्तित्व की गरिमा लूट गई हो, क्योंकि अनन्त तक रह सकने की एषणा और वैसा न हो सकने कि नियति में इतरीभाव है।

किन्तु प्रस्तुत आख्यान का मोटिफ यहीं नहीं समाप्त होता। राम का अस्तित्ववाद न तो फ्रेंच है और न तो उनका अजनवीपन काफी हाऊस का है। मृत्युमय अस्तित्व से सार्त्र का मानव अपमानित हुआ, इतिहास में ही ईश्वर हो सकने की एषणा को असफल देख उस मानव ने ऐतिहासिक अस्तित्व को ही व्यर्थ माना। सार्त्र के अनुसार मनुष्य की समस्या है उसका ईश्वर न होना; उस समस्या का समाधान है ईश्वर हो सकने में। जो सार्त्र के अनुसार समाधान है वही योग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाशिष्ठ के अनुसार समस्या है। राम ईश्वर हैं, वे सर्वत्र समस्तरूप इस तरह से हैं कि सब कुछ उन्हीं के लिए है। ऐसे ही ईश्वर अपने ईश्वर-पन से ऊब गए हैं। किन्तु अस्तित्व की निरसता केवल ईश्वररूप राम को ही नहीं, मनुष्यरूप राम को भी है। पुनर्जन्म और पुनर्मरण में राहे-गुजर हो राम थक गए हैं; और अमरत्व की कल्पना से ही उन्हें उल्टी होने लगती है। वृद्धावस्था उन्हें जलील करती है, 'इटरनल रिकरेन्स' से वे त्रस्त हैं; मरने के लिए जन्म लेने को वे अपमान समझते हैं, और अमरत्व की भावना से उन्हें चक्कर आने लगता है। योगवाशिष्ठ की सबसे बड़ी देन है हिन्दू ईश्वर को अस्तित्ववादी बना देने में, समस्याओं के समाधान को समस्या बना देने में।

मानव राम का अस्तित्व 'क्राइसिस' में है। इस 'क्राइसिस' का कारण है: जन्म से पहले वे मरे हैं, और मरणोपरान्त उनका जन्म होगा पुनर्मरण के लिए। योगवाशिष्ठ के राम इस तर्क से आश्वस्त नहीं हो सकते कि जब तक जीवन है मौत नहीं, और मरने के बाद जीवन नहीं। उनका विश्वास है कि वे जीवित इसलिए है कि वे मरे हैं। जीवन की शर्त मौत है। वे संत्रस्त इसलिए हैं कि मृत्यु भी उनके अहंपुरुष का परिहार करने में असमर्थ है, इसलिए नहीं कि मृत्यु एक बाह्य सत्ता है जो उनके अस्तित्व का अन्त कर देगी। राम मृत्यु से भयभीत हैं, इसलिए नहीं कि मृत्यु अजनबी है बल्कि इसलिए की मृत्यु को वे जानते हैं, भोगे हैं। आखिर जो अद्यतन अज्ञात हो उससे भय क्यों? भय एक अनुभव है, और जो अननुभूत है उससे भय नहीं। राम का भय युक्त भय है, परिकल्पित या सम्भावित नहीं। उनको भय इसलिए है कि वे पहले भी मर चुके हैं, और फिर मरेंगे। उन्हें बोध है कि मृत्यु एक क्लेशमय अनुभव है। वे केवल यही जानना चाहते हैं कि इस क्लेशानुभव के बावजूद अहंपुरुष मृत्यु को क्यों अस्वीकार करता है, विशेषत: जब पुनर्जन्म के बाद उसका पुनर्मरण होगा ही। राम के लिए मृत्यु आनुषंगिक नहीं, बल्कि देश और काल में विषयी अस्तित्व का सबब है। मृत्यु की चिन्ता भी अचेतन और आनुषंगिक नहीं। मरण अत्यन्त अकेलेपन की स्थिति है, परदेशी हो गए अस्तित्व में आमूल आत्म-चेतना की स्थिति। कुछ चिन्तकों के अनुसार मृत्यु की सचेत प्रत्याशा विकृत जीवन की अभिव्यक्ति है। राम के विचार से ऐसे लोग आत्म-प्रवंचना में व्यस्त है। इन लोगों ने मानसिक विकास और वयस्क जीवन के विरुद्ध कसम खा रक्खी है। इनका अस्तित्व निरन्तर शिशुता को अर्पित है।

राम इस सुखद आत्म-प्रवंचना और अमरत्व की ईहा से संजात शिशुता को अस्वीकार करते। दर्शन से वे उस जीवन-शैली की माँग करते हैं जिसमें मनुष्य थम पुरुष में जन्म ले सके, प्रथम पुरुष में जी सके, और प्रथम पुरुष में ही मौत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का वरण कर पुनर्जन्म और पुनर्मरण की व्याधि से मुक्ति पा सके। अस्तित्व की गरिमा सौ साल जी कर मरण की सामर्थ्य में है। ऐसी जीवन शैली कुछ दार्शनिक 'कैटिगरीज' पर टिकी है, जिनका विवरण हम आगे आनेवाले संभागों में देंगे।

द्वितीय प्रभाग

"सत्" एक निरपेक्ष पद है, उस अप्रतिम सत्ता का द्योतक है जो स्वयं से है, और स्वयं में ही नित्यतः ठहरी है।[४] सत् एक विश्वात्मक जमाव है, पूर्णता की ऐसी स्थिरता जो सर्वत्र, सर्वदा, और सदैव से समस्त है। यह ऐसी तार्किक पूर्णता है जो जोड़-तोड़, गुणा-भाग से अपर है। इस निरपेक्ष सत्ता में योग करना वदतोव्याघात होगा, क्योंकि जिसका योग सत् में हो सकता है वह स्वयं सत् है।[५] सत् में वियोजन भी संभव नहीं, क्योंकि जो घटाया जा रहा है वह स्वयं सत् ही है। सत् एक सम्पूर्णता नहीं, इदम्-तद् के योग का तुल्यांक नहीं। सत् कोई पदार्थ नहीं, 'इदम्' और 'तद्' जैसे शब्दों से सम्बोधित वस्तु नहीं। 'इदम्' और 'तद्' से सत् का अभिधान करना भाषा के माध्यम से सत् का विरूपण करना है।[६] सत् इदन्ता नहीं, विज्ञप्ति-वाचक वाक्यों का विशेष्य नहीं। ज्ञान का अविषय होने से सत् प्रमेय नहीं। विषयज्ञान एक निर्धारित ज्ञान है, परिमित घट का ज्ञान जिसमें घट-विशेष से इतर वस्तुएँ घट की प्रतियोगी होती हैं। ऐसी सत्ता जिसका यद् किंचित् से अभेद हो और जो किसी भी तरह से किसी भी का स्वयं से वर्जन न करती हो—ऐसी सत्ता वाच्य-वाचक वाक्यों का विशेष्य नहीं हो सकती।[७] सत् एक अविभाज्य समस्तता है, इदम्-तद् की भाषा से अपर। ज्ञान सामग्री का विषय न होने के कारण सत् के भाव या अभाव का निर्देश नहीं हो सकता, और न तो उसकी सत्ता के बारे में कहे गये विधि या निषेध वाक्यों का प्रमाणीकरण ही।[८]

सत् एक अप्रतिम सामान्य है, इस अर्थ में नहीं कि घट या पट की भाँति यह एक क्लास (जाति) है वल्कि इस अर्थ में कि सर्वथा और सर्वत्र ही यह समस्त रूप से सर्व है। सत् किसी वस्तु का धर्म या गुण नहीं और न तो विशेष सत्ता के रूप में अभिधेयों या गुणों का धारी ही।[९] 'गाय श्वेत रंग की है', इस प्रपोजीशन में 'श्वेत' शब्द श्वेतत्व और श्वेत गाय दोनों का द्योतक है। यहां 'श्वेत' शब्द सामान्य का निरूपक है, गायों की ज्ञातिगत समरूपता और व्यक्तिगत भिन्नता का निश्चायक। इस सामान्य का व्यापार वस्तुओं की समानता और वैशिष्ट्यता को स्थापित करना है, इसके विना दृष्ट जगत् का पतन हो जायेगा। एक गाय-विशेष अन्तस्थ गोत्व के कारण ही गाय से इतर अनन्त वस्तुओं से ही भिन्न नहीं है, बल्कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्य नीली पीली गायों से भी पृथक् है। ऐसा सामान्य व्यवहार जगत् का विधायक है, ऐसा जगत् जहां वस्तुओं में परस्पर भेद है और जहां वस्तु विशेष के समान और भी वस्तुएँ हैं।

सत् इस अर्थ में सामान्य नहीं।[१०] वस्तुतः यह नानार्थ जगत् का विधायक ही नहीं। सत् किसी भी वस्तु से भिन्न या अभिन्न नहीं, क्योंकि यह कोई वस्तु नहीं। सत् किसी वस्तु के सदृश नहीं, क्योंकि सत् से इतर और कुछ है ही नहीं। यह किसी के सदृश नहीं, क्योंकि सत् से भिन्न कुछ है ही नहीं। सत् न तो इदम्, तद् है और न उनका भेदक ही। सत् अमात्र है, किसी भी तरह से किसी भी का मानक नहीं।[११] यह कोई मूलमंत्र नहीं जिससे उचित और अनुचित, शिव और अशिव जैसे मूल्य अनुमानित हो सके। सत् उन परिस्थितियों से परिमित नहीं जिनके चलते 'दूर और दूरतर', 'अधिक और अधिकतर', 'श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर' जैसे भावों में भाषा का व्यापार होता है। वस्तुतः सत् में ऐसे भावों पर टिके संसार का पतन होता है। सत् पुरुषार्थी नहीं, बल्कि समस्त पुरुषार्थों का व्याघाती है।[१२] इदम् तद् से प्रेरित लाजिक में नान-टाटोलाजिकल प्रवृत्ति का आदेश है, प्रमेयों में प्रामाणिक अभिधेय उपपन्न कर सकने का दस्तूर। किन्तु सत् में टाटोलोजी के अलावा, पुनरुक्ति के अतिरिक्त कोई अभिधान सम्भव नहीं। सत् विश्वात्मक स्तब्धता है।[१३] अपुरुष और निश्चेष्ट होने के नाते सत् कुछ कहता नहीं, कह सकने का विषय नहीं। पुरुषार्थी अहंपुरुष से संजात बुद्धि और भाषा में चुप रहने की सामर्थ्य नहीं। सत् के बारे में कुछ कहा जा सकता नहीं, मगर कुछ कहे बिना मनुष्य रह सकता नहीं। परिणाम वही होगा जो होना चाहिए: यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह......।

सत् कर्मी पुरुष नहीं, भोक्ता या भोग्य नहीं। मेरे संसारी अस्तित्व की यह अनिवार्यता है कि जो मैं होकर नहीं रहा वही मैं जो कुछ हूँ का सबब है। "मैं वह जीव हूं, जो था, जो वह हो सकता हूं, वह होऊंगा। इस हो चुके और हो सकने के बीच मेरा अस्तित्व कुछ ऐसा है जो मेरी ही हाथों की पकड़ से भागा जा रहा है।"[१४] मैं अपनी ही विरासत हूं, स्वयं का आधार हूं, अपना ही भोगा इतिहास और अपनी ही कर्म-कथा। कर्मी पुरुष होने के नाते मैं इतिहास-पुरुष हूं, आगत और अनागत का राहे-गुजर हूं। स्वयं तक पहुंच सकने के लिए ही मैं वर्तमान से भागा जा रहा हूं। मगर सत् तो कर्म पुरुष नहीं। हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि सत् कब नहीं था और क्या हो सकने के लिए क्या नहीं रहा।[१५] सत् से इतिहास नहीं, सत् इतिहास से नहीं, सत् में इतिहास नहीं, सत् और इतिहास का कोई सम्बन्ध नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि सत् अत्र और इदानीम्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, तत्र और तदा नहीं। सत् समस्त और सर्वदा है, वह ऐसी चीज नहीं जो कुछ हो सकती है, या जो कुछ हो चुकी है, या जिसमें कुछ हो रहा है।[१६] सत् कर्म-रहित और काल-रहित, बुद्धि-रहित और शब्द-रहित आकाशवत् निःस्तब्धता है।[१७]

सत् गतिहीन है।[१८] संकल्पात्मक चेतना का ईहात्मक अन्त्य की ओर गमन ही 'गति' है। संकल्प का अर्थ है अभाव का बोध और उस बोध को पूर्ण करने के लिए साधनों का अभिधान।[१९] अभाव जड़ वस्तु और निर्विषयी चेतन में नहीं हो सकता। अभाव एक बोध है, विषय भावना है। परिमित और प्रथम पुरुष में जी रहे जीव को ही अभाव बोध हो सकता है, ऐसा पुरुष जो "मैं" और "मेरे" की शैली में जी रहा है। मुझे किसी वस्तु के अभाव का बोध है क्योंकि मैं एक चैतन्य पुरुष हूं और मुझमें उस वस्तु विशेष को प्राप्त करने की इच्छा है। ऐसा नहीं कि मुझे वस्तु की इच्छा इसलिए है कि वह वस्तु विशेष मेरे पास नहीं है, मुझे उस वस्तु की इच्छा है इसलिए मुझे उसका अभाव है। महानिद्रा में मग्न सत् को तो सत् होने का भी बोध नहीं। सत् पूर्ण है इसलिए नहीं कि वह सबका समस्त रूप से धारी है। सत् पूर्ण इसलिए है कि उसमें किसी विषय की इच्छा नहीं, इसलिए किसी वस्तु का अभाव नहीं।[२०] सत् चेतना मात्र है, बिना किसी विषय बोध के और फलतः आत्म-बोध से रहित। सत् नाम-रहित, रूप-रहित, बुद्धि-रहित, शब्द-रहित, काल-रहित, कर्म-रहित निरपेक्ष सत्तामात्रता है। सत् अतीव निरीह है, इसमें कोई भाव या अभाव नहीं, विधि और निषेध नहीं, राग और विराग नहीं, आज और कल नहीं। सत् ऐसी सत्तामात्रता है जिसका अन्यथा भाव नहीं, ऐसी भूमि जिसमें संभूति नहीं। सत् एक आन्टोलाजिकल टोटोलोजी है।[२१]

सत् वस्तुमात्रता है। यह स्वयं से इस कदर चिपक गया है कि इसमें किंचित् दरार या विवर नहीं, स्वयं का स्वयं में जमाव इतना अपारदर्शी है कि उसमें अस्ति और शक्ति का, यथार्थ और सम्भावनीय का इतरीभाव नहीं।[२२] सत् इस हद तक आप्तकाम है कि इसमें आपाती स्फुटन भी सम्भव नहीं, स्वयं को ही स्वीकार करने के लिए अपना प्रतियोगी बनने की सामर्थ्य नहीं। सत् कोई पद नहीं, ऐसी 'थीसीस' नहीं जो स्वयं से ही डायलेक्टिकल सम्बन्ध में रह सकने के हेतु स्वयं का ही 'एण्टी–थीसीस' हो सके।[२३] सत् इतना अहृष है कि सत्तामात्रता से ऐतिहासिक अस्तित्व तक, स्वयं को विषयजगत् में खोकर स्वयं को निरपेक्ष अहं तक सम्पूर्ण करने के अन्तराल का राहे गुजर नहीं हो सकता।

सत् में उत्कर्ष शक्ति नहीं। यह न तो हेगेल के 'स्पिरिट' की तरह सिर पर चल सकता है, न कार्ल मार्क्स के डायलेक्टिक की तरह पैर के बल। सत् का कोई गन्तव्य नहीं, क्योंकि उसमें कोई ईहा नहीं जिसके शरीरी होने की प्रक्रिया स्वरूप

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संसार कहीं से चलकर कही पहुँच सके।[२४] सत् न तो जन्म लेता है, न मरता है, इसमें न इच्छा है न सदिच्छा। ऐसा अपुरुषार्थी सत् न तो कुछ पा सकता है न तो खो सकता है न दे सकता है, न किसी कार्य का कर्ता है न किसी कारण का कार्य।[२५] सत् कार्य-कारण के प्रवाह से ऊपर है। सत् स्वयम्भू है केवल इसी अर्थ में कि कार्य-कारण की कैटिगरी इसकी व्याख्या नहीं हो सकती। [२६] सत् "क्यों" प्रश्नों के प्रति खामोश है, स्वयं इसकी सत्ता विना "क्यों" के है। सत् 'एब्सर्ड' है।

तृतीय प्रभाग

सत् की इस परिकल्पना ने भारतीय बौद्धिक परम्परा को व्याकुल कर दिया। 'सत्' और 'कारण' पर टिकी हिन्दू संस्कृति यकायक बेसबब हो गयी। अस्तित्व और मरण के प्रस्तुत संन्दर्भ में दो प्रश्न अपरिहार्य से लगते हैं। प्रथम, ऐसे सत् का उस कर्मी मानव से क्या सम्बन्ध है जो अहं-पुरुष में अस्तित्व भोग रहा है और जिसकी ही कर्म कथा यह संसार है? दूसरे, जन्म और मरण से संत्रस्त जीव के लिए इस अजन्मे और अमर सत् की क्या सार्थकता है? हम दूसरे प्रश्न की व्याख्या आने वाले प्रभागों में करेंगे और पहिले प्रश्न की मीमांसा इस प्रभाग में।

कोई भी दार्शनिक संस्कृति कुछ मूल शब्दों पर टिकी होती है। "सत्" और 'कारण' ये दो शब्द हिन्दू संस्कृति की भूमि है। "वह ऋषि कहाँ जो मेरी समस्या का समाधान कर उके ? उस आदि-कारण को कौन जानता है जिससे जगत् संजात हुआ ? यदि कोई ज्ञाता है तो यहाँ आये और उस ज्ञान की घोषणा करे।" दीर्घतमस् ने इन प्रश्नों को ऋग्वेद में पूछा था। उनका मन विश्व का एक स्नैपशाट लेता है, फिर आशुचित्र लेकर शतशः परिकल्पनाओं में बिखर जाता है। जगत् के अस्तित्व से ही दीर्घतमस् घवड़ा जाते हैं। वे स्वयं को दृष्ट जगत् में प्रवासी इसलिए मान लेते हैं कि वे इसके आदि कारण को नहीं जानते, उनका मन इतना व्यग्र है कि वे अनिद्रा और बदहज़मी से त्रस्त हैं। दीर्घतमस् 'प्राब्लमैटिक' हो गये।

दीर्घतमस् की भाषा उनके त्रस्त अस्तित्व की अभिव्यक्ति है। बेसबब जगत् को वे अस्वीकार करते हैं, और सबब के मिस पूछे गये प्रश्नों का जबाब उन्हें मिलता नहीं। किन्तु ये प्रश्न अबोध नहीं। दीर्घतमस् ने दशकों तक शिक्षा-संस्थानों का भ्रमण करने के बाद इन प्रश्नों को पूछा था। इन प्रश्नों में एक दार्शनिक चिन्तन की शैली और उस चिन्तन के आयाम में एक विशेष समवायी जीवन को प्रतिष्ठित करने की तकनीक अन्तस्थ है। [२७] ये प्रश्न मुकुर हैं, उस चेहरे के मुकुर जिसे सत्ता को संनिहित करने का व्यसन है और जो बेकैफ़ियत अस्तित्व को व्यर्थ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS MoE-Grant-2

मानता है। ये प्रश्न 'प्राइमेसी' जगत् को नहीं देते हैं, देते हैं उन शर्तों को जिनके चलते वे जगत् को स्वीकार कर सकें। संस्कृति की आदि बेला में ही मनुष्य के मन और उसमें अन्तस्थ तर्क ने स्वयं को जगत् का विधायक माना। तभी तो दीर्घतमस् को बदहज़मी हो गयी, और उनके बाद भी कितने ही लोग उन्हीं प्रश्नों को दुहराते हुए बीमार हो गये। उपनिषदों ने इस तरह दुहराया : वह कौन सी सत्ता है जिसके ज्ञात होने पर सब कुछ ज्ञात हो सकता है ? उत्तर मिला : सत् (ब्रह्मन्) के जान लेने पर, जो सब कुछ का कारण है।

इस तरह कार्य-कारण की अनुमान-विधि में विशिष्ट भारतीय मेटाफिजिक्स जन्मी। और साथ में जन्मी जगत् के कारण को जान लेने पर जगत् को स्वीकार करने की संस्कृती। मानसिक संत्रास में जन्मी इस मेटाफिजिक्स ने निदानात्मक चिन्तन की विधि मेडिसिन से उधार मांगी : क है ख, ग के कारण। यह हेतु-विद्या दो मान्यताओं पर टिकी है। प्रथम, किसी वस्तु या तथ्य को उसके कारण से सम्बद्ध करके ही जाना जा सकता है। दूसरे, हर वस्तु सम्पूत है, और इस सम्पूति का कोई सबब है जिसका स्वरूप कारणात्मक है। इस चिन्तन विधि की यह पूर्व-धारणा थी जगत् तभी सार्थक हो सकता है जब यह सत्य सिद्ध हो सके। इसका निष्पादन तत्त्वशास्त्रियों ने सत् को आदि कारण परिकल्पित करके और दृष्ट जगत् को कार्यसिद्ध करके किया। सत् – जिसके नाम ब्रह्मा, शिव, ईश्वर इत्यादि हैं—चैतन्य पुरुष है, जो अनन्त और सब कुछ सर्वत्र और सदैव ही समस्त है। महा-निद्रा में मग्न यही सत् यकायक इच्छाशक्ति के बल उठ खड़ा हुआ अपने अस्तित्व का ख्यापन करने के लिए, "अहम् इदम्" का आख्यापन करने के लिए। सत् द्वारा आत्म-विज्ञप्ति की इसी प्रक्रिया का नाम संसार है, ऐसी कार्यावस्था जिसमें निरपेक्ष अहं (ईश्वर) स्वयं को स्वीकार करने के लिए स्वयं को ही अनन्त इदं में बिखेर दिया है। अतः आदिकारण की कार्यावस्था होने के कारण दृष्ट जगत् सत्य है, अनन्त कार्यों में सम्पूत आदि कारण स्वरूप सत् सत्य है, और दोनों का सम्बन्ध भी उतना ही सत्य है। जगत् शिव क्योंकि यह सत्य है, उस आदि कारण का कार्य जो समस्त पुरुषार्थों की धाम है।

मेडिसिन पर टिकी भारतीय मेटाफिजिक्स की एक और पूर्व धारणा थीं : प्रमाणशास्त्र की भूमि पर स्वस्थ समवायी जीवन की स्थापना। तर्कपरक जीवन की प्रतिष्ठा के लिए तत्त्वशास्त्रियों ने पदार्थों का वर्गीकरण, उनके सामान्य और संजात गुण-धर्मों, पदार्थों और धर्मों के बारे में प्रामाणिक प्रापोजीशन इत्यादि का अध्ययन किया। इस तरह प्रमाणशास्त्र का इज़हार हुआ जिसके अनुसार मनुष्य का स्वास्थ्य 'कागनिटिव सब्जेक्ट' होने में है, और स्वस्थ जगत् ऐसे प्रमेयों की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मेखला जिनके बारे में विधि और निषेध वाक्यों का विन्यास हो सके। यह तारक भाषा वाच्य-वाचक लाजिक से अनुशासित थी, ऐसा लाजिक जो न्यायशास्त्रियों के अनुसार समस्त चिन्तन का आधार, सभी सद्कर्मों का साधन, और सभी धर्मों की धाम है।[२८] लाजिक श्रेष्ठतम तारक शक्ति है, महौषधि है।[२९]

इस आरोग्यकर लाजिक का इज़हार गौतम अक्षपाद ने दो बातों को ध्यान में रख कर किया था।[३०] प्रथम, दृष्टजगत् को आदिकारण का कार्य सिद्ध कर इसकी सार्थकता सिद्ध करना, मनुष्य के जन्म, ज़ीवन और मरण का मूल्य देना। आदिकारण जैसे महासत्य के सन्दर्भ में मनुष्य जन्म ले, सद् कर्म करे, और फिर वृद्धावस्था में मर सके। गौतम अक्षपाद का दूसरा ध्येय था अनुभव का विकल्पों के माध्यम से अनुशासित करना, इस हद तक पूर्वानुमानित कर देना जैसे वस्तुएँ या घटनाएँ अनुमान प्रमाण की कड़ियाँ हों। विशृंखल विश्व से संजात दीर्घतमस् की बदहज़मी को अन्वयव्यतिरेक की अनुमान पद्धति ने स्वस्थ किया। इस पद्धति की अभिरुचि मुख्यतः कारण में नहीं, बल्कि कारण की परिभाषा और कार्य-कारण की व्याप्ति सिद्ध करने में हैं।[३१] हम क को कारण मान लें, और ख को कार्य। जब क का भाव है तो ख का भी, जब क का अभाव है तो ख का भी अभाव है। जगत् में स्थित नाना वस्तुओं के अतिरिक्त, इस प्रतिमान का प्रयोग जगत् और ईश्वर के बीच कार्य-कारण संबंध सिद्ध करने के लिए किया गया है। "ईश्वर जगत् का कारण है," इस वाक्य की प्रामाणिकता का निदर्शन "जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है" के प्रतिमान पर किया गया।

किन्तु इस न्याय पद्धति से दीर्घतमस् स्वस्थ नहीं हुए। उनकी बदहज़मी की मुल्तबी ही हो सकी। अन्वय-व्यतिरेक के प्रतिमान द्वारा ईश्वर की कारणता और जगत् की कार्यता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। वस्तुतः "जब क नहीं, तब ख नहीं" के सत्य होने पर ही "जब क है, तब ख है" सत्य हो सकता है। किन्तु आदिकारण ईश्वर नित्य और एक है। नित्य और सर्वव्याप्त सत्ता महानस में धूम-अग्नि की तरह अनेक बार उदाहरण के तौर पर पेश नहीं किये जा सकते। नित्य है उसका अन्यथा भाव नहीं होता। वैसे ही "जगत्" शब्द न किसी विशेष सत्ता का द्योतक है न सामान्य का, जैसे "घट" और "घटत्व" क्रमशः घटविशेष और सामान्य घट के द्योतक हैं। "जगत्" शब्द किसी विशेष या सामान्य विशेष का वाचक नहीं। "जब मैं आंख खोलता हूँ तो एक जोड़ी जूते देख सकता हूं, तारे देख सकता हूं, मगर मैं "जगत्" नहीं देख पाता। मैं गायों का रंभाना सुन सकता हूं, लेकिन मैं "जगत्" को नहीं सुन पाता। वही हालत मेरी अन्य ज्ञानेन्द्रियों की भी है। वे अकेले या सब साथ में "जगत्" का अनुभव नहीं कर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पाती । वे हमेशा विषय विशेष का अनुभव करती हैं ।"[३२] "यत्र धूमो तत्र वृह्निः" एक युक्तिसंगत वाक्य है जिसकी प्रामाणिकता अनुभव सिद्ध है । किन्तु, "ईश्वर कारण है, जगत् कार्य है" इस वाक्य में हेत्वाभास है, इसकी प्रामाणिकता को निदर्शित करने के लिए अनुभवजन्य उदाहरण अनुपलब्ध हैं । "ईश्वर" और "जगत्" जैसे शब्द प्रमेय सत्ताओं के द्योतक नहीं । "ईश्वर कारण है, जगत् कार्य है"–इस वाक्य की प्रामाणिकता की न तो पुष्टि हो सकती है, न निषेध । निषेध उसी सत्ता का हो सकता है जो प्रमेय हो जिसका प्रतियोगी संभव हो, ज्ञान सामग्री उपलब्ध होने पर जिसका भाव प्रदर्शित हो सके, और ज्ञान-सामग्री के बावजूद जिसका अभाव हो । उदाहरण के लिए "पुस्तक मेज पर नहीं है ।" [३३] परिस्थिति विशेष में पुस्तक मेज पर हो सकती है, दूसरी परिस्थिति में पुस्तक मेज पर नहीं भी हो सकती है । दोनों परिस्थितियों में पुस्तक का भाव और अभाव ज्ञान का विषय होता है । किन्तु उन परिस्थितियों की कल्पना नहीं की जा सकती जहां नित्य और सर्वव्याप्त ईश्वर न हो । कारण सत् और कार्य जगत् की परिकल्पना व्याघातक, असंगत और व्यर्थ है ।

दीर्घतमस् की बदहजमी फिर उभरी । मगर एक रोचक आयाम के साथ । नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति, धर्मकीर्ति और रत्नकीर्ति जैसे बौद्ध न्यायशास्त्रियों ने कार्य-कारण सिद्धान्त की सीमा दिखाकर यह सिद्ध कर दिया था कि हिन्दू दर्शन ने दीर्घतमस् की बदहजमी का निदान गलत किया था । इस बात को सुनकर सबसे ज्यादा खुशी हुई अद्वैत वेदान्तियों को जिनके अनुसार निरपेक्ष सत्ता में सक्रिय कारणता का आरोप असंगत है । कार्य-कारण के भार से सत् को मुक्ति हुई, उसकी निरपेक्ष सत्ता-मात्रता की रक्षा हुई । वस्तुतः जगत् की सत्ता है, मगर इसकी भूमि में कोई तार्किक अनिवार्यता नहीं, लाजिकल नेसेसिटी नहीं । कार्य-कारण के सिद्धान्त की असफलता से जगत् एक रहस्य हो गया, क्योंकि जगत् की सत्ता की एकमात्र तार्किक व्याख्या फेल हो गयी । इस रहस्य का नाम है माया । जगत् एक अनादि यथार्थता है जिसकी व्याख्या के लिए "क्यों" और "कब" जैसे प्रश्न अयुक्त हैं । यदि कोई सम्बुद्ध व्यक्ति कहे कि "मैं नहीं जानता," तो प्रश्नकर्ता, जो उतना ही सम्बुद्ध है, उन प्रश्नों को नहीं दोहराता जिनके उत्तर में किसी सम्बुद्ध पुरुष ने कह दिया, "मैं नहीं जानता" । [३४]

इस प्रस्ताव में चिन्तन के नये आयाम अन्तस्थ हैं । वस्तुतः दीर्घतमस् की वदहजमी प्रश्नों की गलत परिकल्पना से हुई । दीर्घतमस् का पूर्वाग्रह था कि जो कुछ भी पूछा जा सके वह प्रश्न है, और हर प्रश्न का तर्कसंगत उत्तर है । योगवासिष्ठ दीर्घतमस् के पूर्वाग्रह से मुक्त है । वसिष्ठ कहते हैं, "जगत् कहाँ से और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कब संजात हुआ ? हे राम, ऐसी चिन्ता आपको न हो। इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।" [३५] वसिष्ठ के इस प्रस्ताव में मेटाफिजिक्स और प्रमाणशास्त्र की उपेक्षा का आदेश है, जीवन मरण के नये सन्दर्भ अन्तस्थ हैं। "मैं कौन हूं ? यह संसार मुझे कैसे घटित होता है ? मैं अहं पुरुष कैसे हो गया, ऐसा पुरुष जिसका अस्तित्व कर्मी है और जिसका संसार उसी का ही कर्म संघात है ? इस शैली में पूछे गये प्रश्नों पर अनुमनन करना ही दार्शनिक चिन्तन का अर्थ है।" [३६]

दर्शन की यह परिभाषा क्रान्तिकारी है। यह क्रान्ति चिन्तन के उस आयाम का मुकुर है जिसके अनुसार संसार की सार्थकता उसके सत्य होने में नहीं, बल्कि यह प्रदर्शित करने में है कि सार्थकता केवल मिथ्या की ही हो सकती है। अतः जगत् की सार्थकता की रक्षा के हेतु उसे सत् से संजात सिद्ध करना पूर्वाग्रहमात्र है, आदिम प्रवृत्ति का द्योतक है। परम्परा से प्राप्त ऐसे पूर्वाग्रह से मुक्ति चाहने के लिए ही अद्वैत वेदान्तियों ने सत् को निरीह और अपुरुषार्थी माना, अन्ततः यह बताने के लिए कि जगत् सार्थक इसलिए है कि यह सत् की सृष्टि या परिणाम नहीं, कि अहं पुरुष का जन्म, जीवन और मरण सत् के कारण नहीं बल्कि सत् के बावजूद है। अकर्मी सत् से कर्मी संसार तक का संक्रमण किसी तार्किक या तात्त्विक अनिवार्यता के कारण नहीं, बल्कि काकतालीय योगेन है, आपाती स्फुटन है। [३७] तार्किक दृष्टि से यह पारभौतिक स्फुटन एब्सर्ड है, अप्रतिम कपट का नमुना है। [३८] कपट का अर्थ है : जो तर्करूपेण असम्भव है, वह अस्तित्वरूपेण संभव हो जाता है। [३९] इस आपाती कपट का नाम माया है, ऐसी अनादि वासना जो निरीह, आप्तकाम सत् का तिरोभाव कर तत् देश में ही अहं पुरुष का निक्षेप करती है, काल और कर्म के मिस निरपेक्ष अहंपुरुष होने का भार सौंप देती है। [४०] अतः माया कर्मी पुरुष के आविर्भाव की पारभौतिक शर्त है। यह माया प्रमेय नहीं, बल्कि समस्त प्रमाण-प्रमेय की पूर्वाग्र भूमि है। इसे प्रमेय बनाना महासाहस का काम है, ऐसा साहस जो बाल बुद्धि वाले ही कर सकते हैं, संबुद्ध व्यक्ति नहीं। [४१]

माया की ऐसी विरोचित गरिमा क्यों ? इस प्रश्न को उठाने में हमारा विशेष प्रयोजन है। हम माया की परिभाषा को दोहराना नहीं चाहते। आचार्यों ने इस कार्य को ज़रूरत से ज्यादा ही कर दिया है। हम यह प्रश्न यह सिद्ध करने के लिए किये हैं कि सार्थक अस्तित्व का आधार माया है, और गरिमामय मृत्यु-वरण का आधार सत् या ब्रह्मन्। हम देख चुके हैं कि आप्तकाम सत् एक लाजिकल और आन्टोलाजिकल टटोलाजी है, और जिसका अन्यथाभाव नहीं हो सकता। अजर और अमर सत् के स्वरूप में संसार की असाध्यता और असंभवता अन्तस्थ है। सत् की इस परिकल्पना पर खड़े लाजिक का आदेश है कि संसार असम्भव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो। जन्म-मरण वाले कर्मी अस्तित्व का आदेश है कि अकाल और निश्चेष्ट सत् का निषेध हो, कम से कम तिरोभाव हो। एसेन्स का, सत् का आदेश है कि अहं-पुरुष का अस्तित्व असंभव हो, और अस्तित्व का आदेश है कि सत् विस्मृत हो जाये। अविद्या द्वारा सत् के तिरोभाव का आशय है : कर्मी संसार लाजिक की पारभौतिक पराजय का दृष्टान्त है, उस लाजिक की पराजय जिसके अनुसार तर्क-संगत सत्य केवल टाटोलाजी ही हो सकता है।[४२] अविद्या उस मन की परिकल्पना है जिसकी अभिरुचि वस्तुजगत् में नहीं, न ही उसकी अभिरुचि है प्रमाण-शास्त्र से नियोजित प्रमेयों और अभिधेयों से सघन हो गये जगत् में। इसकी अभिरुचि है ऐसे संसार की रचना जिसमें पुरुषार्थी मानव का अस्तित्व प्रथम पुरुष में हो सके।[४३] ऐसे संसार में "मैं कर्ता हूं" की भूमि है "मैं हूं," और फिर दोनों ही "मैं जानता हूं" की सीमा के नियामक। ऐसी दार्शनिक चिन्ता का ध्येय "मैं जानता हूं" को साधन बनाकर "मैं हूं" सिद्ध करने में नहीं। इसका ध्येय "मैं हूं की सीमा और स्वरूप को जानना है, उस अहं पुरुष का ज्ञान जिसके चलते संसार वैसा हो सका जैसा यह है। अन्ततः अविद्या की परिकल्पना की पृष्ठभूमि में उस संसार की संरचना था जिसमें पुरुषार्थी मानव अपने सत् को भूलकर प्रथम पुरुष में अस्तित्व ले सकें, और फिर उसी सत् की अनुप्राप्ति के लिए मृत्यु का वरण कर सकें।

सत् और अविद्या का, एसेन्स और अस्तित्व का यह वैरस्य सोद्देश्य है। अनासक्त सत् और ईहात्मक अस्तित्व के बीच युक्ति-संगत संबंध स्थापित करने के लिए श्रेष्ठतर लाजिक की ज़रूरत नहीं। आवश्यकता है जीवन के उस स्वरूप को समझना जो इस वैरस्य में समवेत है और जिसे भोग सकने के लिए इस वैरस्य की परिकल्पना हुई थी।

श्वेताश्वतर उपनिषद् ने निर्लिप्त सत् और कर्मी अस्तित्व के इतरीभाव को स्पष्ट समझाया है। अविद्या से प्रेरित अहंपुरुष विषयी होता है। यही अहंपुरुष ज्ञान के माध्यम से अपने सत् को पहिचान कर विषयी अस्तित्व से निर्गति पाता है। प्रसंग को स्पष्ट करते हुए उपनिषद् कहती है कि निष्कर्म सत् और अहंपुरुष दोनों ही सत्य मार्ग है, और ये ही दो सत्य मार्ग हैं।[४४] वे लोग अज्ञानी हैं जो पूर्वजों की पूजा करते हैं, या स्वर्ग में अमर जीवन की कामना करते हैं। उपनिषद् के कथन का स्पष्टीकरण योगवासिष्ठ में संवाद के बतौर हुआ है। अगस्त्य ऋषि से सुतीक्ष्ण पूछते हैं : हे महर्षि आप धर्म के मर्मज्ञ हैं, अर्थ, नीति और काम-शास्त्र के विशारद हैं। आप दर्शन में भी पारंगत हैं। मैं संशय प्राप्त हूँ। निर्गति का साधन क्या है : ज्ञान, कर्म या इन दोनों का कोई विशेष समीकरण ? मुझे बताइए कि इन तीनों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में कौन मोक्ष का साधन है और क्यों?[४५] अगस्त्य ऋषि उत्तर देते हैं, "किसी गन्तव्य तक पहुँचने के लिए पक्षी दोनों पंखों से उड़ान मारता है। वैसे ही पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए मनुष्य ज्ञान और कर्म दोनों का सहारा लेता है। कर्म मनुष्य को धर्म से सम्बद्ध करता है, काम अर्थ और यश प्राप्ति में जीवन को व्यस्त करता है। ज्ञान मनुष्य के कर्मी अस्तित्व को सत् में निःशेष कर देता है।[४६] किन्तु मनुष्य के लिए कर्मी अस्तित्व आवश्यक है, इसके बाद ही वह इस विषयी अस्तित्व से निर्गति पा सकता है। जब सूती बसन भी शरीर ढकने न मिल सकें तो ऊनी कम्बल से सन्यास लेने की बात उपहासास्पद है।"[४७]

कर्म और ज्ञान के सम्बन्ध का क्रम महत्त्वपूर्ण है। योगवासिष्ठ में इस सम्बन्ध की व्याख्या संवाद विधि से हुई है। भारद्वाज से वाल्मिकि कहते हैं: "आकाश का कोई रंग नहीं होता। फिर भी नीले आकाश का प्रत्यक्ष होता है। सार्वभौम होते हुए भी यह प्रत्यक्ष मिथ्याभास है। उसी तरह सत् निराकार और निर्विशेष है। फिर भी इस सत् का अनुभव नानार्थ जगत् के रूप में होता है। विवेकशील चिन्तन सिद्ध करता है कि संसार नाम वाली यह सघन विषमता केवल सत्ताभास है, सत्ता नहीं। इस सत्ताभास का कारण अविद्या है, उस पारभौतिक विमर्श शक्ति के कारण जो सत् का तिरोभाव कर सत् के प्रदेश में ही अहंपुरुष का प्रक्षेपण करती है। अशुद्ध और शुद्ध दो प्रकार की वासनाएँ होती हैं। प्रथम प्रकार की वासना अविद्या है, वह ईहा जो अहंपुरुष की आकार वाली हो जाती है। यह अहंपुरुष स्वयं का ही विस्तार करने के लिए विषयों का धारण करता है, उन परिस्थितियों का परिहार करता है जिनसे उसे आघात का शक होता है, और अपने तादात्म्य के हेतु मृत्यु को अस्वीकार कर पुनर्जन्म का आकांक्षी है। दूसरी प्रकार की वासना विद्या है जो सत् के ज्ञान के लिए प्रेरित करती है, पुनर्जन्म और पुनर्मरण से निर्गति पा सकने के लिए अशुद्धा वासना को निःशेष और दग्धबीज कर देती है।"[४८]

इस तरह सत् की परिकल्पना विषयी अस्तित्व को भोग कर मर सकने के लिए हुई थी, अमरत्व या मर कर फिर जी सकने के लिए नहीं। सत् विषयी अस्तित्व से निर्गति लेने की युक्ति है, इस सच की अनुभूति कराने के लिए कि मेरा कर्मी अहं एक उपयोगी मनोराग था, और सौ वर्ष तक मेरा संसार मेरी सर्जनात्मकता का एक रंगमंच। अविद्या की परिकल्पना कर्मी अहंपुरुष को संभव बना सकने के लिए हुई थी। ऐसी परिकल्पना अपुरुषार्थी सत् के बावजूद पुरुषार्थी अस्तित्व की सार्थकता को स्वीकार करने का आयाम है।[४९] अविद्या की परिकल्पना "यत्र धूमो तत्र वह्निः" के प्रतिमान पर "जिसकी सत्ता है, वह कार्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है" की सिद्धि करना नहीं था। न तो अविद्या मिथ्या ज्ञान मात्र ही है जिसकी उपपत्ति या निवृत्ति श्रेष्ठतर प्रमाण-शास्त्र से हो सके। वस्तुतः अविद्या संसारी अस्तित्व को गौरव देने की युक्ति है। यह गौरव अध्यारोप-अपवाद-न्याय पर टिका है, निष्क्रिय, सत् का अपलाप कर सत् के देश में ऐसे अहंपुरुष का आविर्भाव करना जिसकी सार्थकता प्रथम पुरुष में जन्म और जी कर प्रथम पुरुष में ही मृत्यु को वरण कर सकने में है। ५० हम देख चुके हैं कि सत् है का आदेश है कि संसार तर्कतः सम्भव नहीं। अविद्या एक पारभौतिक अनुकम्पा है जो संसार को सम्भव करती है। अविद्या उस संवेदना का आयाम है जिसके अनुसार कुछ अर्थों में जी सकने का भ्रम सत्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। किसी दूसरे ही सन्दर्भ में नीत्शे ने कहा था : "सत्य एक ऐसी भ्रांति है जिसके बिना एक विशेष प्रकार का जीव जिन्दा नहीं रह सकता।" वह विशेष जीव मनुष्य है जिसका अस्तित्व सम्भव और सार्थक कर सकने के लिए अविद्या ऐसे सत्य को संजात करती है जिसके प्रतिमान में मनुष्य जी सके। वस्तुतः इतिहास और काल ने मनुष्य का विषयी अस्तित्व एक सुखात्मक भ्रान्ति है, ऐसी भ्रांति जिसके चलते संसार और समाज, विज्ञान और दर्शन सम्भव है। अविद्या उस कर्मी पुरुष का प्रादुर्भाव करती है जिसके कारण और उसके लिए घटनाओं भरा संसार है।

चतुर्थ प्रभाग

इस कर्मी पुरुष का स्वरूप और संसार की सीमा क्या है जिसका निर्माण यह पुरुष करता है ? हम देख चुके हैं कि अविद्या एक पारभौतिक स्फुटन है जो सत् का तिरोभाव करके तद्देश में ही स्वयं का प्रक्षेपण अहं-पुरुष के रूप में करती है। अहं-पुरुष का अस्तित्व एक पारभौतिक घटना है जिसमें सत् की स्वयं से अकाल आसन्नता से लेकर अहंपुरुष द्वारा काल की मध्यस्थता से उसी सत् की अनुप्राप्ति का इतिहास अन्तस्थ है। सत् स्वयं से आसन्न या अनन्तर इसलिए है कि इसमें अहम्-मम का विषयी और विषय द्वैधीकरण नहीं। सत् समस्तरूप से समस्त है। अतः सत् के लिए कोई विषय नहीं जिसकी प्राप्ति के लिए वह कर्म करे, और जिसे पाकर विषयी हो सके। सत् विषय भी नहीं हो सकता, क्योंकि सत् से इतर ऐसा कुछ नहीं जो सत् को पाकर विषयी हो सके। सत् न धारी है, न धारण किया जा सकता है। सत् को पुरुषार्थी मानना वदतो-व्याघात होगा। सत् ऐसी अमूर्त पूर्णता है जो इतिहास में किसी भी पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं हो सकती। काल और इतिहास में इसी सत् तक पहुँच सकनेवाली ईहा अविद्या है।

इसी ईहा का मूर्तरूप अहंपुरुष है। यह कर्मी पुरुष सत् की भांति समस्त होना चाहता है, और निखिल समस्तता का विषयी भी होना चाहता है। अहं-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुरुष विषयी अस्तित्व के माध्यम में ही सत् की भांति स्वयं से अतन्तर होना चाहता है, ऐसी अनन्तरता जिसकी पारभौतिक हानि से ही वह अहंपुरुष हो सका। समस्त विषयों का धारी हो स्वयं तक पहुंचने की इस राहे-गुज़र का नाम संग-वासना है। मनुष्य विषयों के द्वारा विषयों में ही अधिवासी बनने आया है। उसके अस्तित्व की शैली है : "मेरा घर, यह मेरा है। और मैं यह हूं।"[५१] इस "मैं यह हूं," के सन्दर्भ में मनुष्य जो कुछ भी करता है वह "कर्म" है। संस्कृत ग्रामर में "कर्म" उद्देश्य के अर्थ में आता है, उस उद्देश्य के अर्थ में जिसकी सिद्धि के लिए कर्ता उद्यत है।[५२] क्रियापद स्वयं अपने आपके लिए नहीं बल्कि वाक्य के संज्ञापद के निमित्त होता है। संज्ञापद "स्वतंत्र" है, क्योंकि इसके निमित्त ही क्रिया पद का आशय निश्चित होता है। संज्ञापद वाक्य की क्रियापद का वाहक होता।[५३] किन्तु व्याकरण केवल शब्दों का अनुशासन मात्र ही नहीं। संस्कृत व्याकरण में 'आन्टोलाजिकल फार्म' अंतस्थ है, मनुष्य के समवायी अस्तित्व की परिकल्पना और परिभाषा समवेत है। व्याकरण की तरह अस्तित्व में भी कर्म किसी कर्ता का होता है और जिसके माध्यम से कर्ता की गति किसी लक्ष्य तक पहुंचने की होती है,[५४] विषयी अस्तित्व की हद नापने के इसी संकल्प का नाम 'कर्म' है, ऐसा संकल्प जो निर्विषयी और निरपेक्ष सत् के तिरोभाव से व्युत्पन्न है और जिसकी गति कर्मी अहंपुरुष की विषयी समस्तता से संजात निरपेक्षता की प्राप्ति तक है।[५५]

इस तरह "मैं यह हूं" समस्त क्रियाओं का घटनाओं का जन्मदेश है, पूर्वाग्र है। विषय–जगत् इसी अहंपुरुष की सर्जनात्मक आत्मकता का क्षेत्र है, आत्मबोध के लिए सम्बन्धों और घटनाओं, समाज और संस्थानों के मिस आत्म-विस्तार की पीठ है।[५६] यही आत्ममोह धर्म और दर्शन, कला और विज्ञान में अमूर्त और अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त हो पाता है। यजुर्वेद पूछता है, "किसने किसके लिए यह संसार दिया ?" उत्तर में यजुर्वेद कहता है, "काम ने स्वयं को ही यह संसार दिया। काम दाता है। काम ही ग्रहीता है।"[५७] वेद का आशय है कि अहं-पुरुष में रह सकने की पारभौतिक ईहा ने स्वयं को ही यह संसार दिया जिससे यह कह सके : "मैं कर्ता हूं, यह मेरा है।" संसार कर्मी अहंपुरुष का क्षेत्र है, शरीरी अहंपुरुष के "यह मैं हूं" कह सकने की सीमा है। मेरा शरीर मेरे लिए वस्तु नहीं, प्रमेय नहीं। मेरा शरीर मेरे "यह मैं हूं" कह सकने का माध्यम है, मेरे सम्बन्धार्थ संसार का क्षेत्र और सीमा। संसार मानव सम्बन्धोंकी सघनता है, "मैं" और "तू" का खेल है जिसका केन्द्रबिन्दू "मैं यह यह हूं" है।[५८] मेरा संसार मेरा ही विधेय है। यह आत्म-मोह मनुष्य ने कहीं से सीखा नहीं है, यह मोह पूर्वांगी है जिसका बोध कर सकने के लिए मनुष्य जन्मा है।[५९] अतः जन्म

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कोई बायोलाजिकल घटना नहीं, बल्कि प्रथम पुरुष में जी सकने की ईहा का सशरीरी हो जाना है। जन्म एक ऐतिहासिक स्थिति है जिसमें अहंपुरुष अपने को अपनी ही विरासत के रूप में पाता है।[६०] जन्म स्वयं से चलकर स्वयं तक पहुंच सकने का एक सोपान मात्र है। मनृष्य अपने ही संकल्पों की संतान है। उसका कर्तापुरुष होना न तो ईश्वर द्वारा प्रदत्त है न समाज की नैतिक परिकल्पनाओं द्वारा आरोपित। जन्म के पहिले मनुष्य कर्ता पुरुष था। कर्तापुरुष के रूप में जी कर मर जाने के बाद ही जीव कर्ता पुरुष के रूप में जन्मा है।[६१]

ऐसा है यह अहंपुरुष जिसका अस्तित्व "में कर्ता हूं" से प्रेरित है और जिसका संसार उसकी ही कर्मकथा है। यह पुरुष सत्य और असत्य का, शिव और अशिव का इज़हार कर सकता है, संसार से बेजार हो नंगे घूम सकता है। किन्तु संसार को स्वीकार करके भी उसकी शर्त यही है कि वह प्रथम पुरुष में "मैं यह हूं" की शैली में जी सके।[६२] मनुष्य वस्तु-जगत् का भाग नहीं, वस्तुतः वस्तु-जगत् है ही नहीं। तथाकथित जगत् विषय-क्षेत्र है, प्रथम पुरुष में जी रहे जीवों की सघन परम्परा है। विषय-क्षेत्र वस्तुओं का योगमात्र नहीं जिसे निरपेक्ष रूप से मनुष्य स्वीकारता या निषेध करता हो। विषय-जगत् सुखद या दुःखद यथार्थता है, कर्म-क्लेश का कुरुक्षेत्र है। कर्म पुरुष विषयों को धारण करने के लिए तत्पर है, और संसार की सीमा धारी जीवों के अस्तित्व की सीमा है।[६३] अहंपुरुष की चेतना वस्तुओं का अभिलेख मात्र नहीं करती, उन्हें आक्रान्त करती है, यह वस्तुओं को अपने ही प्रतिमान पर स्वीकार करती हैं, उन्हें सहन भर नहीं करती।[६४] वस्तुतः संसार में न निर्विषय चेतना है न निरपेक्ष वस्तु। संसार से प्रवास लेकर विषयों में समवेत हो रही चेतना की प्रक्रिया है, अहंपुरुष के विषयावेश का इतिहास है।

इस तरह विषय-जगत् से इतर कोई वस्तु जगत् नहीं। विषय-जगत् और अनुभव के उपकरण--ये दोनों समविस्तारी हैं। इन्द्रियों के मिस अहंपुरुष विषय-जगत् तक राहे-गुजर होता है, स्वयं के अस्तित्व का स्वयं को ही आश्वासन देने के लिए। इन्द्रियानुभव अहं के द्वारा स्वयं को ही विषय जगत् में स्थापित करने की प्रक्रिया है। इसीलिए अहं सुखद स्थितियों की पुनरावृत्ति खोजता है, स्वयं की, सुखद इन्द्रिय-विषयों की, और विषयानुभव के माध्यम इन्द्रियों की। अहंपुरुष को मृत्यु का अविराम भय बना रहता है। यह भम आत्मानुराग और मृत्यूपरान्त अस्तित्व बना रहने की ईहा का परिणाम है। मृत्यु-संत्रास समस्त इन्द्रियानुभव में अन्तस्थ है। अहंपुरुषों से सघन हो गया यह संसार मृत्यु के खिलाफ़ एक समवायी आवाज़ है, अमरत्व के लिए एक नियोजित आंह्वान। संसार एक ऐसी अविराम पुनरुस्थिति है जो आत्मानुवृत्ति की सर्जनात्मक प्रक्रिया से संजात है।[६५] किन्तु

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वयं को शाश्वत बनाने की यह व्यग्रता विरोधाभासी है। शरीर के माध्यम से अहंपुरुष स्वयं को ही केन्द्र में रख सम्बन्धार्थ संसार बनाता है। किन्तु शरीर जर्जर हो जाता है, और निरतिशय अस्तित्व की वासना के बावजूद अहंपुरुष मरता है। संसार दुःखमय है, इस अर्थ में, और इसी अर्थ में कि अमर अस्तित्व की ईहा और उसके माध्यम में इतरीभाव है, विरसता है। किन्तु अमरत्व की वासना शरीर के मरने के साथ मर नहीं जाती। यह वासना मुत्यु को अस्वीकार कर पुनः शरीरी होती है, पुनर्मरण के लिए।

अमर अस्तित्व की ईहा से प्रेरित अहंपुरुष आत्म-प्रवंचना में समर्थ है। इस आत्म-प्रवंचना में क्षणिक को नित्य बनाने की वासना समवेत है। इस वासना की परिणति स्वर्ग के विश्वास में होती है, जहाँ शाश्वत यौवन है और जहाँ विषय की कामना और उसकी प्राप्ति में आसन्नता है। वस्तुतः स्वर्ग की सत्ता और उसके विश्वास में कुछ भी अलौकिक या आधिदैविक नहीं। स्वर्ग अनन्त अस्तित्व की ईहा का वस्तुकरण है, देश और काल में शाश्वत अहंपुरुष हो सकने का प्रक्षेपण है। [६६] मनुष्य की काल ओर इतिहास में ईश्वर हो सकने की ईहा का प्रतिविम्ब स्वर्ग है, शरीरी पुरुष होते हुए भी अकाल और अमर हो सकने की वासना का प्रतिविम्ब। किन्तु कर्मी अहंपुरुष होते हुए ही अकाल और अनश्वर सत् होने की वासना असाध्य है, सत् तक पहुँचने के लिए सत् से दूर भागने की प्रक्रिया है। सत् अनश्वर इसलिए है कि अस्तित्व की ईहा के अभाव में वह शरीरी नहीं होता, जन्म नहीं लेता। "यह मैं हूँ" और "यह मेरा है" की शैली में मनुष्य अपने को सम्पूर्ण करने चला है, बिना इस सत्य का बोध किए कि सत् पूर्ण इसलिए नहीं है कि वह समस्त विषयों का धारी है बल्कि इसलिए की धारी होने की ईहा के अभाव में उसे विषयाभाव नहीं। अतः "मैं यह हूँ" की शैली में भोगा अस्तित्व विरोधाभासी है, इसमें युगपत् ही आँखे खोलने और बन्द करने की लाचारी है। [६७] जन्म लेकर मनुष्य नित्यता चाहता है, ऐसी नित्यता जो अजन्मी है। अहंपुरुष मृत्यु को स्वीकार नहीं करता, किंतु शरीरी अस्तित्व को वह स्वीकार करता है। जिसके चलते वह जन्मा और जिसके कारण मृत्यूपरान्त पुनर्जन्म लेगा पुनर्मरण के लिए। मनुष्य केक खाएगा और रखेगा भी। सत् तक पहुँच सकने के लिए पुनर्जन्म और पुनर्मरण की प्रक्रिया वहाँ तक न पहुंचने की पुनरुस्थिति है, अपूर्ण अहंपुरुष और आप्तकाम सत् के अन्तराल को निरंतर बढ़ाती "रिकरेन्स" है। [६८] सत् तक पहुँचने के लिए अहंपुरुष फिर फिर जन्म लेता है, फिर फिर युवा होता है, फिर फिर जीर्ण होता है, और मर जाता है पुनर्जन्म लेकर पुनर्मरण के लिए"। [६९] अहंपुरुष एक अविवेकी जीव है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस विरोधाभासी अस्तित्व का ड्रामाटिक वर्णन ब्रह्मवैवर्त पुराण के एक आख्यान में मिलता है। सुरासुर संग्राम के दौरान देवनगर के राजमहल ढ़ह गए थे। युद्धोपरान्त इन्द्र ने विश्वकर्मा को बुलाया और देवेन्द्र की महिमा और शौर्य के अनुकूल महल बनाने का भार सौंपा। प्रतिभाशाली विश्वकर्मा ने एक वर्ष में ही अद्भुत महल बनाया। किन्तु इन्द्र की मांगें क्रमशः बढ़ती गयीं। महल बनाकर उध्वस्त हुआ, फिर बनकर पुनः उध्वस्त हुआ। मीनार और कुंज, सरोवर और क्रीडा उद्यानों की माँगे बढ़ती गयी। निराश विश्वकर्मा ने विष्णु की शरण ली।

दूसरे दिन एक ब्राह्मणपुत्र इन्द्रमहल के सामने प्रस्तुत हुआ। इन्द्र पूछने लगे, " प्रिय पुत्र, यहाँ आने का प्रयोजन कहो ", ब्राह्मणपुत्र कहने लगा, " हे इन्द्र मैंने आपके महल की प्रशंसा सुनी है। कुछ प्रश्न मेरे मन को क्लेश दे रहे हैं। सोचा उन्हें आपके सम्मुख रख दूं। इस प्रासाद को सम्पूर्ण होने में कितने वर्ष लगेंगे। आपसे पहले भी कितने ही इन्द्र ऐसे प्रासाद को सम्पूर्ण नहीं कर सके।" मुस्कराकर इन्द्र पूछने लगे, " पुत्र, क्या इतने इन्द्र होते हैं ?" इसी बीच न जाने कहाँ से चीटीओं की मीलों लम्बी कतार प्रकट हुई। चीटीओं की इस अनन्त सघनता की ओर संकेत कर ब्राह्मण पुत्र कहने लगा, " हे देवराज, धरातल पर बालू के कण गिन सकना आसान है, इन्द्रों की गणना कोई नहीं कर सका। ज्ञानी लोग तो ऐसा ही कहते हैं।"

इन्द्र सोच में पड़ गए। घबड़ाकर जंगल में संन्यास ले लिया। सुनकर इन्द्र की पत्नी शची व्यग्र हो उठी। इन्द्राणी देवगुरु बृहस्पति को लेकर इन्द्र के पास पहुँची। बृहस्पति ने इन्द्र को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की महिमा बताई। सबका पृथक् पृथक् महत्त्व बतलाया। सुनकर इन्द्र गृहस्थ जीवन को वापस लौटे। ७०

स्पष्टतः पौराणिक आख्यान मेटाफिजिक्स को जनसुलभ बनाने की तकनीक है। इन आख्यानों की रचना मेटाफिजिक्स, थियोलोजी और प्रमाण-शास्त्र के समान्तर हुई थी। इनका महत्व वर्ण्य विषय में नहीं, वर्णन शैली के कारण है। इनकी भाषा व्यंजनात्मक और लक्षणात्मक है, तथ्यात्मक नहीं। ये आख्यान अमूर्त सत्य का निदर्शन घटनाओं के माध्यम से करते हैं। ज्ञानेद्रियां व्यक्त हो उठती हैं जिनकी आत्मकथा के मिस अमूर्त सत्य शब्द पा जाते हैं, ऐसे शब्द जिनका अभिधान प्रमाण शास्त्र की भाषा नहीं कर सकती। जब फिलासफर चुप होते हैं तो कवि गान कर उठते हैं, और मिथक के मिस अमूर्त सत्य शरीरी हो जाते हैं। दार्शनिक सत्य को समझ लेना स्वस्थ जीवन की माँग है। किन्तु सर्वसाधारण अमूर्त सत्य को समझ नहीं सकता। इस वैरस्य को दूर करने के लिए मेटाफिजिक्स और मिथक में सह-सम्बन्ध बना। किसी भी दार्शनिक संस्कृति के लिए मिथक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपरिहार्य है। प्रस्तुत आख्यान भारतीय इतिहास दर्शन की ओर संकेत करती है जिसके अनुसार घटनाएँ दिन या तिथि से पूर्वस्थ हैं, और जो इस बात पर बल देता है कि किसी विशेष दिन में क्या घटता है उसके अतिरिक्त वह दिन कोई दिन नहीं। ऐसा नहीं कि किस तिथि में कुछ घटता है, जो घटता है वहीं वह तिथि है। कैसे क्या घटित होता है, वह कब घटता है से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण के मिथक में चित्रित जीवन "नेचुरल" नहीं, किसी प्रागैतिहासिक रहस्य के अनुष्ठान की स्मृति नहीं। और न तो यह किसी सेक्रेड हिस्ट्री का, "टाइम" की 'टाइमलेस' सम्भूति का, अंकन ही है। प्रस्तुत आख्यान मनुष्य के ऐतिहासिक अस्तित्व की समीक्षा है, उस अस्तित्व का जिसमें भोग्य–विषय नित नए हैं किन्तु उनका सर्जक कर्मी अहंपुरुष प्राचीन से भी प्राचीनतम है। अफसोस है कि हिंदू धर्म के बारे में एलियाड की आश्वस्त अनभिज्ञता हिस्ट्री आफ रेलिजन का प्रतिमान बन गई है। एलियाड उस विचार पद्धति के प्रतिनिधि हैं जिनके अनुसार जो लिनियर नहीं वह प्रागैतिहासिक है, प्रिमिटिव है। सच तो यह है कि इन्द्र अहम्-मम की रीति में जी रहे जीव का प्रतीक है, उस कर्मी अहं का प्रतीक जिसके लिए उससे इतर सब कुछ उसी के लिए भोग्य विषय है। स्वयं से प्रवासी हो यह जीव विषयों तक भागा जा रहा है, स्वयं तक पहुंच सकने के लिए ही।[७१] किन्तु आत्मानुप्राप्ति की यह योजना निरन्तर असफल होती है, स्वयं को सम्पूर्ण करने में यह पुरुष शून्य हो जाता है।[७२] इन्द्र-मिथक के अनुसार अहंपुरुष में भोगा अस्तित्व विरोधाभासी है, ऐसा अस्तित्व जिसमें भूख मिटाने के लिए किया गया भोजन मनुष्य जिंदा रखता है केवल फिर भूखा होने के लिए। इन्द्र कभी 'नेचर' में, आदि प्रकृति में नहीं लौट सकते, क्योंकि वे कभी आदि प्रकृति थे ही नहीं। अहंपुरुष में भोगा अस्तित्व कभी ऐतिहासिक नहीं हो सकता। इन्द्र ऐतिहासिक मनुष्य के प्रतीक हैं जो अपने ही निर्विषयी सत् से संयोग खो बैठा है और जो कर्मी अस्तित्व की रीति से इतिहास में ही विषयी सत् होना चाहता है, ऐसा सत् जो समस्त हो और उस समस्तता का विषयी भी हो। किन्तु ऐसा होना असंभव है, क्योंकि सत् न तो विषय है न विषयी ही। फलतः अहंपुरुष निष्कर्मी सत् और कर्मी अस्तित्व, पूर्णता और शून्यता के बीच ऐतिहासिक सम्पूर्णता का भारहार हो गया है।[७३] इन्द्र की भांति मनुष्य स्वयं का ही मूर्तिकरण करने चला है, 'मैं हूँ' कह सकने लिए 'मेरा है' की सृष्टि में व्यस्त है।

मनुष्य का इतिहास स्वयं को आश्वस्त करने का गतिशील सरकुलैरिटी है। इस सरकुलैरिटी में मृत्यु का भय समवेत है, "मैं हूं" किन्तु "मैं नहीं रहूंगा" का संत्रास है। इस भय से त्राण पाने के हेतु मनुष्य कर्मी सरकुलैरिटी की किलेबन्दी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निरन्तर नये विषयों को प्राप्त कर करता है। इन्द्र की भांति मयुष्य का अस्तित्व एक पारभौतिक आत्ममोह का नमूना है, सघन विषयता की ऐसी गतिमान और पारदर्शी सरकुलैरिटी जिसे मनुष्य ने अपने ही चेहरे को देखते रहने के लिए बनाता जा रहा है। पौराणिक आख्यान काल की प्रागैतिहासिक आरम्भ की बात नहीं करते, भारत के प्रत्येक धर्म और दर्शन ने संसार को अनादि माना है। इन्द्र का मिथक अहंपुरुष में भोगे इतिहास का नाटकीय वर्णन है, सत् और सत् हो सकने के साधन के बीच वैरस्य का इज़हार है। [७४]

इन्द्र–मिथक का मन्तव्य स्पष्ट है। यह उजागर करता है कि कैसे और किस हद तक "मेरे" के प्रतिमान में इन्द्र में "मैं" को बन्दी कर रखा है। आख्यान उस रीति का निर्देश करता है जिसके चलते इन्द्र अपनी ही सरकुलैरिटी से निर्गति हो सकता है। नाटकीय रीति से मिथक प्रवृत्ति और निवृत्ति का, अस्तित्व और मरण का संबन्ध समझाता है। मिथक यह भी समझाता है कि प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति घातक है, और निवृत्ति के बिना अनन्त प्रवृत्ति व्यर्थ है। इन्द्र केवल प्रवृत्ति का दावेदार है, अनन्त तक अनन्त विषयों में आत्म विस्तार का समर्थक। [७५] इन्द्र का नाम "गोप" है, विषयासक्त इन्द्रियों का रक्षक। क्योंकि वे आत्म-स्थापना के उपकरण हैं। [७६] ऋग्वेद इसी इन्द्र की, विषयों की सृष्टि कर उसमें अधिवासी होनेवाले इस जीव का गुणगान कर धन्य होता है। "मनुष्य अपने शौर्य और शक्ति से महान् होते हैं, पुरुषार्थ द्वारा स्वर्ग तक ऊँचा उठते हैं, और शासन करने के लिए ही वसुन्धरा को विजित करते हैं। [७७] अहंपुरुष के कर्मी होने का सबब प्रभुत्व-वासना है, ऐसी वासना जो समस्त अभिधान-अभिधेय का आधार है। क्रिया की आवश्यकतावश ज्ञान पैदा होता है, और क्रिया की समाप्ति पर ज्ञान निःशेष हो जाता है। विषयी अस्तित्व की आवश्यकताएं ही सत्य और असत्य का निर्धारक हैं। प्रमाणशास्त्र भी आत्म-स्थापना की तकनीक है। ऐसी प्रविधि जिसके द्वारा अहंपुरुष स्वयं की सत्ता की पुष्टि चाहता है। स्वर्ग इसी आत्मस्थापना का प्रतीक है, कल्पतरु का कल्पित देश जहाँ कामना करना ही पाना है, और अन्ततः जहाँ कामना की ही कामना होती है क्योंकि कामना से इतर और कुछ उपलब्ध करने को शेष नहीं रहता।

इन्द्र ईहा की निंःशेष तृप्ति चाहते हैं। वे ईहा नहीं रोक सकते, भले ही उन्हें तुच्छ की ईहा करनी हो। इन्द्र जरास्थुश के वंशज हैं जिनकी तरफ से नीत्शे ने घोषणा की थी : "मनुष्य ऐसे जी सके कि पुनर्जन्म की ईहा हो।" ब्रह्मवैवर्त का आख्यान इन्द्र से वयस्क होने की प्रार्थना करता है, ऐसी प्रार्थना जो निरंतर नये खिलौनों की माँग की अनर्थता दिखाकर की गयी है। [७८] 'इटरनल रिकरेन्स'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की ईहा अस्तित्व को लकीर का फकीर मात्र बना सकती है, नित्य कर्म की तरह इस हद तक नीरस कि जीवट मनुष्य के हौसले निःशेष हो जायें। ब्रह्मवैवर्तपुराण का आख्यान इन्द्र को मनन करने को बाध्य करता है कि क्या हो सकने के लिए वे अस्तित्व लिए थे और कैसे एक सिंह की भांति विषय-जाल में फँस कर रह गये। [७९] इन्द्र की योजना थी दिलेर आर्यों लायक नगर स्थापित करने की, उन आर्यों लायक नगर जो किन्हीं पारभौतिक कारणों से आप्तकाम सत् को खो कर उसी सत् तक पहुँचने का इतिहास सम्पूर्ण करने चले थे। भविष्यता को अर्पित अस्तित्व को भोगते हुए वे भविष्यता का अन्त कर देना चाहते थे, काल और इतिहास के मारक होते हुए वे संसार को काल में ही अकाल कर देना चाहते थे। यह जानकर कि अमर होने के प्रयास में वे पुनरपि मरेंगे, इन्द्र अपने नगर को त्याग संन्यास ले लेते हैं। अमर अस्तित्व के समर्थक इन्द्र एक क्षण भी जी सकने को मानहानि समझते हैं। इन्द्र या तो अनन्त तक संसारधारी रहेंगे, या फिर किसी भी विषय का क्षणमात्र भोग नहीं करेंगे। या तो अमर विषयी रहेंगे, या फिर मरने के लिए जन्म लेने को मानहानि समझने वाले आजीवकों की भांति लंगोटी बांध लेंगे।

पचम प्रभाग

किन्तु इन्द्र की वासना व्यर्थ नहीं। वासना से संजात विषाद उन्हें ब्रृहस्पति की बात सुनने की प्रेरणा देता है। बृहस्पति प्रवृत्ति और निवृत्ति की बात करते हैं, प्रवृत्ति जिसकी भूमि अविद्या है, और निवृत्ति जिसका आधार निराकार सत् है। वेदान्त के अनुसार जिसका अन्त नहीं, उसका कोई अर्थ नहीं, जन्म लेने का गौरव मरने में है। अर्थमय अस्तित्व सदसत्—अनिर्वचनीयता न्याय पर टिका है, पुरुषार्थी जीवन इसीलिए सम्भव है कि यह नित्य और नित्य सत्य असत् दोनों से भिन्न है। [८०] इस न्याय के अनुसार विषयी अस्तित्व भोगने के पहिले ही वैरागी होना जीवन के प्रति सबसे बड़ी हिंसा है, और अनन्त तक अस्तित्व न त्यागने की ईहा सबसे बड़ी विषचिका। इतिहास में ही ईश्वर हो जाने के प्लेग से मुक्ति पाने के लिए ही तो अरिष्टनेमी ने इन्द्र द्वारा स्वर्ग में अमरत्व का निमन्त्रण अस्वीकार किया था। इसी अमरत्व की घुटन से तंग आकर ही तो नचिकेता ने यम से पूछा था : अमर अस्तित्व सौ वर्ष के पुरुषार्थी जीवन से किस मायने में श्रेष्ठतर है? [८१]

उपरोक्त प्रश्न अहं को भोगने और जय करने, प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल्य को पहिचानने की प्रार्थना है। प्रवृत्ति का अर्थ है, उद्योग, इन्द्रियों के माध्यम से विषयों में अनुरक्ति। मनुष्य की इन्द्रियाँ उसकी आत्मता के मारक हैं, 'मैं यह हूँ' और 'यह मेरा है' की घोषणा के माध्यम। [८२] मनुष्य विषयी और भोगी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के रूप में आत्मबोध करने चला है। इस आत्मबोध का दूसरा नाम प्रेयस् है, ऐसा आत्मानुराग जो प्रत्येक अनुराग में पूर्वाग्र है और समस्त व्यवहार में अन्तःस्थ।[८३] यह पूर्वाग्री आत्मानुराग जन्म के रूप में शरीरी होता है, फिर शरीर के के माध्यम से स्वयं को ही प्रस्थापित करता है। शरीर के माध्यम से इस आत्म-बोध की प्रक्रिया का नाम पुरुषार्थ है।

जीवन में चार पुरुषार्थ हैं। काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। काम का अर्थ है शरीर और मन में रतिभाव की तृप्ति। काम के महत्व को अथर्व वेद ने इस प्रकार स्वीकारा है: "आप कुछ में अन्तस्थ हैं, सर्वव्याप्त और महान् हैं। मैं आपका अभिवादन करता हूँ।" आत्मबोध की प्रक्रिया हिन्दू संस्कृति ने काम को ईश्वर का दर्जा दिया। किन्तु मनुष्य के रूप में मैं काम से भी बड़ा हूँ। धन और यश, अर्थ और अधिकार की वासना भी तो मेरे आत्मबोध के अंग हैं। इसी वासना से प्रेरित हो मैं अपने सामाजिक आयाम को पहचानता हूँ, अर्थ, नीति, युद्ध और शान्ति, राजनीति और रिवोल्यूशन करता हूँ। काम और अर्थ की तृप्ति धर्म के परिप्रेक्ष्य में, नैतिक सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में करता हूँ।

इन तीन पुरुषार्थों की तृप्ति करते करते मुझे बोध होता कि मैं वह नहीं रहा जो मैं था। म वृद्ध हो चला, और वानप्रस्थ लेता हूँ। मैं इस आत्म-प्रवंचना में नहीं पड़ता कि वृद्धावस्था एक आइडिया मात्र है, एक कानूनी प्रतिसंधिता जो एक उम्रविशेष में मुझे रिटायर कर देती है। जो लोग ऐसा सोचते हैं उनके मन में निरंतर शिशुता की ललक है। इस ललक का पूर्वाग्रह है कि व्यक्ति समाज से संजात है, और समाज के अतिरिक्त उसके अस्तित्व का कोई आयाम नहीं। वेदान्त के अनुसार मैं रिटायर होता हूँ, केवल इसलिए कि मैं समाज से बड़ा हूँ, समाज के पहिले और बाद में भी हूँ। आत्मबोध की खोज में मैंने उत्तम पुरुष की रीति में जन्म लिया, उत्तम पुरुष की रीति में ही अपने सामाजिक आयाम को पहिचानने के लिए रिश्ते नातों का जामा पहिना। अब जरूरत है कि अपने ही चेहरे को शीशे में देखूं और पूछूं: लोग जो और जितना मुझे समझते हैं, क्या मैं वही और उतना ही हूँ ?

इस प्रश्न के उत्तर में मैं अपने उस आयाम की खोज में निकलता हूँ जिसे समाज और इतिहास नहीं दे सकते। उत्तम पुरुष में भोगे अस्तित्व से पार जाने की इच्छा का नाम संन्यास है। उस ईहा से पार जिसके चलते मैंने स्वयं को स्वयं से इतर विषयों का धारी और भोगी होकर पहिचाना था। अब मैं भारतीय या अमेरिकन नहीं। वैसा अस्तित्व तो घटाकाशमात्र था, 'मैं' और 'मेरा' कह सकने के लिए बृहत्तर आकाश का घेराव था। अब तो 'मैं' और 'मेरा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'आप' 'मेरे' और 'तेरे' की दीवाल ढह गई, न तो मैं किसी का रहा और न कोई मेरा। 'मैं यह हूँ' का चोला उतर गया, फलतः आत्मस्थापन का माध्यम यह शरीर अतिरिक्त हो चला।[८४] मैं न मोटा हूँ न पतला, न दीर्घ न हूँ न अदीर्घ, न युवा हूँ न वृद्ध।[८५] अब तो जो मैं नहीं हूँ वह हो सकने के लिए जो मैं था वह नहीं रहने की बात ही नहीं उठती। मैं काल और इतिहास का मारक न रहा, वह कर्मी अहं-पुरुष जो कुछ हो सकने के लिए आगत और अनागत को जोड़ता था। अब मैं आगत और अनागत से विलग बेहद वर्तमान मात्रता हूँ, नीरव और स्थिर। अब तो मैं कहीं से आ नहीं रहा इसलिए कहीं जा नहीं रहा हूँ, न कर्ता हूँ न भोक्ता हूँ, न सुखी हूँ न दुःखी हूँ, न योगी हूँ न वियोगी हूँ। श्रुतियों और स्मृतियों को न पढ़ता हूँ न सुनता हूँ, और न दार्शनिक पक्ष और प्रतिपक्ष की बात ही सोचता हूँ। मैं तो उचित और अनुचित, ज्ञात और अज्ञात, सत्य और मिथ्या के अरितत्व से ऊपर उठ गया। मेरे न तो हाथ है न पैर, न श्वास है न प्रश्वास, न भाषा है न विचार। मैं तो आकाश मात्र हूँ, आदि और अनन्त सत्ता मात्रता हूँ। मैं अज हूँ, ओम् नाम वाली वह सत्ता हूँ जो अजन्मा होने के कारण अमर्त्य है। इसीलिए तो मुझे मौत का गम नहीं। मेरा शरीर और उत्तम पुरुष में भोगा सम्बन्धार्थ संसार तो निराकार सत्ता मात्रता या असाध्य थे। अब तो मैं अत्र और तत्र, यदा और कदा की सीमा से मुक्त हूँ। मेरे लिए वस्तु का, देश और विदेश का भेद व्यर्थ है। जहाँ भी और जब कभी मैं मरूंगा तो सत्तामात्रता में निराकार हो जाऊंगा, उस सत्मात्र निरपेक्षता में जो सर्वत्र है, सदा है और सदैव से समस्त है।

ऐसा है यह निवृत्तिमार्ग, जीवन का चतुर्थ और अन्तिम पुरुषार्थ। इसके अनुसार मृत्यु भौतिक या 'नेचुरल' नहीं। बिना किसी का शरीर हुए कोई शरीर नहीं होता, ऐसा कोई शरीर नहीं जो किसी का भी शरीर नहीं। भौतिक शरीर अवश्य है, किन्तु यह मरता नहीं, इसका केवल आकार परिवर्तन होता है। वस्तुतः 'मैं यह हूँ' कहने का माध्यम ही मरता है, 'यह मैं हूँ' कह सकने की असमर्थता के अतिरिक्त मृत्यु कुछ नहीं।[८६] वेदान्त के अनुसार मर सकने की समर्थता में ही मरने का गौरव है। इस गरिमामय मरण को निष्क्रमण कहा गया है, 'मैं' और 'मेरे' की वासना से ऐसी निर्गति की पुनर्जन्म की लालसा न हो। इसीलिए तो मृत्यु 'एब्सर्ड' नहीं, ऐसी अवांछित घटना नहीं जो मेरे ऊपर अध्यासित हो। मैं मृत्यु का वरण करता हूँ। जीवेम शरदः शतम् के बाद मृत्युवरण ही मुक्ति है, अमरत्व और 'इटरनल रिकेरेन्स' के घुटन से मुक्ति।[८७]

अब हम सारांश देंगे। हमने देखा कि मनुष्य वस्तु जगत् और भौतिक मृत्यु को तदर्थ स्वीकार नहीं करता। विकल्पों के माध्यम से मनुष्य मूल्यों का संसार रचता है, आत्मपरिभाषा देता है, और फिर उस परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में मृत्यु

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को स्वीकारता और नकारता है। अतः मृत्यु समवायी जीवन को आकार और रीति देने की समस्या है जिसे वेदान्त ने अध्यारोप अपवाद न्याय के परिप्रेक्ष्य में समझा और स्वीकारा है। इस न्याय के अनुसार अविद्या संकल्पशक्ति है जो निराकार सत् का आवरण कर तद्प्रदेश में संकल्पी अहंपुरुष को अस्तित्ववान् करती है। अविद्या इस सत्य का द्योतक है कि उत्तम पुरुष में विषयी होने की इच्छा पूर्वाग्र है। इस इच्छा के चलते मनुष्य संसार और इतिहास को अपनी ही कर्मकथा के रूप में स्वीकारता है। अविद्या "वैडफेथ" के खिलाफ युक्ति है, और इस सत्य का समर्थन करती है कि अपने ही विषयी आयाम को पहिचानने के लिए ही मनुष्य ने संसार और इतिहास को स्वीकारा है। संसार ट्रान्सेण्डेण्टल नार्सीजिज्म का, पारभौतिक आत्मानुक्ति का परिणाम है, एक ऐसा गतिमान् मुकुर जिसे मनुष्य अपना ही चेहरा देखने के लिए बनाता जा रहा है। किन्तु व्यक्तिविशेष का फर्ज है कि चेहरे को देखकर शीशे को बन्द कर दे और उस निराकार सत् का ध्यान करे जिसके विस्मरण के परिणामस्वरूप वह अहंपुरुष हो सका। [८८] इसके पहिले कि समाज उसे अनुपयोगी सिद्ध कर उसकी मानहानि करे, व्यक्ति अपनी निराकार सत्ता का ध्यान कर समय और समाज से बड़ा हो जाय। [८९] अस्तित्व वासना अवश्य है, केवल यह वासना अत्यन्त शिव है। मृत्यु-वरण भी वासना है, केवल यह वासना अतीत आनन्दमयी है। [९०] वेदान्त के अनुसार मनुष्य की योनि में जन्म न ले सकना सबसे बड़ा दुर्भाग्य है, दूसरा बड़ा दुर्भाग्य है मृत्यु-वरण न कर सकना।

—विभूतिसिंह यादव

टेम्पल विश्वविद्यालय
कॉलेज ऑफ लिबरल आर्टस्
डिपार्पमेंट ऑफ रिलिजन
फिलाडेल्फिया
पेन्सिल्वानिया १९१२२ (यू. एस्. ए.)

टिप्पणियाँ

१. नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितम् – – – सर्वमेव परित्यज्य त्यजताम् कलेवरम्।
योगवासिष्ठ, वासुदेव लक्ष्मणशास्त्री पणशीकर (बम्बई : निर्णय सागर प्रेस, १९३७ भाग १, पृ. २७-६९ अनुवाद करते समय यथास्थान तात्पर्य प्रकाश नामक भाष्य के वाक्यों को भी मूल वाक्यों के साथ रख दिया गया है। भाष्य-वाक्य दार्शनिक बातों को मूल वाक्यों की अपेक्षा ज्यादा स्पष्ट करते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२. स्व संकल्पवशात् बद्धो निःसंकल्पश्च मुच्यते। पणशीकर, **योगवासिष्ठ** (यो वा.), **भाग** १, पृ. ७५
३. **वही**, पृ. ७६
४. अव्यावृताननुगतः पूर्ण : स्वात्मन्यवस्थितः।
विद्यारण्य स्वामी, **बृहदारण्यक वार्तिक सार** (बृ. वा. सा.), (काशी सं. १८९७), भाग १, पृ. ९८२
५. निधर्मकं तु ब्रह्म। **वही**, पृ. ९९२
६. अमात्रो – – – अव्यवहार्यं इतीदृशात्। **वही**, पृ ६८
७. विदिताविदिताभ्यां तदन्यदेवेति शास्त्रगीः। **वही**, पृ. ९९३
८. भावाभावो भय ध्वंसि ब्रह्म वेद्यं ततः श्रुतिः, **वही**, भाग २, पृ. १८०७
९. शंकराचार्य, **सर्ववेदान्त सिद्धान्तसारसंग्रह** (स. सि. सं.) (वाराणसी : संवत् २०१८), पृ. ११७
१०. कालभेदं वस्तुभेदं देशभेदं किंचित्भेदं न तस्यास्ति। **वही**, पृ. १५१
११. नाऽभावोऽपि प्रसज्येत नेति नेति वीप्सया। **बृ. वा. सा.**, भा. १, पृ. ९८८
१२. अतोऽन्यस्यापि न हेयमुपदेयम् वा। अन्याभावश्च। शंकराचार्य, **कठभाष्य** १:४
१३. वेदान्तवाक्यानां अथ वाचामगोचर :। श्रीराम शर्मा (सं.) **योगवासिष्ठ** (बरेली : संस्कृति संस्थान, १९७५), भा. १, पृ. ३६०
१४. Salvan, Jacques; The Scandalous Ghost (Detroit, Wayne State University Press, 1967) p. 118.
१५. काल त्रयेऽपि – – – वस्तुतो नैव कश्चन। **स. सि. सं.** पृ. ११७
१६. अस्तितामात्रं निरंजनं निरवयम्। शंकराचार्य, **छान्दोग्य भाष्य**, ६. २. १
१७. सत्तामात्रं समरसमेकं। **स. सि. सं**, पृ. १२९
१८. सर्वज्ञः सर्वसम्बन्धो गत्याभावात्र गच्छति। शर्मा, **यो. वा.**, भाग १, पृ. ३६०
१९. संकल्प वासनाजालै : स्वरेवयाति बन्धनम्। **वही**, पृ. ३९५
२०. **बृ. वा. सा.**, भाग १, पृ. ९८२
२१. निष्कलं निष्क्रियं शान्तं – – – –। स. सि. स., पृ. २९।
२२. तृष्णादि – – – असंभवात् भ्रमः। **छान्दोग्य भाष्य**, ७. २३. १
२३. यः स्वरूपेऽपि निर्भाग्य : कथम् सोऽन्यत्र सिद्धयति। बृ. वा. सा. भा. १, पृ. ९९४
२४. शंकराचार्य, **तैत्तिरीय भाष्य**, २. १
२५. नायमात्मा कुतश्चिद् बभूव न प्रभूतः। शंकराचार्य, क. भाष्य, २.१८
२६. **माण्डूक्य कारिका**, ३. ५.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२७. Langer, Susan; Philosophy in a New Key, (Cambridge : Harvard University Press, (1974) p. 3.
२८ प्रदीपः सर्वविद्यानां - - - - । ढुण्ढिराज शास्त्री (स.) न्याय दर्शनम् (वाराणसी : चौखम्भा, १९७९), पृ. १५
२९. वही, पृ. १-१६
३०. परमकारुणिको मुनिः प्राणिनाय । केशव मिश्र, तर्क-भाषा (वाराणसी मोतीलाल बनारसीदास, १९६४), पृ. ५
३१. परीक्षितानि प्रमाणनि प्रमेयमिदानीं परीक्ष्यते । न्याय दर्शनम् पृ. ३९३
३२. Milton, Munitz, Language, Belief and Metaphysics (Albany : State University, A New York Press, 1970) p. 239.
३३. Bibhuti S. Yadav, " Negation Nirvana and Non-sense ", Journal, American Academy, A Religion, XLV 4 (1977) p. 452-4.
३४. न बुद्धिमन्तः पृच्छन्ति न जानामीति वादिनम् । बृ. वा. सा. भाग १, पृ. ९३३
३५. कुतो जातोऽयमिति ते राम मास्तु ते विचारणा ।
शर्मा, यो. वा., भाग १, पृ. ५१२
३६. न्यायेन इति परामर्शो विचार इति कथ्यते ।
३७. काकतालीय योगेन संजीतोऽस्ति मूढंव हि ।
पणशीकर, यो. वा, भाग १, पृ. ५३०
३८. दुर्घटनां नियामकम् । बृ. वा. सा, भाग १, पृ. ९३३
३९. विचारासहत्वं चाविद्याया अलंकारेव । विद्यारण्य स्वामी, विवरण प्रमेय संग्रह (काशी : अच्युत ग्रन्थमाला, सं. १९९८), पृ. १७५
४०. लोककार्यविशेषाणां तमएव नियामकम् । बृ. वा. सा., भाग १, पृ. ९३२
४१. तस्य मानाभि सम्बन्धो न बालेनापि शम्यते । बृ. वा. सा., भा. १, पृ. ९१०
४२. अध्यासात् एव संसार : स..सि. सं. पृ. ७८
४३. विक्षेपनाम्नि रजस्तु प्रवृत्ति हेतु पुरुषस्य । वही, पृ. ७७
४४. इमौ द्वौ एव पन्थानौ । शंकराचार्य, गीताभाष्य, १३. २
४५. कर्मज्ञानं वा मोक्षसाधनम्, पणशीकर, यो. वा., भा १, पृ. ३
४६. तात्पर्य प्रकाश, पृ. ४
४७. वही पृ. ४
४८. वही, पृ. १२-१३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४९. संकल्पबीज वृक्षस्याविद्याया बीजोद्भवम् । विषयाकार संकल्पपरम्परा---। वही, पृ. ५३०

५०. स्वरूपविस्मरणं तद्योगेन --- बाह्य कल्पनोमुखायाः । वही पृ. ३५६

५१. मम पुत्रो --- सोऽहमिदं वासनैव विवल्गति । शर्मा, यो. वा., भाग १, पृ. ४३३

५२. कर्त्तुरिप्सिततम् कर्म । कालनाथ झा, **कारक दर्शनम्** (वाराणसी : चौखम्भा, १९६९), पृ. १

५३. स्वातन्त्र्यं धात्वर्थ पराश्रयत्वम् । वही, पृ ४२

५४. बुद्धि संकल्पकलिता प्रयाति । शर्मा, यो. वा., भा. १, पृ ५१५

५५. क्वचिद् विष्णुः क्वचिद् ब्रह्मा ---। वही, भाग २, पृ. ३४

५६. अहन्त्व बीजादणुतो जायतेऽसौ जगद्द्रुग : । वही, भा. २, पृ. २६२

५७. कामो दाता कामः प्रतिगृहीता । **यजुर्वेद** ७. ४८

५८. अहमयर्योदयो योऽयम् स चित्त वेदनात्मकः । शर्मा, यो. वा., भा. २, पृ. २१५

५९. अहंभावोऽहंङ्कारो जन्म --- ममेदमिति विस्तीर्णास्तेषां ---। वही, भा. १–४९८

६०. एवं जीवां ही संकल्प वासना रज्जुवेष्टितः, वही, पृ. ५१५

६१. पुनरपि जननं पुनरपि मरणम् । शंकराचार्य, **भजगोविन्दम्** (मद्रास : गणेश एण्ड कं., १९६२), पृ. ५२

६२. मदर्था एवाभि विषया : । मुसलगांवकर (सं.) **सांख्यतत्व कौमुदी** (वाराणसी : चौखम्भा, १९७१), पृ. १८४

६३. यावद् ममेदं इति आस्था । शर्मा, यो. वा., भा. २, ६. १५

६४. आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च । **सांख्यतत्व कौमुदी**, पृ. २०४ ।

६५ पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम् । शंकर, **भजगोविन्दम्**, पृ. ५२

६६. क्वचिद् स्वर्ग विलासिनी, क्वचिद् सुरपदं प्राप्ता । शर्मा, यो. वा., भा. पृ. ३४

६७. निमेषोन्मेषयोर्वापि तथैव ज्ञान कर्मयोः । स. सि. सं., पृ. १३९

६८. प्रतीचीं पश्यतां पूंसां कथं प्राची विलोकनं । वही, पृ १३९

६९. जरामरणम् पुनः पुनः । शर्मा, यो. वा. भा. २, पृ, २७ ।

७०. Zimmer, H; The Signs and Symbols in Indian Art and Civilization (Princeton : Princeton University Press, 1974) p. 3–11.

७१. स्फुरति ·· ··· ···गच्छति··· ··· भ्रमति संहरति स्वयं । शर्मा, यो. वा., भा. १, पृ. २६०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७२. पलायते यत्पुरुषः स्वात्ममानं प्रहरन्स्वयम्। वही, पृ. ३६५
७३. दूरं दूरमितोगत्वासेत्य च पुनः पुनः। वही पृ. १४१
७४. यद्येन वर्धते तेन नाशस्तस्य न सिध्यति। स. सि. सं., पृ. ८०
७५. यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, **ऋग्वेदका सुबोध भाष्य** (परदी १९६७), भाग २, पृ. ३०
७६. तस्मात् परांगपश्यति नान्तरात्मा। वही, पृ.७
७७. वही, भा. १, पृ. २०९
७८. घनाहंकारता गतम्। शर्मा, यो. वा., भा. १, पृ. ५१५
७.९ तृष्णया बध्यते जन्तुः सिंह शृंखलया यथा। वही, पृ. ४९०
८०. भावः सदसतोर्मध्ये नृणां चलति यश्चलः। वही, पृ. ३८४
८१. अति दीर्घे जीविते को रमेत। **कठउपनिषद्**, १. १. २८
८२. देहादि अभिमानात्। राजा राधाकान्त देव, **शब्दकल्पद्रुम** (दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, १९६१), भाग ३, पृ. २१६
८३. अतिशयेन प्रियः। तारानाथ तर्कवाचस्पति, **वाचस्पत्य** (कलकत्ता : १८७३) भा. ५, पृ. ४५४०
८४. शंकराचार्य, स. सि. सं, पृ. १२०
८५. नाहंस्थूलो न दीर्घो नापि वृद्धः। वही, पृ. १२८
८६. आत्मनस्तिरोधानमात्रं मरणं इत्यर्थं :। **तात्पर्यप्रकाश**, पृ. ३७०
८७. हा हतोऽस्मि··· ··· ···गतोस्मि इति पुनः पुनः। वही, पृ. ५६८
८८. स्वरूपविस्मरण तद् योगेन ··· ··· ···। वही, पृ. ३५६
८९. संसार वृत्तयो मुक्ता इदानीं विश्राम्यहं। पणशिकर, यो. वा., भा. १, पृ. ५६८
९०. मनसैव मनश्चित्वा पार्थ परमबन्धनम्। वही, पृ. ३८९

०००

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्री अरविन्द की उदात्त कल्पनाओं के सन्दर्भ में आचार्य शंकर

प्रस्तुत निबन्ध में श्री अरविन्द की उन कतिपय दार्शनिक मान्यताओं पर अपना विचार व्यक्त करना चाहता हूँ जिनका श्री शङ्कराचार्य के अद्वैत दर्शन से सीधा सम्बन्ध है।

(१)

योगिराज श्री अरविन्द के विशाल व्यक्तित्व एवम् सर्वतोमुखी विशिष्ट प्रतिमा से हम आप पूर्ण परिचित हैं। भारत राष्ट्र के पूर्ण विकास एवम् समृद्धि की उनकी उदात्त कल्पना भावुक जगत् में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

श्री अरविन्द ने उन सभी पहलुओं पर विवेचन पूर्वक अपना उदात्त दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जिनका अनुसरण अपनी जगद्गुरुता सुप्रतिष्ठित रखने की दृष्टि से भारत के लिये अनिवार्य है।

इसी सन्दर्भ में श्री अरविन्द ने अपना दर्शन तथा राष्ट्रीयता का परस्पर पूरक रूप में घनिष्ट एवम् स्निग्ध सम्बन्ध है। दर्शन का मुख्य प्रयोजन मानव को बास्तविक रूप में राष्टीय बनाना ही है। इसी लिये यथार्थ दर्शन का उद्भव राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत महापुरुष के हृदय में ही होता है। न्यायदर्शन का उद्भव महर्षि गौतम के हृदय में क्यों हुआ, इसे स्पष्ट करते हुए श्री गङ्गेशोपाध्याय तत्त्व-चिन्तामणि के प्रारम्भ में लिखते हैं–

" अथ जगदेव दुःखपङ्कनिमग्नमुद्दिधीर्षुः अष्टादश विद्यास्थानेषु अभ्यर्हितत-मान्वीक्षिकीं परमकारुणिको मुनिः प्रणिनाय।"

इसका आशय स्पष्ट है कि परमकरुणिक मुनि के हृदय में ही दर्शन का आविर्भाव होता है। बह परम कारुणिकता स्थावर जङ्गमात्मक संसार मात्र के प्रति आवश्यक है। ऐसी परम कारुणिकता किसी महान् राष्ट्रप्रेमी, राष्ट्रियता की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उदात्त भावना से ओत-प्रोत महापुरुष में ही सम्भव है। ऐसा महापुरुष ही दु:खपङ्कनिमग्न संसार मात्र के उद्धार की पवित्रतम भावना से सही अर्थ में भावित हो सकता है।

यही स्थिति समग्र भारतीय दर्शनों के सम्बन्ध में है। श्री अरविन्द में भी हम ऐसी भावना का दर्शन करते हैं। वे उच्च कोटि के राष्ट्रीयतावादी हैं। उनकी राष्ट्रियता मानवमात्र के लिये हे। भारत उनकी दृष्टि से एक चिन्मय तत्त्व है। उनका स्पष्ट मत है कि भारत ही दिव्यजीवन का सन्देश चतुर्दिक् फैलेगा; अतः भारत का महत्त्व आन्तरराष्ट्रीय है। श्री अरविन्द की यह दिव्यजीवन की कल्पना अनन्य साधारण है। वे मानते हैं कि शीघ्र ही अतिमानव या दिव्य मानव का जन्म होने वाला है, उस समय विज्ञान, कला तथा राजनीति का स्वरूप बदल जायगा। वे सभी दिव्यजीवन के साधन हो जायेंगे। अति मानव के अवतरण से शरीर प्राण तथा मन का परिवर्तन होगा और सभी व्यक्ति एकत्व एवम् आनन्द का अनुभव करेंगे। श्री अरविन्द की इस परम उदात्त कल्पना से हमें यह स्पष्ट आभास हो रहा है कि उनके दर्शन का लक्ष्य कितना मङ्गलमय एवम् पुनीत है।

(२)

अरविन्द का दिव्यकल्पनालोक

योगिराज अरविन्द प्रथम कवि हैं, अनन्तर दार्शनिक। कविहृदय एवम् दार्शनिक हृदय का अद्‌भुत सम्मिश्रण हमें श्री अरविन्द में देखने को मिलता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि कविहृदय ने दार्शनिक हृदय को पराभूत कर लिया है। कवि की भारती का स्वरूप स्पष्ट है:–

" नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ "

(मम्मट, काव्यप्रकाश)

निश्चित ही कवि की उदात्त दिव्य कल्पनाओं पर कोई भी अङ्कुश नहीं लगा सकता। सम्भवतः कवि का उदार, स्पृहणीय, काल्पनिक जगत्, कल्पना के किसी दिव्य धरातल पर ही अपने अनुपमेय स्फीत रूप में अनुभूत होता है। वह यदि इस व्यावहारिक धरातल पर आये तो अवश्य ही मलिन हो जायगा।

कविहृदय श्री अरविन्द के दर्शन में ऐसी ही स्पृहणीय कल्पनाएँ हैं। उनका भाव-प्रवण कविहृदय जिस दिव्य कल्पनालोक में जगत् का दिव्यीकरण जिस पूर्णाद्वैतवाद के द्वारा करना चाहता है वह सचमुच ही तर्क के निकष पर कुछ असम्भव सा दीखता है और यह शोभा की ही बात होनी चाहिए:–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"नैषा तर्केण मतिरापनेया"

पर उनका पूर्ण योग इस तर्काप्रतिष्ठित तत्त्व का लाभ अवश्य करायेगा यह विश्वास हम लोगों को करना ही चाहिए।

(३)

शाङ्कर दर्शन के सन्दर्भ में अरविन्द

अरविन्द अतीम करुणा तथा भावुकता से ओत-प्रोत हैं। उनका करुणापूर्ण भावुक हृदय यह स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नहीं है कि जगत् असत्य है। किसी को असत्य स्वीकार करना उन्हें अनुचित प्रतीत होता है। इसीलिए 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' इस शाङ्कर-अद्वैत की मान्यता को वे उचित नहीं मानते। उनके अनुसार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यही उचित है और इसके आधार पर जगत् भी उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म।

पर मैंने शङ्कर के अद्वैत को जितना समझा है, उस के अनुसार शङ्कर भी जगत् को असत्य नहीं मानते। जब उपनिषद् का स्पष्ट उद्घोष है—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म–" सब कुछ निश्चय ही ब्रह्म है, तब जगत् भी ब्रह्म ही है; क्यों कि 'इदं सर्वम्' का अर्थ जगत् ही है। ऐसी स्थिति में उपनिषद् को परम प्रमाण स्वीकार करने वाले शङ्कर जगत् को मिथ्या कैसे मान सकते हैं ?

कहा जा सकता है कि शङ्कराचार्य की यह भी स्पष्ट मान्यता है–'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथा।' इस के अनुसार तो उनकी दृष्टि में जगत् मिथ्या है ही; पर इस सम्बन्ध में मेरा नम्र निवेदन है कि शङ्कराचार्य 'जगन्मिथा' मानते हुए जगत् को जगत् रूप में मिथ्या मानते हैं न कि ब्रह्म रूप में। किसी भी वस्तु का अपने वास्तविक रूप में सत्य होने के साथ अन्य अवास्तविक रूप में असत्य होना निर्विकार सिद्ध है। रज्जु रज्जु रूप से सत्य है, सर्प रूप से तो असत्य ही है। जगत् रूप में जगत् का मिथ्या या असत्य होना प्रमाणसिद्ध है। कम से कम अद्वैत-वादी की दृष्टि से तो इस में विवाद या मतभेद का प्रश्न ही नहीं उठता। शङ्कर के अनुसार सत्य, वस्तु, ब्रह्म–ये सब पर्यायवाची शब्द हैं और इन शब्दों का अर्थ है–कालत्रयानपायी आत्मा (तीनों काल में नष्ट होनेवाला आत्मतत्त्व)।

जगत् जिस रूप में हमें दीख रहा है उस रूप में कथमपि कालत्रयानपायी नहीं है, प्रत्युत प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। अतः अपने प्रत्यक्ष दृश्यमान रूप में जगत् अवस्तु, असत्य, मिथ्या है ही। अरविन्द भी कालत्रयानपायी रूप में जगत् को सत्य नहीं मानते। वे जगत् की सत्यता इस रूप में मानते है कि उस में भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चित्शक्ति अन्तर्व्याप्त है। यह जगत् सत्य ब्रह्म की लीला रूप में एक सत्य परिणाम है, मात्र इस में चेतना तिरोभूत है। यह सब शङ्कर को प्रकारान्तर से मान्य है, अधिकांशतः स्वीकार्य है। कालत्रयानपायिता न होने मात्र से जगत् का अपने रूप में असत्यत्व उन्हें अभिप्रेत है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'– ब्रह्म ही एक मात्र अद्वितीय तत्त्व है, इस तथ्य का पूर्ण समर्थन अरबिन्द करते ही हैं। ऐसी स्थिति में शङ्कर एवम् अरविन्द की जगत् के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ है उन में परस्पर विरोध की कोई सम्भावना ही नहीं है।

यदि सब सत्य ही मान लिया जाय तो सत्य-असत्य के व्यवहार का आधार क्या होगा ? निरपेक्ष सत्यता एवम् सापेक्ष सत्यता ही सही, पर कुछ भेद तो 'सत्य-असत्य' व्यवहार के लिए व्यवहारिक जगत् में स्वीकार करना ही होगा और वही एकमेव अद्वितीय तत्त्व के निर्णय का आधार होगा।

(४)

शङ्कर का मायावाद एवम् अरविन्द

शङ्कर के मायावाद की चर्चा 'दिव्यजीवन' में पर्याप्त रूप से की गयी है। जगत् का उपादान कारण माया-अज्ञान है, यह शङ्कर की मान्यता श्री अरविन्द के कारुणिक कविहृदय को खटकती है। वह ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण स्वीकार करना चाहता है। वास्तव में शङ्कर के दृष्टिकोण को सही रूप में हृदयङ्गम करने की आवश्यकता है। शङ्कर अभिन्ननिमित्तोपादान कारणवादी हैं। उन के अनुसार जगत् का निमित्त एवम् उपादान कारण अभिन्न एक है और वह ब्रह्म ही है। उनके दर्शन में स्पष्ट उल्लेख है :–

"शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतया चोपादनं भवति। यथ लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतया चोपादानं भवति।"

(वेदान्तसार, सदानन्द)

इस का आशय यह है कि जैसे लूता (मकड़ी) जालरूप कार्य के प्रति अपने चैतन्य की प्रधानता से निमित्त कारण तथा अपने शरीर की प्रधानता से उपादान कारण है, वैसे ही आवरण एवम् विक्षेपशक्ति से विशिष्ट अज्ञानरूप उपाधि से उपहित ब्रह्म अपनी प्रधानता से जगत् का निमित्तकारण तथा अपनी उपाधि अज्ञान की प्रधानता से उपादान कारण होता है।

इसके अनुसार स्पष्ट है कि शङ्कर के मत में भी ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है। अन्तर इतना ही है कि ब्रह्म की उपादान कारणता उन्होंने अज्ञान-माया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की प्रधानता से स्वीकार की है और यह भी इसलिए कि अद्वैत या पूर्णद्वैत प्रतिष्ठित हो सके। अन्यथा एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है, 'सब कुछ ब्रह्म ही है' यह तथ्य प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगा; क्योंकि यदि ब्रह्म अपनी प्रधानता से ही जगत् को उपादान कारण माना जायगा तो प्रथम तो ऐसा सम्भव नहीं है क्यों कि वह कूटस्थ है। कदाचित् ऐसा सम्भव हो तो भी ब्रह्म एवम् जगत् ये दो वस्तु कालत्रयानपायी रूप में सत्य होंगी फलतः द्वैत के प्रतिष्ठित हो जाने से शङ्कर के अद्वैत तथा अरविन्द के पूर्णद्वैत की प्रतिज्ञा असम्भव होगी।

(५)

रज्जु-सर्प का दृष्टान्त

ब्रह्म एवं उससे भिन्न रूप में प्रतीयमान जगत् के मध्य अज्ञान-माया को कारण रूप में स्वीकार कर शङ्कर यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि एक मात्र सत्य सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्म में अज्ञान से ज्ञात जगत् ठीक उसी प्रकार कल्पित है जिस प्रकार व्यावहारिक जगत् में सत्य रज्जु में अज्ञान के द्वारा सर्प कल्पित होता है। इसका निष्कर्ष यह है कि रज्जु के स्थान पर ब्रह्म को तथा सर्प के स्थान पर जगत् को समझना चाहिए। फलतः रज्जु में सर्प की काल्पनिक सत्ता के समान ही ब्रह्म में जगत् की काल्पनिक सत्ता मात्र है। इस से यह तथ्य अति स्पष्ट हो जाता है कि जैसे रज्जु की सत्ता से अतिरिक्त सर्प की सत्ता नहीं है वैसे ही ब्रह्म की सत्ता से अतिरिक्त जगत् की सत्ता नहीं है। इस तथ्य का सुपरिणाम यह है कि जिस अज्ञान के कारण ब्रह्म में जगत् कल्पित है उस अज्ञान की ब्रह्मज्ञान के द्वारा निवृत्ति होने मात्र से सत् चित्-आनन्दमय ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति स्वतः हो जाती है। इस के लिए पृथक् प्रयास की आवश्यकता नहीं होती तथा यथार्थतः सब कुछ ब्रह्म ही है –यह तथ्य प्रकाश में आ जाता है।

यदि ब्रह्म एवम् जगत् के बीच अज्ञान को कारण रूप में न स्वीकार किया जाए तो रज्जु-सर्प के दृष्टान्त के द्वारा शङ्कर ब्रह्म मात्र की वास्तविक (पारमार्थिक) सत्ता सिद्ध कर जिस अद्वैत की सुप्रतिष्ठा चाहते हैं वह न हो सकेगी तथा अरविन्द का पूर्णद्वैतवाद स्वप्नमात्राही रह जायगा।

(६)

स्वर्ण-अलङ्कार का दृष्टान्त

श्री अरविन्द शङ्कर के मायावाद को ही अस्वीकार करते हुए ब्रह्म से जगत् की उपत्ति के लिए स्वर्ण-अलङ्कार को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दृष्टान्त के अनुसार स्वर्ण के स्थान पर ब्रह्म है तथा अलङ्कार के स्थान पर जगत्। क्या ऐसा मानने पर जैसे स्वर्ण की अपेक्षा उससे निर्मित अलङ्कार अधिक शोभाशील एवम् शोभाधायक होता है वैसे ही जगत् में भी ब्रह्म की अपेक्षा अधिक शोभा एवम् शोभाधायकता सिद्ध नही होती? फलतः ब्रह्म से भी उत्कृष्ट जगत् सिद्ध न होगा? यदि यही इष्ट हैं तो 'पूर्णाद्वैतवाद' का अर्थ क्या है? तब अद्वैत कहाँ रहा? तब तो जैसे स्वर्ण-अलङ्कार दोनों ही पूर्ण सत्य रूप में स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं वैसे ही ब्रह्म एवं जगत् दोनों ही स्वतन्त्र रूप में पूर्ण अस्तित्व से सम्पन्न हो कर रहेंगे। ऐसी स्थिति में पूर्ण द्वैतवाद सिद्ध होगा न कि पूर्ण अद्वैतवाद।

यदि श्री अरविन्द का तात्पर्य यह माना जाय कि जैसे अलङ्कार की प्रकृति स्वर्ण ही है अतः परमार्थतः सद् स्वर्णतत्त्व मात्र होने से स्वर्ण एवम् अलङ्कार में पूर्ण अद्वैत है वैसे ही जगत् की प्रकृति ब्रह्म मात्र होने से पूर्ण अद्वैत सिद्ध होता है; तब भी यह प्रश्न उठता है कि उनके अनुसार जगत् में चेतना तिरोभूत क्यों है? जैसे स्वर्ण के परिष्कृत रूप अलङ्कार में अधिक शोभा है वैसे ही ब्रह्म के परिष्कृत रूप जगत् में चेतना का अधिकाधिक विकास उपलब्ध होना चाहिए। उसके तिरोभूत होने का तो कोई कारण प्रतीत नही होता।

(७)

बाह्य रूप में जगत् अदिव्य क्यों?

सत् चिद्घन ब्रह्म से उत्पन्न जगत् बाह्य रूप में अदिव्य क्यों? इस प्रश्न का समाधान श्री अरविन्द के शब्दों में यह है–"मनुष्य अभी पार्थिव विकास की मध्यवर्त्ती भूमिका में है। मनुष्य के ऊपर देव सृष्टि है। अभी मनुष्य को देवता बनना है। इसी लोक में इसी शरीर से मनुष्य देवता बन जाएगा। पृथ्वी ही स्वर्ग हो जाएगी। अतिमन-दिव्यमन के अवतरण की आवश्यकता है। भू, प्राण और मन से बने मनुष्य में विज्ञान, आनन्द, चित् और सत् के समञ्जस संयोग से एक ऐसी दिव्य आनंदमय सृष्टि होनी सम्भव है जो अभी तक नहीं हुई है।"

श्री अरविन्द के इस समाधान से उनकी जगत् के सम्बन्ध में एक ऐसी भव्य एवम् परम उदात्त कल्पना हम लोगों के सम्मुख अवश्य अवतरित होती है जो किसी करुणामय हृदय से सम्पन्न महापुरुष के स्वभाव के अनुरूप है और जिस स्वर्णिम भविष्य में यह कल्पना साकार होगी उसकी प्रतीक्षा प्रत्येक मानव को उत्कट उत्कण्ठा से करनी चाहिए; पर तर्क के धरातल पर ये प्रश्न मेरी समझ में असमाधेय ही रह जाते हैं कि विशुद्ध चिद्घन ब्रह्म से उत्पन्न जगत् में मानव क्यों पार्थिव विकास की मध्य भूमिका में ही रह गया? क्यों देव सृष्टि के नीचे ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनुष्य मात्र रह गया ? देव-सृष्टि एवं मनुष्य-सृष्टि के रूप में वैषम्य क्यों ? ब्रह्म से तो दिव्य आनन्दमय ही सृष्टि होनी चाहिए, ऐसा क्यों नहीं हुआ ?

शङ्कर के अनुसार तो इन प्रश्नों का समाधान बड़ी ही सुगमता से हो जाता है और वह व्यावहारिक धरातल पर तर्क के निकष पर खरा उतरता है। रज्जु-सर्प का दृष्टान्त यह स्पष्ट करता है कि वस्तु वास्तवरूप में कुछ और होती हुई भी अज्ञानवश अवास्तव रूप में कुछ और ही प्रतीत होती है। ठीक ऐसे ही ब्रह्म भी जीव के अज्ञानवश अवास्तव जगत् के रूप में उसे प्रतीत होता है और अज्ञानवश अवास्तव रूप में प्रतीयमान वस्तु का अदिव्य तथा अपेक्षित विकास से रहित होना स्वाभाविक ही है।

'सत् चिद्घन अद्वितीय ब्रह्म से जगत् उत्पन्न हुआ ही क्यों ?' इस प्रश्न का समाधान अरविन्द के अनुसार यह है– एकमेकवाद्वितीय ब्रह्म में एकत्व को बहुत्व में व्यक्त करने की शक्ति है। आनन्दमय ब्रह्म अपने एकत्वमय निष्क्रिय अनन्त स्वरूप का आनन्द तो सदा होता ही रहता है, परन्तु जब चाहता है तब बहुत्वमय सक्रिय स्वरूप का भी आनन्द लेता है। हम उसे अपनी सीमित बुद्धि से आदेश नहीं दे सकते कि तुम सक्रिय क्यों ? तुम बहु क्यों ? अनन्त तुम सान्त क्यों ?

एक भावुक कविहृदय की दृष्टि से यह समाधान सम्भवतः ठीक हो सकता है और अन्ततः भावनाप्रधान होकर ही हमें एक निष्कर्ष पर पहुँचना होता है, पर यथासम्भव तर्क के निकष पर समाधान को प्रमाणित करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। ऐसी स्थिति में यह बात समझ में नहीं आती कि आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम कूटस्थ ब्रह्म में किसी प्रश्न की इच्छा ही क्यों उत्पन्न होगी ? और वह भी दुःखमय अदिव्य जगत् को उत्पन्न करने के लिए क्यों होगी ? शङ्कर के अनुसार तो उपर्युक्त प्रश्न का तर्कसङ्गत समाधान मिल जाता है कि अज्ञान-मायारूप उपाधिवश ब्रह्म से यह सब सम्भव है। अज्ञान-भ्रम वश विभिन्न प्रकार के चित्र विचित्र कार्य हो जाया करते हैं। यह व्यवहार जगत् में प्रत्यक्षसिद्ध है ही।

(८)

परमध्येय एवम् विषयभोग

अरविन्द एवम् शङ्कर के मतभेद का एक मुख्य स्थल यह भी है कि शङ्कर तो परम ध्येय की प्राप्ति के लिए विषयत्याग को आवश्यक समझते हैं पर अरविन्द विषयभोग के साथ ही मानव को परमध्येय तक पहुँचा देने की बात करते हैं। वास्तव में शङ्कर का आग्रह विषय-त्याग के लिए उतना नहीं है, जितना कि विषयासक्ति के त्याग के लिए है। विषयासक्ति का त्याग यदि विषयभोग के साथ सम्भव हो तो शङ्कर का विषयभोग से कदापि विरोध नहीं है। सामान्यतः यह पाया जाता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है कि विषयासक्ति के कारण ही विषयभोग में प्रवृत्ति होती है और सामान्य भूमिका के मानव को विषयासक्ति के निराकरण के लिए विषय में दोषदर्शनपूर्वक उसके त्याग के लिए अग्रसर होना ही पड़ता है। इस तथ्य को दृष्टि में रख कर ही शङ्कर विषयत्याग पर बल देते हैं। यदि विषयभोग के साथ उस पर से आसक्ति मिटाने का अदम्य साहस मानव में है तो विषयभोग के साथ कोई विरोध नहीं ही होना चाहिए। पर यह कहाँ तक सम्भव है इस पर बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से दूर-दृष्टि अपना कर गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिए।

(९]

अरविन्द दर्शन का अध्ययन

मेरी दृष्टि में अरविन्द का दर्शन शङ्कर के अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक एवम् पूरक रूप में एक प्रशस्त भूमिका का रूप ले सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि अरविन्द दर्शन के अध्येता शङ्कर के अद्वैत दर्शन को अच्छी प्रकार समझकर निष्पक्ष रूप से यथासम्भव अरविन्द की दार्शनिक मान्यताओं को तर्क की कसौटी पर खरा उतरने का प्रयास करें तथा उस दिशा में सोचें जिसके अनुसार यथासम्भव शङ्कर दर्शन के नवनीत के रूप में अरविन्द दर्शन एक बोधगम्य प्रशस्त भारतीय दर्शन का रूप ले कर जन जन के मानसपटल पर सुप्रतिष्ठित हो।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय — सुधाकर दीक्षित
वाराणसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"जगत् मिथ्या"–एक आलोचना

शंकर के अद्वैत दर्शन का केन्द्रीय वाक्य है–" ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या "। शंकर ने ब्रह्म को निरपेक्ष सत्य माना है और विश्व को उसके समक्ष भ्रम कहा है। ' ब्रह्म ' निरपेक्ष, शुद्ध चेतना है। वह विशुद्ध ज्ञाता है।

" अहं ब्रह्मास्मि " तथा " तत्वमसि " आदि मन्त्र भी यही व्यक्त करते हैं कि परम तत्व अर्थात् ' ब्रह्म ' विशुद्ध ज्ञाता है। विशुद्ध ज्ञाता की सत्ता को स्वीकार करना एक बौद्धिक अनिवार्यता है। यद्यपि विशुद्ध ज्ञाता को कभी जाना नहीं जा सकता (अर्थात् उसे कभी ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता) क्योंकि स्वभावतः वह ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं, इसलिए ह्यूम जैसे सन्देहवादी ज्ञाता की सत्ता पर सन्देह करते हैं। किन्तु जैसा कि डेकार्ट ने ' Cogito ergo sum के माध्यम ' से स्पष्ट किया था-सन्देह से भी सन्देही (अर्थात् ज्ञाता) का अस्तित्व सिद्ध ही होता है। अतएव सन्देह करके भी ज्ञाता सत्ता को मानना ही पड़ता है। इमैनुएल काण्ट को भी ज्ञान की व्याख्या करने की क्रम में विशुद्ध ज्ञाता (Transcendental Synthetic Unity of Pure Apperception) की सत्ता अपरिहार्य दिखी। आधुनिक भारतीय दार्शनिक श्री कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य ने भी सैद्धान्तिक चेतना (Theoretical Consciousness) के रूप में विशुद्ध ज्ञाता के अस्तित्व को स्वीकार किया है। इस प्रकार बौद्धिक अनिवार्यता को देखते हुए, शंकर द्वारा ' ब्रह्म सत्यम् ' कहा जाना उचित ही है। किन्तु वे ' ब्रह्म सत्यम् ' कहने के साथ आवश्यक रूप से जोड़ कर ' जगत् मिथ्या ' भी कहते हैं, मानो एक की सत्यता से दूसरे की सत्यता तर्कतः आपादित (Logically Implied) होती हो। सामान्यतः ऐसा स्वीकार भी कर लिया गया है कि ' ब्रह्म सत्यम् ' कहते ही ' जगत् मिथ्या ' सिद्ध हो जाता है। ऐसा मानने का कारण यह है कि ' ब्रह्म ज्ञान ' में वैविध्य पूर्ण विश्व दृष्टिगोचर नहीं होता, सिर्फ शुद्ध, अभेद चैतन्य शेष रहता है और यह परमार्थतः सत्य है, अतएव विश्व को परमार्थतः सत्य नहीं माना जा सकता। उसकी सिर्फ व्यावहारिक सत्ता है और पारमार्थिक दृष्टि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से वह मिथ्या या भ्रम है। ऊपर से देखने पर यह तर्क इतना साफ और सरल दीखता है जिसके विरुद्ध कुछ कहने का कोई उपाय नहीं हो सकता, लेकिन गहराई से छान-बीन करने पर पता चलता है कि 'जगत् मिथ्या' कह कर शंकर ने एक ऐसी समस्या को उत्पन्न कर दिया है जिसे उनकी अद्वैत दृष्टि से संगति रखते हुए सुलझाया ही नहीं जा सकता।

१. शंकर की दृष्टि में ब्रह्म अर्थात् शुद्ध-ज्ञाता एक परात्पर स्थिति Transcendental State है। वह समस्त विषयों से अतीत अवस्था है। जब समस्त विषयों से चेतना को मुक्त कर लिया जाता है तो ज्ञाता मात्र शेष रह जाता है। यही आत्म-ज्ञान है। शंकर का 'ब्रह्मज्ञान' या पारमार्थिक ज्ञान यही 'अपरोक्षानुभूति' है। किन्तु प्रश्न है कि चेतना को सम्पूर्ण विश्व के समस्त विषयों से हटा लेने पर विश्व मिथ्या या भ्रम कैसे हो जाता है? विषयों से चेतना को हटा लेने पर विषय तिरोहित हो जाते हैं—यह धारणा आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादियों (Subjective Indealists) की है। किन्तु शंकर आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी नहीं वरन् निरपेक्ष प्रत्ययवादी हैं। फिर भी यदि यह मान लें कि विश्व उनके लिए नष्ट हो गया जो ज्ञान (अर्थात् आत्म-ज्ञान) को उपलब्ध हो गए तो उनका उस स्थिति से सामान्य, व्यावहारिक ज्ञान के तल पर आना असम्भव होगा। जब वैविध्य समाप्त हो कर शुद्ध एकत्व की स्थिति उपलब्ध हो गयी तो उससे इतर विशेष का कोई कारण नहीं हो सकता। फिर भी ज्ञानी व्यावहारिक ज्ञान के तल पर आते और अपने मत का प्रचार करते हैं, तो यही सिद्ध होता है कि विश्व भ्रम नहीं है। इस आपत्ति का उत्तर वेदान्त में यह कह कर दिया जाता है कि आत्मज्ञान हो जाने पर व्यक्ति 'जीवन्मुक्त हो जाता है किन्तु प्रारब्ध कर्मों के चलते वह विश्व में अपनी आयु पूर्ण करता है। यह दलील भी एकदम लचर हैं। ज्ञान हो जाने के पश्चात् क्या प्रारब्ध कर्म शेष रह सकते हैं? शंकर की दृष्टि में मुक्त चेतना निर्विषय होती है, अतः वहां इन विषयों का कोई भी स्थान नहीं रह जाता। यदि प्रारब्ध कर्मों का आधार ज्ञाता चैतन्य के अतिरिक्त किसी और सत्ता, यथा—जड़ प्रकृति या परमात्मा को माना जाय तो अद्वैतवाद की जगह द्वैतवाद या कम-से-कम विशिष्टाद्वैत वाद आ जाएगा। इसके अतिरिक्त प्रारब्ध कर्मों के सम्बन्ध में एक और समस्या खड़ी हो जाती है; वह यह कि प्रारब्ध कर्मों को पारमार्थिक सत्य माना जाए या व्यावहारिक सत्य? शंकर की अद्वैत दृष्टि में शुद्ध अद्वय चैतन्य के अतिरिक्त और कुछ परमार्थतः सत्य नहीं है और प्रारब्ध कर्म शुद्ध चैतन्य के तत्त्व नहीं माने जा सकते, अधिक-से-अधिक चेतना के विकार माने जा सकते हैं अतः वे सिर्फ व्यवहारतः सत्य हैं, परमार्थतः नहीं। तब ज्ञान होने पर भी यदि ज्ञाता पर प्रारब्ध कर्म प्रभाव डाल कर उसे व्यवहारिक विश्व में वापस ला सकते हैं तो व्यावहारिक सत्य पारमार्थिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सत्य से भी प्रभावशाली, श्रेष्ठ हो जाएगा। अतः प्रारब्ध कर्म की दलील यह बतलाने में असफल रहती है कि आत्म ज्ञान के पश्चात् भी ज्ञाता व्यावहारिक विश्व में कैसे वापस आ सकता है ? अतः इस दृष्टिकोण से विश्व को भ्रम कहना युक्ति संगत नहीं है।

२. विश्व को भ्रम कहने का दूसरा आधार अज्ञेयतावादी दृष्टिकोण हो सकता है। हमने देखा कि विशुद्ध ज्ञाता की सत्ता अपरिहार्य है। अतः वह निरपेक्ष सत्य है। किन्तु विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में निरपेक्ष रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता जैसा कि काण्ट ने अपने अज्ञेयतावादी दर्शन में दिखलाया। शंकर ने भी बतलाया है कि जगत् की स्थिति अनिर्वचनीय है; इसके सम्बन्ध में न-'है' कहा जा सकता है और न- 'नहीं है'। अतः इस दृष्टि से कि विशुद्ध ज्ञाता की सत्ता अनिवार्यतः सिद्ध है और विश्व की स्थिति संशयपूर्ण, यह कहा जा सकता है कि 'ब्रह्म' (विशुद्ध ज्ञाता) सत्य है और जगत् मिथ्या। यहाँ मिथ्या या भ्रम का अर्थ संशय है। संशय में हमारे समक्ष दो विकल्प रहते हैं और किसी एक के सम्बन्ध में निर्णय नहीं लिया जा सकता। अंधेरे में दूर पर खड़ी चीज़ पेड़ है या मनुष्य-तय नहीं हो पाता। इस संशय के चलते मनुष्य का भ्रम हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ विश्व के सम्बन्ध में यह निर्णय नहीं लिया जा सकता कि वह अस्तित्व-वान् है, या नहीं; इस अर्थ में विश्व एक भ्रमपूर्ण स्थिति है। 'सर्प-रज्जु भ्रम' के प्रसिद्ध वेदान्ती उदाहरण में भी इस प्रकार का संशय रहता है। किन्तु विश्व को यदि इस अर्थ में भ्रम कहा जाय तो उसके सत्य होने की भी सम्भावना रहेगी, क्यों कि संशय के दो विकल्पों में से कोई भी सत्य हो सकता है। मात्र संशय के आधार पर किसी एक विकल्प को निरस्त नहीं किया जा सकता। सांप का भ्रम हो रहा है, यह एक संशयपूर्ण स्थिति है इसीलिए हम यह नहीं कह सकते कि साँप नहीं है, रस्सी ही है। ऐसा कहने का हमारे पास कोई यौक्तिक आधार नहीं रहता। साँप के होने की भी सम्भावना सत्य हो सकती है। इस तरह इस दृष्टिकोण से विश्व के सत्य होने की भी सम्भावना रहेगी। किन्तु तब शंकर का अद्वैतवाद खंडित हो जाता है। अतएव शंकर की अद्वैत दृष्टि से संगति रखते हुए विश्व को भ्रम सिद्ध करने में अज्ञेयतावादी मत भी सहायक नहीं हो सकता।

३. अब सिर्फ एक सम्भावना शेष रह जाती है। वह है—असीम चेतना का दृष्टिकोण। आत्म ज्ञान हो जानें पर चेतना अभेद दशा को उपलब्ध हो जाती है। बाह्य अभ्यन्तर इत्यादि कोई भेद वहाँ नहीं रह जाता। अतः चेतना की कोई सीमा नहीं रह जाती, वह असीम हो जाती है। असीम होने के कारण उसके बाहर कुछ भी नहीं रह जाता। अतएव आत्मज्ञानी समस्त विषयों पर आधिकारिक निर्णय दे सकता है। फलस्वरूप आत्मज्ञ को यदि विश्व भ्रम दीखता है यह भी निरपेक्ष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सत्य माना जाएगा। यदि विश्व को भ्रम कहने का यह दृष्टिकोण मान्य हो तो, सारी बात इस प्रश्न पर निर्भर करेगी कि असीम चेतना का हम क्या अर्थ लेते हैं? असीम चेतना का साधारण अर्थ होता है–असीम ज्ञान, समस्त विषयों का ज्ञान। जिसका एक निष्कर्ष यह निकल सकता है कि असीम चेतना कोण-गणित, भौतिक शास्त्र, मनोविज्ञान, भूगोल, इतिहास, आदि सभी विषयों का ज्ञान होगा। यह निष्कर्ष हास्यास्पद भले ही लगे किन्तु असीम ज्ञान का इससे भिन्न शायद ही कोई ठोस अर्थ हो सकता है। ज्ञान का अर्थ है विषय का ज्ञान, इसलिए असीम ज्ञान का अर्थ होगा सभी विषयों का ज्ञान। लेकिन शंकर आत्मज्ञान को शुद्ध, अभेद चैतन्य दशा मानते हैं जो समस्त विषयों से शून्य है। इसीलिए असीम चेतना का यह अर्थ नहीं लिया जा सकता। (क्ष) किन्तु समस्त विषयों से विरहित चेतना को असीम चेतना क्यों कहा जाय? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि–जब तक चेतना विषयों से बंधो रहती है, सीमित रहती है। विषयों से मुक्त हो कर ही वह असीम होती है। अतः असीम चेतना का अर्थ समस्त विषयों का ज्ञान नहीं वरन् समस्त विषयों से मुक्ति है। किन्तु समस्त विषयों से चेतना को हटा लेना ज्ञान है या अज्ञान इसके बीच विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। डॉक्टर राधाकृष्णन् ने प्रज्ञा (Intuition) की व्याख्या करते हुए यह बतलाया है कि ज्ञान का लक्षण असंदिग्धता है और प्रज्ञा में यह सर्वोच्च अंशों में पायी जाती है।[1] किन्तु शंकर के आत्मज्ञान–अपरोक्षानुभूति को ज्ञान माने तो यह वैसा ही होगा जैसे कि एक कमरे में बहुत सी वस्तुएँ दिखायी पड़ती हों और वहाँ बिल्कुल अंधेरा कर दें तो कुछ भी न दिखायी देगा। यहाँ एक प्रकार की असंदिग्धता अवश्य पायी जाती है, क्यों कि अगर कमरे में एक छड़ी पानी में डूबी रखी हो तो पहले वह ढेढ़ी दीखती थी, एक भ्रम होता था; और अब कोई भ्रम नहीं होगा। किन्तु स्पष्टतया यह असंदिग्धता ज्ञान की कीमत पर पायी गई असंदिग्धता है। इसलिए शंकर की 'अपरोक्षानुभूति' ज्ञान है तो वह अज्ञान से किसी तरह भिन्न नहीं है।

यह ठीक है कि विशुद्ध ज्ञाता के अस्तित्व को अनिवार्यतः स्वीकार करना पड़ता है और उसका साक्षात् (या 'अपरोक्षानुभूति') तभी किया जा सकता है जब सभी विषयों को चेतना से निरस्त कर दिया जाता है। किन्तु यह स्थिति वस्तुतः अंधेरे कमरेवाले उदाहरण के ही अनुरूप है। अंधेरे कमरे में हमें कोई चीज नहीं दीखती, हाथ को हाथ नहीं सूझता, फिर भी 'स्व' का बोध होता है, बल्कि अन्य विषय न रहने से 'स्व' का बोध ही प्रगाढ़तर रूप से होता। किन्तु इस असंदिग्ध बोध से सिर्फ ज्ञाता पक्ष की सुनिश्चितता मिल सकती है। यदि विषय मुक्त होने से चेतना की इस दशा को असीम कहा जाता है तो हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि इस असीमता से वस्तु जगत् का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव इस आधार पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वस्तु जगत् को भ्रम कहने का हमारे पास कोई यौक्तिक अधिकार नहीं रह जाता। इसलिए शंकर का आत्म ज्ञान—जो एक निर्विषय चैतन्य दशा है—हमें विश्व को भ्रम कहने का कोई अधिकार नहीं देता। जब ही शंकर आत्मज्ञान को निर्विषय चैतन्य दशा कहते हैं, तभी उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए कि वे विश्व के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह रहे; अतः वे उसे भ्रम भी कैसे कह सकते हैं ? यदि यह तर्क दिया जाता है कि ज्ञाता के अस्तित्व को अनिवार्यतः मानना पड़ता है अतः वह परम सत्य है, लेकिन उस दशा में विश्व दृष्टिगोचर नहीं होता अतएव विश्व परम सत्य नहीं हैं, इसीलिय यह भ्रम मात्र है तो यह एक भूल होगी। क्यों कि विश्व को चेतना से हटा देना तो उस स्थिति की उपलब्धि की शर्त ही है, अतः वहां विश्व दृष्टिगोचर होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जो उस स्थिति की ज्ञान की मौलिक शर्त ही है, वह उस ज्ञान का विषय क्यों कर बनेगी, विशेष कर वह शर्त जो अभावात्मक है (अर्थात जिसके निषेध से उस दशा को पाया जाता है) ? अतः इस आधार पर विश्व को भ्रम कहना भूल है। यही वैसा ही है जैसे कमरे में आने के पूर्व हम जूते उतार देते हैं (मान लें कि कमरे में आने के लिए यह आवश्यक हो) और कमरे में आकर कहें कि जूता असत्य या भ्रम है क्यों कि जिस समय हम कमरे में हैं उस समय वहाँ जूता नहीं है। अतएव शुद्ध चैतन्य दशा को असीम चैतन्य अवस्था मान लेने पर भी हमें विश्व को भ्रम कहने का कोई अधिकार नहीं मिलता। असीम चेतना वाली इस युक्ति की उपरोक्त आलोचना को और भी स्पष्ट एवं तार्किक रूप में रखने के लिए इसे एक द्विविधा के आकार में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है:—

० असीम चेतना विश्व के ज्ञान को स्वयं में समाहित करती है, अथवा असीम चेतना विश्व के ज्ञान को स्वयं में समाहित नहीं करती।

० यदि असीम चेतना विश्व के ज्ञान को स्वयं में समाहित करती है तो वह विश्व के समस्त विषयों का ज्ञान देती है; और यदि असीम चेतना विश्व के ज्ञान को समाहित नहीं करती तो वह विश्व के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं दे सकती है।

० या तो असीम चेतना विश्व के सभी विषयों का ज्ञान देती है या वह विश्व के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं दे सकती।

हम देख चुके हैं कि असीम चेतना विश्व के समस्त विषयों का ज्ञान देती है— यह मत शंकर की अद्वैत दृष्टि से संगति नहीं रखता—(देखें-३ (क्ष))। अतएव यही विकल्प मान्य होगा कि असीम चेतना विश्व के ज्ञान को स्वयं में समाहित नहीं करती है। फलस्वरूप यही निष्कर्ष आता है कि असीम चेतना विश्व के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं दे सकती। इसलिए विश्व को भ्रम भी नहीं कहा जा सकता।

यदि इन प्रश्नों का उत्तर यह कह कर दिया जाय कि तर्क-वितर्क से इन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं, वरन् 'आत्मज्ञान' या सत्य की 'अपरोक्षानुभूति' में ही इन रहस्यों का उद्घाटन होता है, तो स्पष्टतया यह प्रश्नों को टालना ही समझा जाएगा क्यों कि 'अपरोक्षानुभूति' एक निर्विषय दशा है अतः 'क्यों', 'कैसे', क्या' इत्यादि प्रश्नों का समाधान वहाँ हो ही नहीं सकता।

उपरोक्त आलोचना 'जगत् मिथ्या' कथन पर एक प्रश्न चिन्ह लगा देती है और यदि यह अनुत्तरित रह जाती है तो शंकर के अद्वैतवाद पर भी प्रश्न चिन्ह लग जाएगा।

–हिरेन्द्रप्रसाद साह

शोधछात्र
दर्शन विभाग
भागलपुर विश्वविद्यालय
भागलपुर (बिहार)

टिप्पणी

१. 'But certainty and not communicability is the truest test of knowledge and Intnition has this sense of assurence or certainty, and therefore is a species of knowledge.' Radhakrishan, S., 'An Idealist View of Life' (London, George Allen and Unwin), p.145

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संस्कृति के अन्तर्विरोध : भारतीय सन्दर्भ

संस्कृति की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ और व्याख्याएँ की जाती रही हैं और इस बात को लेकर भी काफी विवाद होता रहा है कि उस की प्रक्रिया का निर्धारण किस प्रकार होता है। लेकिन इस सारे विचार-विमर्श में एक बात सामान्य तौर पर उभर कर आती रही है कि उसका सम्बन्ध मूलतः मनुष्य की चेतना के संस्कार से है और सांस्कृतिक विकास का तात्पर्य मानवीय चेतना का विकास ही है। संस्कृति को इतिहास से जोड़कर इसीलिए देखा जाता रहा है कि उस का अध्ययन मनुष्य की चेतना के आज तक के विकास का अध्ययन है और उसी में से उसके भविष्यत् विकास की संभावनाएँ उजागर होती हैं। लेकिन यह अध्ययन भी तभी सांगोपांग माना जा सकता है जब हमें उस लक्ष्य या मंजिल का भी ज्ञान हो जिस ओर यह विकास-यात्रा उन्मुख है क्योंकि यात्रा की मूल प्रेरणा के आधार पर ही यात्रा की प्रक्रिया भी तय होती है। इस का तात्पर्य यही हुआ कि किसी भी संस्कृति की प्रकृति और स्वरूप का निर्धारण वे आदर्श या मूल्य करते हैं जिनकी सिद्धि में ही कोई समाज अपनी सार्थकता स्वीकार करता है। संस्कृति को इसलिए मूल्य-दृष्टि कहा जाता है क्योंकि उन चरम मूल्यों के अर्जन की प्रक्रिया ही सांस्कृतिक प्रक्रिया है।

शायद इसी कारण बहुत से विचारक संस्कृति का दायरा मूल्यों के धारणात्मक स्तर तक ही सीमित रखते हैं और उनके अर्जन की सामाजिक-व्यक्तिगत प्रक्रिया तथा सामान्य उपयोगिता की अन्य बातों को उससे अलग कर देते हैं। इस तरह की उपयोगिता के क्षेत्र को वे सभ्यता के दायरे में रखते हैं और इस प्रकार संस्कृति और सभ्यता के बीच एक विभाजक रेखा खींच देते हैं। ऐसी स्थिति में संस्कृति सिर्फ मानसिक वस्तु रह जाती है और अन्य सारा भौतिक—सामाजिक जीवन सभ्यता के क्षेत्र के अन्तर्गत समझ लिया जाता है। यह विभाजन विश्लेषण की सुविधा के लिए तो एक हद तक उपयोगी हो सकता है, लेकिन इसका आत्यंतिक और प्रक्रियागत महत्व नहीं है। इस विभाजन को आत्यन्तिक मान लेने के भ्रम की वजह से ही इतिहासकार संस्कृति का अध्ययन करते हुए अपने को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धर्म-दर्शन, कला और साहित्य तक ही सीमित रखते हैं और अन्य सारे जीवन को उसके क्षेत्र से बाहर मान लेते हैं। इस प्रकार संस्कृति का क्षेत्र सिर्फ मानसिक व्यापार तक ही सीमित रह जाता है और उस का यथार्थ जीवन से कोई रिश्ता नहीं स्थापित होता। विचार और आचार में एक दुर्निवार असंगति विकसित हो जाती है।

इस भ्रामक दृष्टि का ही यह परिणाम हुआ है कि दुनिया के आततायी साम्राज्यवादी और शोषक समाज भी अपने को सुसंस्कृत और सभ्य मानते रहे हैं। हम केवल अपने को इसलिए सभ्य और संस्कृत नहीं कह सकते कि हमने मनुष्य के दमन और उसके संहार के कुछ ऐसे सूक्ष्म उपाय विकसित कर लिए हैं जो आदिम या जंगली समाज के पास नहीं थे। लेकिन ऐसे समाजों का अपने को सुसंस्कृत मानना भी कोई सचेत ढोंग तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनकी दृष्टि ही भ्रामक रही है– अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि इस भ्रामक दृष्टि से मिलने वाले तात्कालिक भौतिक लाभों ने भ्रम को पहचानने की प्रेरणा नहीं विकसित होने दी। इसी कारण जब कोई साम्राज्यवादी, या सामाजिक अन्याय से ग्रस्त समाज साहित्य और कला का अपने यहाँ विकास होते देखता है और उसके लिए आवश्यक भौतिक सुविधाएँ भी जुटाने में रुचि लेता है तो अपने को सुसंस्कृत मानने में उसे कोई अनौचित्य नहीं दीखता। यंत्र-कौशल्य तथा अन्य उपयोगिता परक ज्ञान और व्यवस्था के विकास की वजह से सभ्य तो वह होता ही है। ऐसे समाजों को यह अन्तर्विरोध समझ में नहीं आता—यदि आता भी है तो एक उपेक्षणीय अल्पसंख्या को ही—कि शोषण, दमन, विस्तारवादी या एकाधिकारवादी प्रवृत्ति और युद्धों के द्वारा उन्होंने उन बुनियादी मानव-मूल्यों और आदर्शों को ही आहत किया है जो उनकी संस्कृति की मूल निर्धारक प्रेरणाएँ हैं और इसलिए ज्ञान-विज्ञान और कला-साहित्य के सारे विकास और आर्थिक सम्पन्नता के बावजूद उनका आचरण वास्तविक अर्थों में सांस्कृतिक आचरण है नहीं, कि जिसे वे संस्कृति या सभ्यता मान कर अपनी उपलब्धियों पर गर्व कर रहे हैं वह कोई जीवित प्रेरणा नहीं बल्कि कृत्रिम सजावट भर रह गयी है। वे नहीं समझ पाते कि संस्कृति जीवंत आचरण है, ड्राइंगरूम, पुस्तकालय या अजायबघरों की सजावट नहीं, कि उनकी मानवीय चेतना के सृजनात्मक विकास की यात्रा पाशविक भटकावों की शिकार हो रही है।

अतः संस्कृति के बारे में किसी भी विचार-विमर्श के पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि संस्कृति केवल मूल्य-दृष्टि ही नहीं, मूल्यनिष्ठा भी है। यह केवल विचार नहीं, विश्वास और आचरण भी है। चेतना के विकास का अर्थ विचार का ही नहीं, अनुभूति का विकास भी है। मनुष्य एक अनुभवशील प्राणी है अतः जब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तक उसके विचार, उसके जीवन-मूल्य उस का दैनंदिन अनुभव नहीं बन जाते तब तक संस्कृति की प्रकिया अधूरी रह जाती और इसलिए अन्तर्विरोध पूर्ण भी हो जाती है। इसलिए संस्कृति व्यवहारतः सभ्यता को, बल्कि पूरे जीवन को ही अपने दायरे में ले लेती है। यदि जीवन किन्हीं मूल्यों की ओर उन्मुख और उन से अनुप्राणित है तो उसके हर पक्ष में उन्ही मूल्यों की अनुप्रेरणा प्रतिबिम्बित होनी चाहिए। संस्कृति सम्पूर्ण जीवन के गुणात्मक उत्कर्ष की प्रक्रिया है। किसी भी जाति की मूल्य-दृष्टि, उसकी आस्थाएँ और विश्वास उस की प्रक्रिया और स्वरूप का निर्धारण करते हैं। इन आस्थाओं और विश्वासों का एक परम या साध्य रूप होता है और दूसरा सापेक्ष और साधनात्मक रूप। आवश्यक यह है कि इन दोनों रूपों में आन्तरिक और जहाँ तक संभव है बाह्य संगति भी हो और साध्य रूप साधनात्मक रूप में भी बराबर प्रतिबिम्बित होता रहे। इसलिए मैं संस्कृति और सभ्यता में प्रक्रियागत या आत्यन्तिक भेद नहीं करता बल्कि स्वयं को उन विचारकों से सहमत पाता हूँ जो सभ्यता को संस्कृति का साधनात्मक रूप मानते हैं। हमारी सामाजिक व्यवस्था और आचरण यदि उन चरम मूल्यों और विश्वासों को प्रतिम्बिबित नहीं करते जो हमारी संस्कृति की केन्द्रीय प्रेरणा हैं तो यही मानना-होगा कि संस्कृति एक समग्र स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकी है — बल्कि वह एक द्विभाजित संस्कृति है जिसका अर्थ होता है कि हमारा मन द्विभाजित मन है, अतः रुग्ण मन है। इस द्विभाजन को ही मैं संस्कृति का अन्तर्विरोध कहता हूँ। भारतीय वेदान्त परम्परा में सत्य की तीन कोटियाँ बताई गयी हैं—पारमार्थिक सत्य, व्यावहारिक सत्य, और प्रातिभासिक सत्य। लेकिन यदि हमारी दृष्टि प्रातिभासिक और व्यवहारिक प्रकार के सत्यों की पृष्ठभूमि में पारमार्थिक सत्य को नहीं देख पाती तो वह निश्चय ही अधूरी या द्विभाजित दृष्टि है। द्विभाजित दृष्टि द्विभाजित संस्कृति का ही विकास कर पाती है।

संस्कृति मूल्य-दृष्टि, मूल्यनिष्ठा होने के साथ-साथ मूल्य को अर्जित करने की प्रक्रिया भी है। अतः इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में विभिन्न भौगोलिक, मानवीय और आर्थिक कारणों से कई बार ऐसे अन्तर्विरोध विकसित हो सकते हैं, लेकिन संस्कृति की जीवंतता या सृजनशीलता का एक लक्ष्य यह भी है कि वह निरन्तर इन अन्तर्विरोधों की पहचान करती रहती है। मनुष्य एक चेतन सत्ता है, अत उसमें यह क्षमता है कि वह इन अन्तर्विरोधों को समझ कर उनके समाहार की दिशा में सचेष्ट हो सकता है। इसके विना संस्कृति सड़ने लगती है और मर जाती है। संस्कृति जीवंत होती है, जीवाश्म नहीं। यदि आज हम अपनी बीमारी को समझने की कोशिश कर रहे हैं तो यह हमारी स्वास्थ्य चेष्टा का, हमारी जीवेषणा का एक प्रमाण है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किसी भी संस्कृति के केन्द्रीय प्रेरक तत्त्व या मूलभाव की पहचान का एक स्रोत उसकी सृष्टि-परिकल्पना है। आदिम स्तर से लेकर सभ्यतम स्तर तक विभिन्न समाजों में जगत् की सृष्टि को लेकर अपनी अलग-अलग परिकल्पनाएँ विकसित हुई हैं और उन समाजों की जीवन-दृष्टि और जीवनयापन की पद्धति पर इन परिकल्पनाओं का निर्धारक प्रभाव रहता है। सृष्टि किस उद्देश्य से रची गयी है ? इस प्रश्न का उत्तर ही यह तय करता है कि मनुष्य के जीवन का प्रयोजन क्या है और उसे अपना जीवन कैसे जीना चाहिए। सृष्टि-रचना का उद्देश्य ही निजी स्तर पर व्यक्ति और सामुदायिक स्तर पर पूरे सामाजिक जीवन का उद्देश्य बन जाता है क्योंकि उसी उद्देश्य और प्रक्रिया के साथ अपने को जोड़ दे कर वह किसी दैवी उद्देश्य अथवा बृहत्तर जीवन और उसकी प्रक्रिया से अपने को जोड़ देता है। आधुनिक विचारधाराओं में भी तो इतिहास की प्रक्रिया व दिशा को पहचान कर अपने को उसके साथ कर देना ही वैज्ञानिक जीवन–पद्धति और प्रगतिशीलता माना गया है। इसी प्रकार परम्परागत समाजों में सृष्टि की परिकल्पना में निहित उद्देश्य के साथ अपने को निष्ठा पूर्वक एवं आचरणगत स्तर पर जोड़ देना ही जीवन के वास्तविक उद्देश्य की उपलब्धि की ओर उन्मुख होना माना जाता था। जब हम यह जान लेते हैं कि यह संसार, यह जीवन किस प्रयोजन से अस्तित्व में आया, तब हम यह भी जान लेते है कि क्या करने में हमारे अस्तित्व की सार्थकता है और तब यह आवश्यक हो जाता है कि न केवल हमारा व्यक्तिगत जीवन बल्कि सामाजिक-आर्थिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं की संगति भी इस मूल केन्द्रीय भाव या चरम मूल्य से हो। वही व्यवस्था वास्तविक अर्थों में सार्थक कही जा सकती है जो हमारे इस प्रकार निर्दिष्ट मूल उद्देश्य की सिद्धि के लिए उचित वातावरण एवं सुविधाएँ प्रदान करे और विचार एवं प्रक्रिया के हर स्तर पर उस में सहायक हो। यही चरम मूल्य और सापेक्ष मूल्य की संगति, संस्कृति और सभ्यता की एकान्विति और व्यावहारिक सत्य में पारमार्थिक सत्य का प्रतिबिम्बन है।

भारतीय समाज में व्यापक स्तर पर स्वीकृत निर्गुण ब्रह्मवादी और सगुण-ईश्वरवादी दोनों ही प्रकार की सृष्टि की परिकल्पनाओं में यह स्पष्ट है कि सृष्टि एक परम चेतना का सृजन है और यह सृजन उस ने अपने को जानने के आनन्द के प्रयोजन से किया है। परम चेतना निर्वैयक्तिक रूप में ब्राह्म अथवा ब्रह्म कही गयी है और वैयक्तिक रूप में ईश्वर। ईश्वरवादी परिकल्पना में सृष्टि ईश्वर की लीला है जिस के माध्यम से वह अपने अस्तित्व के अनुभव का आनन्द लेता है। इस परिकल्पना को मान लेने पर मानवी जीवन का उद्देश्य यही हो जाता है कि वह जीवन को इसी लीलाभाव से ले क्योंकि तभी वह ईश्वर के उद्देश्य में सहायक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो सकता है। सब कुछ ईश्वर द्वारा रचा गया है अतः सब कुछ बाह्य रूप से भिन्न होने पर भी एक ही ईश्वरीय तत्त्व से अनुप्राणित है। अपने में निहित इस ईश्वरीय तत्त्व की अनुभूति ही जीवन का उद्देश्य है, यही अपने को जानने का आनन्द है जिसके लिए यह लीला रची गयी है।

इसी तरह निर्गुण ब्रह्मवादी विचारधारा में सृष्टि को अव्यक्त परम चेतना की अभिव्यक्ति माना गया है। इसी परिकल्पना का पूर्ण विकास वेदान्त की अद्वैत-वादी चिन्ता धारा में हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार परम सत्ता का यह स्वभाव है कि वह अपने को भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त करती रहती है। अतः मनुष्य और समूची सृष्टि इसी परम चेतना या ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। इसीलिए सभी आत्माओं और परमात्मा में तात्त्विक एकता है क्योंकि आत्मा परमात्मा का ही अंश है। इस कारण सृष्टि रचना का जो उद्देश्य परम सत्ता या चेतना का है वही व्यक्ति में निहित आत्मा का हो जाता है। ब्रह्म स्वयं के वास्तविक दर्शन के लिए अपने को जगत् के रूप में अभिव्यक्त करता है। आत्माभिव्यक्ति का उद्देश्य आत्मान्वेषण और आत्मानुभूति है। यह ब्रह्म का सहज स्वभाव है।

इसलिए इन सृष्टि–परिकल्पनाओं के आधार पर यह आत्मानुभूति ही भार-तीय संस्कृति का मूल प्रेरक भाव है : आत्मा का अन्वेषण और उसके बोध का, अनुभूति का आनन्द। आत्मा कर्म-प्रवृत्ति के माध्यम से जीवन में प्रवृत्त होती है और अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान न होने पर अज्ञान के अन्धकार में भटकती रहती है। आत्मा का वास्तविक बोध अर्थात् अद्वैत की अनुभूति ही मोक्ष या मुक्ति की स्थिति है जिसे चरम पुरुषार्थ अर्थात् जीवन का चरम मूल्य माना गया है। ऐसा लगता है कि चार पुरुषार्थों में अर्थ और काम व्यावहारिक सत्य है तथा मोक्ष पारमार्थिक सत्य, धर्म इन को अंतःग्रंथित करनेवाला सूत्र या प्रक्रिया है। उसी के कारण यह संभव हो पाता है कि पार्थिव का अस्वीकार न करते हुए उसे ही परम आध्यात्मिक उपलब्धि के साधन के रूप में विकसित किया जा सके। इसीलिए इस संसार को ही आध्यात्मिक मुक्ति का स्थान माना है : मोक्षायते संसारः। स्वयं शंकराचार्य का कथन है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया का लक्ष्य आध्यात्मिक अनुभव अवगति ही है : जगतः सर्वाप्रवृत्तिः...अवगतिनिष्ठा, अवगत्यवसानैव। इसीलिए वैशेषिक सूत्रों में धर्म उसी को कहा गया है जिससे अभ्युदय और निश्रेयस् दोनों की प्राप्ति होती है : यतो अभ्युदयनिश्रेयसिद्धिः स धर्मः।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में मानव जीवन का चरम मूल्य आत्म के वास्तविक स्वरूप का बोध–आत्मानं विद्धि–स्वीकार किया गया और इसी के इर्द गिर्द संस्कृति के स्वरूप, संगठन और प्रक्रिया का विकास हुआ। आत्म की प्राप्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का चरम मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया और सारी समाज व्यवस्था को इस तरह विकसित करने की कोशिश की गई कि वह इस चरम मूल्य की सिद्धि में हर स्तर पर सहायक हो सके। इसीलिए भारतीय परम्परा में व्यवस्था को भी धर्म कहा गया। जिस प्रकार ऋत सम्पूर्ण सृष्टि का आधार माना गया इसी प्रकार धर्म सम्पूर्ण समाज रचना का। प्राचीन साहित्य में मूल्य और संस्कृति की चर्चा नहीं है, वहाँ सदैव धर्म की बात की गई है यद्यपि उस का तात्पर्य सदा वही है बल्कि उससे भी कुछ बृहत्तर है जो हम आज संस्कृति या मूल्य का मानते हैं। धर्म-दृष्टि या धर्म-निष्ठा का वही अर्थ और महत्त्व है जो आज की भाषा में मूल्य-दृष्टि या मूल्य-निष्ठा का है– धर्म का अर्थ किसी पंथ या सम्प्रदाय से नहीं बल्कि एक जीवन-दर्शन और जीवन-प्रक्रिया से है।

आप सोच रहे हो सकते हैं कि यहाँ तक के विश्लेषण में तो किसी तरह के सांस्कृतिक अन्तर्विरोध की बात ही नहीं है, बल्कि इस विवेचन के द्वारा तो एक बुनियादी ऐक्य पर ही अधिक बल दिया गया है। अधिक से अधिक आपत्ति किसी को हो सकती है तो यही कि वह आत्म के बोध को–और स्मरण रहे कि स्वतंत्रता उसी का सामाजिक प्रतिबिम्ब है—एक चरम मूल्य के रूप में मानने को तैयार न हो। किसी को भी ऐसा सोचने और उसके अनुरूप आचरण करने का अधिकार है लेकिन इससे यह तथ्य नहीं झुठलाया जा सकता कि जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं उसका मूल प्रेरक भाव यही रहा। यह भाव आज भी प्रासंगिक है या नहीं, यह एक अलग चर्चा का विषय हो सकता है। अभी तो हमारे लिए यह देखना जरूरी है कि जिस मूल्य को भारतीय संस्कृति या धर्म की केन्द्रीय प्रेरणा के रूप स्वीकार किया गया, उनके अनुरूप संस्कृति के समग्र स्वरूप का, उसके विभिन्न उपादानों का, उसके साधनात्मक स्वरूप का विकास हुआ या नहीं। अर्थात् हमें यह देखना होगा कि किस हद तक भारतीय समाज व्यवस्था में वैयक्तिक और सामाजिक जीवन इसी मूल प्रेरणा के अनुरूप विकसित हो सका अथवा उस में और मूल प्रेरणा में साधनात्मक मूल्य और चरम मूल्य में, व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य में कोई विपर्ययोन्मुख द्विभाजन तो नहीं हो गया।

मेरी समस्या यहीं से शुरू होती है। "सत्य सत्य नहीं है, यदि वह अपने समस्त विधान में विशुद्ध आत्मचेतना के संकेतों की अभिव्यक्ति न करे।" भारतीय संस्कृति की इस केन्द्रीय प्रेरणा—आत्मान्वेषण, आत्मानुभूति और आत्मसृजन से पूर्ण सहमत होते हुए भी मैं उन सामाजिक विश्वासों और व्यवस्थाओं से सहमत नहीं हो पाता हूँ जिनका विकास उपरिनिर्दिष्ट उद्देश्य की सिद्धि के प्रयोजन से किया गया। मुझे भारतीय संस्कृति के साध्य रूप और साधनात्मक रूप के बीच तक गहरा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्तर्विरोध दीखता है जैसे दोनों एक केन्द्र से नहीं निसृत होते या मिलते बल्कि दो अलग केन्द्रों से समान्तर रेखाओं की तरह चलते हैं।

यह बहुत विचित्र लगता है कि जिस संस्कृति या धर्म ने पारमार्थिक सत्य या चरम मूल्य के रूप में अद्वैत की अनुभूति को—क्योंकि वही विशुद्ध आत्मा की वास्तविक अनुभूति है—प्रतिष्ठा दी, उसी ने व्यावहारिक सत्य या साधनात्मक मूल्य के रूप में वर्ण व्यवस्था जैसी स्तरभेदवादी व्यवस्था को जन्म दिया। व्यावहारिक सत्य के रूप में धर्म का एक रूप न केवल वर्णधर्म के रूप में स्वीकार किया गया बल्कि उसे सनातन व्यवस्था माना गया क्योंकि वह व्यावहारिक स्तर पर पारमार्थिक सत्य की अभिव्यक्ति की तरह मान्य था। वर्ण का आधार वह तात्त्विक ऐक्य नहीं है जो अद्वैत का आधार है। वर्ण को सनातन और अनिवार्य मानना अनिवार्यतः एक मतभेद और उच्चावचक्रम को मान्यता देना है। यदि अद्वैत समाज का चरम मूल्य है तो सामाजिक व्यवस्था में भी उस का प्रतिम्बिवित होना अनिवार्य है। लेकिन वर्णधर्म का जो रूप समाज में विकसित हुआ वह इस मूल दृष्टि का सामाजिक स्तर पर प्रत्याख्यान करता है। कुछ लोग वर्ण की मनोवैज्ञानिक, समाजवैज्ञानिक और अध्यात्मिक व्याख्याएँ करते हैं। मैं उन सब मोहक व्याख्याओं से परिचित हूँ लेकिन यह एक ऐतिहासिक तथ्य है और आज के समाज में भी स्वतः प्रमाणित है कि वर्ण का निर्धारण अन्ततः किन्हीं गुणों या कर्म के आधार पर नहीं बल्कि जन्म के आधार पर आ टिका। डॉ. राधाकृष्णन् जैसे वर्ण व्यवस्था के व्याख्याता भी यह स्वीकार करते हैं कि ब्राह्मण ग्रंथों के काल से ही वर्ण के निर्धारण के लिए जन्म को ही योग्यता माना जाने लगा था।

बौद्ध और जैनधर्म द्वारा वर्ण व्यवस्था के विरोध का परिणाम यह हुआ कि यह प्रणाली और संकुचित हो गई। मनुस्मृति में जहाँ विभिन्न वर्णों के कर्मों को रूढ़ि की तरह निश्चित कर दिया गया, वहीं ब्राह्मणों की तुलना में अन्य वर्णों के प्रति हेयता की भावना व्यक्त की गयी और शूद्रों के लिए तो स्पष्ट ही तिरस्कार पूर्ण शब्दावली का प्रयोग किया गया। एक ही अपराध के लिए ब्राह्मणों का दण्ड मृदु और अन्य वर्णों का क्रमशः कठोरतर रखा गया। स्वयं को मानववादी कहने वाली और जीवन मात्र के प्रति करुणा और प्रेम का भाव पुष्ट करनेवाली हिन्दू समाज व्यवस्था में शूद्र वर्ण की उपेक्षा और उनके जीवन को सस्ता समझना बहुत अमानवीय लगता है। याज्ञवल्क्य (३।२३६) एवं मनु (११।६६) में ब्राह्मण की हत्या को महापातक कहा है जब कि स्त्री, शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय को मार डालना उपपातक माना है, और उसके लिए जो प्रायश्चित्त एवं दण्ड की व्यवस्था बतायी गयी है, उससे स्पष्ट है कि शूद्र जीवन का महत्व बिल्कुल ही नगण्य सा था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्षत्रिय को मारने पर प्रायश्चित्त था छः वर्ष का ब्रह्मचर्य, १००० गायों एवं एक बैल का दान। वैश्य को मारने पर तीन वर्ष का ब्रह्मचर्य, १०० गायों एवं एक बैल का दान था, किन्तु शूद्र को मारने पर प्रायश्चित था केवल एक वर्ष का ब्रह्मचर्य एवं १० गायों और एक बैल का दान। यही बात गौतम (२२।१४-३६) मनु (११।१२६-३०) एवं याज्ञवल्क्य (३।२६६-६७) में भी पायी गयी है। आपस्तम्ब (१।९।२५।१४ एवं १।९।२६।१) ने तो यहाँ तक कहा है कि शूद्र को मार डालने पर इतना ही पातक लगता है जितना कि एक कौवा, गिरगिट, मोर, चक्रवाक, मराल, मेंढ़क, नेवला, कुत्ता आदि को मार डालने से होता है। (मनु. ११।१३१) स्तर के अनुसार प्रत्येक कर्म में इसी प्रकार का भेद किया गया है।

यह आश्चर्यजनक लगता है कि शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य जैसे महान् अद्वैतवादी दार्शनिकों के काल में वर्ण व्यवस्था एक कठोरतम जाति व्यवस्था के रूप में विकसित हो गई थी। अरब यात्री अलबरूनी ने तत्कालीन भारतीय समाज की कठोरता और जड़ता का आँखें खोल देनेवाला वर्णन किया है। अधिक दुःखपूर्ण यह था कि इन महान् अद्वैतवादियों ने भी 'जन्म' और 'रक्त' पर आधारित वर्ण व्यवस्था को न केवल किसी प्रकार की चुनौती नहीं दी बल्कि उसे अपना पूरा समर्थन दिया! ऐसा क्यों है? सामाजिक स्तर पर इस तरह के विभाजन के द्वारा हम किस तरह के अद्वैत की पुष्टि करते हैं? यदि अद्वैत हमारा लक्ष्य है तो इस तरह के भेद पर आत्यन्तिक जोर क्यों है? यह स्मरणीय है कि यह भेद केवल सामाजिक कर्म का नहीं बल्कि आत्यन्तिक भेद है क्योंकि वर्ण धर्म के उच्चावचक्रम में ब्राह्मण को सर्वोत्तम और शूद्र को निम्नतम बताया गया है बल्कि शूद्र का तो एक मात्र कर्तव्य ही यह है कि वह अन्य तीन वर्णों की सेवा करे।

कुछ विद्वानों के अनुसार वर्ण व्यवस्था बाह्य स्तर पर तो समानता या अद्वैत की भावना से अलग दीख सकती है लेकिन वस्तुतः उसकी एक आन्तरिक संगति है क्योंकि वह कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों पर आधारित है। आत्मा नित्य है जो देहान्तर के द्वारा पुनर्जन्म लेती रहती है और उसके वर्तमान जन्म का निर्धारण उसके पूर्वजन्म के अनुसार होता है। यह सिद्धान्त निश्चय ही आध्यात्मिक चिन्तन के क्षेत्र में मानवीय स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को गौरव देता है क्योंकि यह मनुष्य को कर्म की स्वतंत्रता प्रदान करता और उसे अपनी नियति का नियंता बना देता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर यह स्पष्ट किया जाता है कि मनुष्य के इस जन्म का वर्ण उसके पूर्वजन्म के आधार पर निर्धारित है, अतः वह सामाजिक न्याय का उल्लंघन नहीं है। लेकिन यह बहुत अजीब लगता है कि इस प्रकार कर्म-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को मान्यता देते हुए भी न केवल प्रत्येक वर्ण का कर्म बिल्कुल निश्चित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर दिया गया है बल्कि उसका उल्लंघन करने पर तत्काल सामाजिक दंड की भी व्यवस्था है। यदि उसे अपने कर्म का फल स्वयं भावी जन्म में भुगतना है तो उस का दंड या उसे पूरा करने के लिए सामाजिक उत्पीड़न इसी जन्म में क्यों? समाज को उसे दंड देने के अधिकार को नैतिक औचित्य किस प्रकार मिलता है और किस आधार पर समाज किसी व्यक्ति को उस के जन्म के आधार पर कोई निश्चित कर्म करने पर बाध्य कर सकता है? यदि यह आधार आध्यात्मिक है तो उसका दंड भी आध्यात्मिक स्तर पर मिलेगा ही। फिर इसी जन्म में सामाजिक स्तर पर उसके साथ दंडपूर्ण व्यवहार क्यों? और यदि यही व्यवहार उसके लिए उचित है और उससे बलात् अपना निहित कर्म करवाया जाना चाहिए तो फिर कर्म की स्वतंत्रता के सिद्धान्त का क्या होगा क्योंकि उसके बिना कर्मफल के न्याय का कोई नैतिक औचित्य नहीं है?

कर्म के आधार पुनर्जन्म में वर्ण-निर्धारण का सिद्धान्त यदि ठीक है तो यह भी स्पष्ट है कि फिर उच्चतम वर्ण में पहुँचे बिना मुक्ति नहीं मिलनी चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं है और कोई भी व्यक्ति किसी भी वर्ण में रहते हुए मोक्षलाभ कर सकता है। ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमें निम्न वर्ण के व्यक्ति को भी मोक्षलाभ हुआ है। इससे दो बातें ध्वनित होती हैं। एक तो यह कि वर्ण कोई आध्यात्मिक स्तर नहीं है, वह केवल सामाजिक स्तर है और दूसरे यह भी कि फिर चरम मूल्य की सिद्धि के लिए वर्ण कोई अनिवार्यता नहीं है। इसी के साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यदि वैदिक विधि के बिना भी चरम लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है—क्योंकि शूद्र वर्ण का व्यक्ति वैदिक कर्मकाण्ड के बिना भी चरम पुरुषार्थ तक पहुँच सकता है—तो वैदिक विधि विधाम चरम मूल्य तक पहुँचने का एक मात्र ज़रिया नहीं है और इसलिए उनका पालन न करना अनिवार्यतः आध्यात्मिक स्तर से च्युत होना नहीं है। यदि वेद-विहित कर्म ही मोक्षलाभ का एक मात्र साधन नहीं तो वेदविरुद्ध होना या अवैदिक होना कोई भयंकर दोष या अपराध नहीं समझा जाना चाहिए जैसा कि समझा जाता रहा है। समाज में केवल वेद-विहित कर्म से अलग होना दोष माना गया बल्कि शंकराचार्य जैसे प्रकांड बौद्धिक व्यक्तित्व ने भी श्रुति को ही अन्तिम प्रमाण की प्रतिष्ठा दी।

यह भी अज़ीब लगता है कि जहाँ एक ओर वास्तविक "आत्म" की पहचान पर सर्वाधिक बल दिया गया, वहीं दूसरी ओर "आत्मा" को वर्ण से इस तरह घेरा गया कि उसे तोड़ना एक दुष्कर कार्य हो गया। दैनंदिन कर्म में वर्ण का आग्रह इतना प्रबल किया गया कि व्यक्ति की पहचान का एक प्रभुत्वरूप वर्ण बन गया। "स्व" को वर्ण से किस तरह एक कर दिया गया इसका अनुमान इसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से लगाया जा सकता है कि 'स्वधर्म' भी 'वर्णधर्म' ही हो गया। इसी के साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि यदि किसी भी कर्म--व्याधकर्म या ऐसे ही शूद्रकर्म--का पालन करते हुए मोक्ष लाभ हो सकता है तो यह समझ में नहीं आता कि शारीरिक श्रम पर आधारित कर्म को निम्न स्तर का क्यों समझा गया है? शारीरिक श्रम या सेवा शूद्र वर्ग का कार्य है और इसीलिए उसे निम्नतम स्थान दिया गया है। यदि शूद्र-कर्म आध्यात्मिक उपलब्धि के मार्ग में बाधक नहीं है और वह भी आत्मज्ञान का एक साधन हो सकता है तो उसे हेय समझने और उसके प्रति तिरस्कार की भावना रखने को संगत नहीं माना जा सकता। वर्णधर्म के नाप पर यह सारी व्यवस्था उसी धर्म के अन्तर्गत की गयी है जो अद्वैत में आस्था प्रकट करता है। यह तो हो सकता है कि वैयक्तिक दुर्बलताओं की वजह से हम आदर्शों का पालन ठीक तरह से न कर पाएँ लेकिन हमारे दार्शनिक विश्वासों और घोषित समाजिक मान्यताओं के बीच भी यदि कोई संगति न मिले तो उसे दृष्टि का अन्तर्विरोध ही कहना होगा। ऐसा क्यों हुआ, इसके कारणों की खोज तो आवश्यक है ही पर यह भी आवश्यक है कि इस असंगति को दूर करने की ओर सचेष्ट हुआ जाए क्यों कि चरम मूल्य और उस की सिद्धि के लिए विकसित प्रक्रिया में जब तक संगति नहीं होगी तब तक समाज का विकास भी द्विभाजित ही रहेगा। चरम मूल्य और साधनात्मक मूल्य के बीच निरन्तर बढ़ती हुई यह दरार पूरे समाज को, समाज के प्रत्येक सदस्य के व्यक्तित्व में एक द्विभाजन विकासित कर देगी। ऐसा द्विभाजित व्यक्तित्व--व्यक्ति का हो या समाज का--किसी अद्वैत की साधना नहीं कर सकता। बल्कि व्यक्तित्व का यह द्विभाजन सिर्फ वर्ण के स्तर पर ही नहीं सभी स्तरों पर अभिव्यक्ति पाने लगता है।

यह वर्ण धर्म का ही प्रभाव मानना चाहिए कि भारतीय समाज में कर्म या आचरण की स्वतंत्रता जैसी मानवीय धारणा का व्यावहारिक स्तर पर प्रयोग नहीं किया जा सका। स्वतंत्रता का आशय केवल विचार या विश्वास की ही स्वतंत्रता रहा। यह भी विचित्र लगता है कि विचारों और विश्वासों के दमन की कोशिश नहीं की गई और विरोधी विचार रखनेवालों के प्रति भी पूर्ण सम्मान प्रदर्शित किया गया। लेकिन कर्म या आचरण में किसी तरह की स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं किया गया। ईश्वर में आस्था न रखने वाले या वेदविचार का वैचारिक विरोध करने वाले लोग समाज के प्रतिष्ठित सदस्य बने रह सकते थे लेकिन विवाह, खान-पान और संस्कारों तथा सामाजिक आचार व्यवहार में उन्हें भी निर्दिष्ट विधि का ही पालन करना पड़ता था। विश्वास की स्वतंत्रता थी पर आचार की स्वतंत्रता सामाजिक बहिष्कार का कारण बन सकती थी--बल्कि यदि असावधानीवश या बलात् आचार च्युति हो गई हो तो वह भी दाम्य नहीं थी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सैद्धान्तिक दृष्टि से आज भी वही सही है यद्यपि अन्य सामाजिक-आर्थिक जटिलताओं के कारण इस ओर कुछ शिथिल समाधि होने लगी है। अन्यथा आचरण की स्वतंत्रता का तात्पर्य वर्णच्युति माना जा कर ऐसे व्यक्तियों के सामाजिक बहिष्कार को —जो एक बड़ा दंड था—–ही एकमात्र उपाय माना गया। इस बात की ओर किसी का ध्यान नहीं गया कि इस प्रकार कर्म या आचरण की उसी स्वतंत्रता को बाधित किया गया है जिसे सैद्धान्तिक स्वीकृति दी गयी थी। साथ ही इस बात की भी अनदेखी की गयी कि विश्वास और आचरण में भेद व्यक्तित्व को खंडित करता है और व्यक्तित्व उस मूल्य को प्राप्त करने के मार्ग में बाधा है जिसे संस्कृति में जीवन का चरम उद्देश्य माना गया है। हमें देखना चाहिए की विश्वास और आचरण के इस द्वैध ने भारतीय मानस को किस हद तक द्विभाजित किया है और किस तक बहुत सी सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक असंगतियाँ इसी द्विभाजन का परिणाम कह जा सकती हैं।

वर्णधर्म की इस अनमनीयता का एक असर यह भी हुआ कि परम्परागत भारतीय समाज व्यवस्था और इस्लाम के बीच एक अलगाव बना रहा। ऐसा लगता है कि यदि भारतीय समाज ने वर्ण की कठोरता न विकसित की होती तो अद्वैत वेदान्त और सूफी दर्शन की समानताएँ दोनों समाजों के बिच एक सार्थक और व्यापक स्तर पर प्रभावी समन्वय स्थापित कर सकती थीं और तब कुछ आवश्यक सामाजिक भेद अधिक महत्वपूर्ण नहीं रह जाते। किसी ऐसी जाति की कल्पना मुश्किल है कि सम्पूर्ण जगत् में तात्त्विक ऐक्य तथा केवल अभिव्यक्तिगत भिन्नता मानते हुए भी दूसरे मनुष्य और समाजों को इतना अलग माना जाए कि उनकी छाया अथवा छूने मात्रा से खान–पान की वस्तुएँ ही नहीं मनुष्य तक भी अपवित्र हो जाएँ। लेकिन यह दुर्घटना भारतीय समाज का एक तथ्य रही और काफी हद तक आज भी बनी हुई है। अद्वैत में आस्था रखनेवाले समाज ने मध्य-काल तक आते-आते न केवल अन्य धर्मावलम्बियों के साथ खान-पान और सामाजिक सम्बन्धों का निषेध किया बल्कि स्वयं अपने में भी ऐसी दरारें पैदा कर दीं जो आज तक समाज की प्रमुख विसंगति बनी हुई है। हिन्दुत्व और इस्लाम का सम्पर्क भारत में एक ऐतिहासिक अनिवार्यता हो गया लेकिन इस सम्पर्क के जितने व्यापक प्रभाव हो सकते थे वे कम हुए। इस्लाम की उपासना पद्धति से––बल्कि किसी भी उपासना पद्धति से––भारतीय परम्परा का कोई बुनियादी विरोध नहीं था लेकिन अन्य कारणों के साथ साथ जिन में इस्लामी समाज की अपनी भूमिका भी महत्व-पूर्ण थी– वर्ण की उद्धारता के आग्रह ने दोनों समाजों को एक करने में कई बधाएँ उपस्थित कीं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसा नहीं है कि मूल प्रवृत्ति के अनुकूल प्रयत्न नहीं हुए। निर्गुणपंथ और वैष्णव सन्तों ने वर्ण और सम्प्रदाय के भेद को महत्वपूर्ण न मानते हुए मानवी जीवन की तात्त्विक एकता पर बल दिया। लेकिन अल्प समय ही में वैष्णव सम्प्रदाय ने व्यावहारिक स्तर पर वर्ण भेद को स्वीकार कर लिया और उसके अनुयायी अपने सामाजिक जीवन में वर्ण और जाति के सभी सामाजिक भेदों को स्वीकार करते रहे। कबीर और दादू जैसे सन्तों का असर समाज के निम्न वर्णपर ही अधिक रहा। इस पृष्ठभूमि में यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि सवर्ण भारतीय समाज ने कबीर की बजाय तुलसीदास को क्यों अपने अधिक निकट महसूस किया।

प्रश्न उठता है कि यह अनमनीय वर्णधर्म और इस के साथ जुड़ा सामाजिक स्तरभेद तथा निम्न वर्ण और उसके लिए निहित कर्म के प्रति तिरस्कार और उसे मूल्यहीन समझने की भावना, अन्य धर्मावलम्बियों को अपने से हीन मानना तथा सैद्धान्तिक स्तर पर कर्म की पूर्ण स्वतन्त्रता स्वीकार करते हुए सभी प्रकार के सामाजिक-धार्मिक कर्मों को करणीय कर्तव्यों की तरह नहीं बल्कि सामाजिक बंधन की तरह प्रत्येक व्यक्ति पर आरोपित कर देना क्या मूल दृष्टि या चरम मूल्य का विपर्यय नहीं है। आश्चर्य है कि गांधी जैसे क्रान्तदर्शी विचारक भी वर्ण व्यवस्था को जन्म पर आधारित और पूर्व निर्दिष्ट कर्तव्य व्यवस्था के रूप में स्वीकार करते हैं।

कुछ विद्वानों ने वर्णधर्म की समाज-वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए उसे सामाजिक श्रम विभाजन की प्रणाली वताया है। लेकिन यदि ऐसा ही होता तो इस श्रम विभाजन को जन्म और रक्त आधारित करने की आवश्यकता नहीं होती बल्कि इस का आधार व्यक्ति की निजी प्रवृत्तियाँ होतीं। तब यह श्रम विभाजन सनातन और आत्यन्तिक नहीं होता। धर्मव्याध ब्राह्मण को कहता है : जिस कर्म के लिए सृजनकर्ता ने मुझे जन्म दिया है, मैं उसमें रत हूँ। ..मैंने अपना जीवन अपने उच्चवर्णों के लोगों के लिए अर्पित कर दिया है...मेरा वर्तमान कर्म पूर्वजन्म के पापों और कर्मों का परिणाम है...महान् गौरव उसे ही मिलता है जो अपने वर्णधर्म में रत रहता है।" यह विश्लेषण सुन कर ब्राह्मण यह सोचता है कि अपनी वर्णधर्म परायणता के कारण यह धर्मव्याध शूद्र नहीं बल्कि ब्राह्मण है। लेकिन यह सोचना बिल्कुल भावनात्मक है और इसका आधार वर्णधर्म का समर्थन है। ऐसा सोचने से धर्मव्याध ब्राह्मण नहीं हो जाता बल्कि शूद्र के लिए निहित उसी कर्म का पालन करता रहता है जिसको किसी भी स्थिति में करने पर ब्राह्मण पर सख्त निषेध लगाये गये हैं। यदि वर्ण का आधार एक सुनियोजित सामाजिक व्यवस्था के लिए श्रम विभाजन ही होता तो एक वर्ण को निम्न मानते हुए उस के कर्म के प्रति तिरस्कार और निन्दा की भावना नहीं होती बल्कि श्रम की प्रतिष्ठा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की जाती और न शूद्र वर्ण को वैदिक स्वाध्याय और कर्मों से ही वंचित किया जाता जबकि कहीं-कहीं तो व्यवस्था की गयी है कि यदि भूल से भी वेदवाक्य शूद्र के कानों में पड़ जाय तो उस का दंड है उसके कानों में पिघला हुआ शीशा भरवा देना।

विद्वानों का यही वर्ग कभी-कभी वर्ण विभाजन को गुणों के आधार पर किये गये अधिकारी भेद का परिणाम मानता है। लेकिन यह मान्यता भी तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। यदि ऐसा होता तो प्रतिलोम विवाहों को अनुचित नहीं माना गया होता और न वर्ण-संकरता का विचार ही विकसित होता। वर्ण-संकरता का विचार ही जन्म के आधार पर वर्ण विभाजन के सिद्धान्त से उपजा है। यदि अधिकारी भेद किसी तरह की आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए है तो इसे आत्यन्तिक नहीं माना जा सकता। अलग साधनों से ही सही निम्न वर्ण का व्यक्ति भी चरम मूल्य तक पहुंच सकता है और उच्च वर्ण होने का तात्पर्य मुक्ति के अधिक नजदीक होना नहीं है। इसी तरह वैदिक कर्मकांड और तपस्या के विना भी मोक्ष-लाभ हो सकता है। ऐसी स्थिति में वर्णाश्रित अधिकारी भेद का कोई आत्यन्तिक या सनातन महत्त्व नहीं रह जाता।

इसलिए यह एक ऐतिहासिक विसंगति ही लगती है कि आध्यात्मिक स्तर पर अद्वैत और सामाजिक स्तर पर "वसुधैवकुटुम्बकम्" के प्रति आस्था घोषित करनेवाली संस्कृति व्यावहारिक सत्य या सामाजिक आचार-विश्वास के स्तर पर इतने द्वैत, भेद और संकीर्णता रखे। उन प्रवृत्तियों और परिस्थितियों का सांगोपांग अन्वेषण जरूरी है जिन की वजह से इस तरह के अन्तर्विरोध विकसित हुए।

इसमें कोई सन्देह नहीं—कम से कम मुझे तो नहीं—कि चरम मूल्य के रूप में भारतीय संस्कृति ने जिस अद्वैत के विचार को, वास्तविक आत्म की अनुभूति को केन्द्र में रखा उसे आधार बना कर एक ऐसी समाज व्यवस्था विकसित की जा सकती थी, जा सकती है जो व्यावहारिक स्तर पर किसी भी तरह के शोषण, उत्पीड़न और सामाजिक अन्याय का प्रतिकार करती और पारस्परिक तात्त्विक आकर्षण का अनुभव करने वाले समत्तामूलक समाज की स्थापना में सहयोगी होती। पार्थिव और दिव्य के बुनियादी द्वन्द्व का समाचार करने में जो अद्वैतवादी दृष्टि सफल हुई हो उसमें सामाजिक द्वन्द्वों के समाहार का रास्ता भी तलाशा जा सकता है। अद्वैत की इस अनुभूति के बिना प्रेम, करुणा, अहिंसा, समानता और न्याय अधिक से अधिक केवल नैतिक धारणाएँ रह जाते हैं, मनुष्य की सहज प्रवृत्तियाँ नहीं बनते। यदि इस मूल दृष्टि को हर संभव सीमा तक व्यावहारिक स्तर पर विकसित नहीं किया जाता तो भारतीय समाज का ही नहीं बल्कि वैश्विक मानव समाज का विभाजन तीव्र होता जायेगा जिसका आवश्यक परिणाम होगा विघटन,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिंसा और विनाश अर्थात् संस्कृति पर विकृति की, मानवीयता पर पाशविकता की विजय। मैं डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के इन शब्दों के साथ अपनी बात पूरी करना चाहता हूँ : " सच्ची प्रगति वृक्ष के विकास की भांति एक सजीव प्रक्रिया है। हमें निष्प्राण लकड़ी को काट देना होगा और निस्तेज अतीत को भी भरे फेंक देना होगा। हम अतीत में इतनी बार बदलते रहे हैं कि केवल परिवर्तन भर से धर्म की आत्मा अव्यवस्थित नहीं हो जायेगी। हमारी कुछ संस्थाएँ सामाजिक न्याय और आर्थिक कल्याण के मार्ग में दुर्जय बाधाएँ बन गयी हैं और हमें इन बाधाओं को हटाने के लिए प्रयास करने होंगे, अंधविश्वास को बनाये रखनेवाली शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करना होगा और लोगों के मनों को नया रूप देना होगा। इन दिनों जबकि जीवन की गति तीव्रतर हो रही है, ज्ञान बढ़ रहा है और आकांक्षाएँ विस्तार पा रही हैं, हमें परिवर्तन करने ही होंगे; अन्यथा इस का तात्पर्य यह होगा कि हम सृजन की भावना खो चुके हैं और निष्प्राण अंत तक आ पहुंचे हैं।"

-नंदकिशोर आचार्य

सुथारों की बड़ी गुवाड,
बीकानेर (राज.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (५)

मू. "ननु यावत्योर्थक्रिया भिन्नदेशास्तवद्भेदं कारणमस्तु को विरोधः इति चेत्" न, तेषामपि प्रत्येकं तत्प्रसङ्गस्य तदवस्थत्वात्, एवमेकस्य जगति वस्तुतत्त्वस्यालाभे साध्वी क्षणभङ्गसाधनपरिशुद्धिः।

सभी बीजप्रदेशों को एक मान लेना विज्ञानवाद की ओर ले जाता है अतः प्रदेशों की भिन्नता को अस्वीकार न कर भिन्न भिन्न प्रदेशों में घटित हो सकनेवाले जो भिन्न भिन्न कार्य हैं उनके उत्पादन का सामर्थ्य रखनेवाले भिन्न भिन्न कारण मान लेने में क्या हर्ज है ऐसी आशंका अब बौद्ध उपस्थित करते हैं। इसपर प्रतिवाद सरल है। इन भिन्न भिन्न कारणों में से प्रत्येक के संबंध में प्रसंग-विपर्यय से यह सिद्ध किया जा सकता है कि वह एक न होकर अनेक हैं। जैसे 'खेत में अङ्कुरोत्पादक बीज दूर में उत्पादन नहीं करता पास ही उत्पादन करता है। अतः वह क्षणिक होते हुए भी एक नहीं है' इस प्रकार के प्रसंग-विपर्ययानुमान से किसी भी वस्तु में अनेकत्व प्रस्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार कोई 'एक' वस्तु स्वीकार करना असंभव हो जाय तो वस्तु-स्वरूप-विचार ही छोड़ देना पड़ेगा।

मू. "अस्तु तर्हि कश्चिद्दोष एवानयोरिति चेत्"। स पुनः कस्मिन् साध्ये? किं सामर्थ्यासामर्थ्ययोः, किं, वा तद्विरुद्धधर्माध्यासेन भेदे, आहोस्वित् शक्त्यशक्त्योर्विरोधे?

प्रदेश-भद से कारण-भेद सिद्ध करने के लिये जो प्रसंग-विपर्यय प्रस्तुत किये गये वे ही शायद सदोष हैं ऐसी शंका बौद्ध उपस्थित कर रहे हैं। उसपर नैयायिक पूछते हैं कि यह दोष सामर्थ्य-असामर्थ्य-साधक अनुमान में संभाव्य है, या विरुद्ध-धर्माध्यास-साध्यक अनुमान में, अथवा कारित्व-अकारित्व-साध्यक अनुमान में?

मू. नाद्यः, सर्वत्र सामर्थ्ये हि प्रसह्य कारणात्, सर्वत्राशक्तौ क्वचिदप्यकरणात्। "सर्वदेशसमानस्वभावत्वेऽप्यस्य स्वोपादानदेश एव तत्तत्कार्यं करोतीत्यमस्य स्वभावः स्वकारणादायातो न नियोगपर्यनुयोगावर्हतीति चेत्।" तर्हि सर्वकालसमानस्वभावत्वेऽपि तत्तत्सहकारिकाल एव करोतीत्ययमस्य स्वभावः स्वकारणादायात इति किं न रोचयेः?

सामर्थ्यासामर्थ्य-साधक अनुमान सदोष नहीं हो सकता। असामर्थ्य-साधक अनुमान सदोप हो तो सर्वत्र बीजादि कारणों में कार्योत्पादन-सामर्थ्य सिद्ध होगा। तब हमेशा कार्योत्पत्ति होती रहनी चाहिए। सामर्थ्य-साधक अनुमान में सदोषता हो तो कहीं भी कार्य-करण सामर्थ्य न होने से कार्योत्पत्ति ही होने नहीं पायेगी। कहा जा सकता है कि वस्तुमात्र का स्व-कारण से अवतीर्ण स्वभाव ही ऐसा है कि सभी प्रदेशों में एक जैसे होते हुए भी जहाँ वस्तु का उपादान विद्यमान है वहीं वह अपना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कार्य संपन्न करता है, अन्यत्र नहीं। इस संबंध में अनुकूल प्रतिकूल चर्चा करना व्यर्थ है। तब यही बात काल के संबन्ध में भी कही जा सकती है। विभिन्न कालों में एक जैसा वस्तु का स्वभाव होने पर भी सहकारि-समवधान काल में ही कारण-वस्तु अपना कार्य निष्पन्न करती है। देश-भेद के समान ही काल-भेद की भी उपपत्ति दी जा सकती है।

मू. न द्वितीयः, विरुद्ध धर्माध्यासेनाप्यभेदे भेदव्यवहारस्य निर्निमित्तकत्व-प्रसङ्गात्। अनैकान्तिकश्च हेतुः कालतोऽपि न भेदं साधयेत्।

विरुद्धधर्माध्यास--साध्यक अनुमान सदोष होने का मतलब होगा कि विरुद्धधर्माध्यास वस्तुगत भेद-व्यवहार का प्रयोजक नहीं है। यदि ऐसी बात हो तो भेदव्यवहार के लिए कोई निमित्त नहीं रह जायेगा। देशाधारित विरुद्ध-धर्माध्यास भेद-साधक न हो तो कालाधारित विरुद्ध-धर्माध्यास भी भेद-साधक नहीं होगा। तब यह भेद साधन के लिये प्रस्तुत हेतु व्यभिचरित हो जायगा।

मू. न तृतीयः, विरोधलक्षणयोगे बाधकसहस्रेणापि विरोधस्थापनेतुमशक्यत्वात्, अयोगे का तदेव चिन्त्यिम्।"यद्विधाने यस्य निषेधो यन्निषेधे वा यस्य विधानं तयोरेकत्र धर्मिणि परस्परपरीहारस्थिततया विरोधः, स चेह नास्ति, तद्देशकार्यकारित्वं हि तद्देशकार्याकारित्वेन विरुद्धम्, तद्विधौ तस्यैव नियमेन निषेधात्, न पुनर्देशान्तरे तत्कार्याकारित्वेन तस्यानिषेधात्, न ह्यन्यत्र तदकरणमतत्करणं वा तत्र तत्करणस्या-भावोऽपि तु तत्र तदकरणमिति चेत्"। हन्त, एवम्भूतविरोधलक्षणव्यावृत्तिभिन्न-कालशक्त्यशक्त्योरपीत्युक्तप्रायम्, तत्प्रतिसंधीथाः।

कारित्व अकारित्व के विरोध का साधक अनुमान तब सदोष होगा जब कारित्व और अकारित्व विरोधी ही न हों और यह बात तब होगी जब विरोध के लक्षण इस तथाकथित विरोध में न हो। यदि यह वास्तविक विरोध है तब कोई भी बाधक उसे समाप्त नहीं कर सकता। परस्पराभावरूप या परस्पराभावव्याप्य-रूप कारित्व अकारित्व अनिवार्यतः विरोधी होने चाहिए। यदि कहें कि कारित्व अकारित्व के बीच प्रदेश-विशेष के सम्बन्ध में ही विरोध है, सामान्यतः नहीं तो दूसरी बात है। विरोध उन दो बातों या तथ्यों में हुआ करता है जिन में एक के विधान या निषेध से दूसरे का निषेध या विधान होता हो और इस कारण जो किसी भी धर्मि (या स्थान) में परस्पर का अपवारण कर अवस्थित होते हैं ऐसा विरोध कारित्व अकारित्व के बीच (प्रदेश-विशेष संबंध से) नहीं है। एक प्रदेश में कार्यो-त्पादन उसी प्रदेश के कार्यानुत्पादन का विरोधी हो सकता है किन्तु प्रदेशान्तर में कार्यानुत्पादन से उसका कोई विरोध नहीं हो सकता। देशान्तर से अकारित्व या अन्यकार्यकारित्व प्रदेशविशेषगत कारित्व का न विरोधी है (न सहचर ही)। अतः कारित्वाकारित्व-विरोध-साधक अनुमान सदोष है ऐसा बौद्धों का प्रतिपादन हो तो नैयायिक भी कह सकते हैं कि विभिन्न कालिक कारित्व अकारित्व के संबंध में भी यही बात लागू होती है। एककाल-कारित्व अन्यकाल-अकारित्व का कदापि विरोध नहीं हो सकता। अतः जो एक समय कारी है वह अन्य समय अकारी पाया जाय तो आश्चर्य नहीं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मू. तस्मात्प्रसङ्गतद्विपर्ययास्थितावपि असिद्धो विरुद्धधर्माध्यासः। "ननु यदेकदा यत्करोति तद्यावत्सत्त्वं तत्करोत्येव, यथा कश्चिच्छब्दः शब्दान्तरमिति प्रसङ्गोऽस्तु। विपर्ययस्तु यदेकदा यन्न करोति तत्सर्वदैव तन्न करोति, यथा शिलाशकलमङ्कुरम्, न करोति चैकदा कुशूलस्थ बीजमङ्कुरमिति चेन् "। तदेतज्जात्यभिप्रायेण व्यक्त्यभिप्रायेण वा स्यात्।

पीछे प्रसंग-विपर्ययानुमान ही असिद्ध बतलाया गया। अब वह अनुमान निर्दोष मान कर भी विरुद्ध-धर्माध्यास संभव नहीं यह (ऊपर विशद की हुई बात) संक्षेप में दुहराते हुए पुनः दूसरे ढंग से कारित्व-अकारित्व-साधक प्रसङ्गविपर्ययानुमान प्रस्तुत करते हैं। प्रसङ्गानुमान इस प्रकार है: जो वस्तु एक समय कोई कार्य करती है वह अपने रहते वह कार्य करती रहती है, जैसे, 'अन्त्य-भिन्न शब्द अपने जैसे अन्य शब्द को उत्पन्न करता ही है। शब्द का क्रमिक ध्वनियों के रूप में प्रसरण होता है यह वैशेषिक मत है। इन ध्वनियों की परंपरा में अन्त्य-ध्वनि किसी अन्य ध्वनि का उत्पादक नहीं होता। इसलिए अन्त्यभिन्न शब्द का उदाहरण यहाँ दिया है। विपर्ययानुमान (अकारित्व साधक) इस प्रकार होगा: जो वस्तु एक समय एक कार्य नहीं करती वह अन्य समय भी वह कार्य नहीं करती, जैसे पत्थर से अंकुर कभी पैदा नहीं होता। कूशलस्थ बीज एक बार भी अंकुर पैदा नहीं करता, अतः वह कभी अंकुर पैदा नहीं करेगा। नैयायिक अब इन अनुमानों के संबंध में प्रश्न करते हैं कि ये जाति के संबंध में कारित्वाकारित्व-साधक हैं या या व्यक्ति के संबंध में?

मू. प्रथमे द्वयमपि अनकान्तिकम्, अनियमदर्शनात्। द्वितीये द्वयमप्यन्यथासिद्धम्, एकान्तासामर्थ्यप्रयुक्तत्वादत्यन्ताकरणस्य, सामर्थ्ये सति सहकारिसन्निधिप्रयुक्तत्वात्करणनियममस्य।

जाति के संबंध में कारित्वाकारित्वानुमान हों तो वे दोनों व्यभिचार युक्त हैं। बीज-जातीय कुछ पदार्थ कारी हैं तो कुछ अकारी भी। अतः सभी बीज-जातीय न कारी ही सिद्ध हो सकते हैं न अकारी ही। अनुमान व्यक्ति संबंध में हो तो उनके हेतु अन्यथासिद्ध याने असाधक हैं। पत्थर में जो सर्वथा अंकुराकारत्व है उसका कारण अनुमापक हेतु न हो कर पत्थर का आत्यन्तिक असामर्थ्य है। इसी प्रकार कुशलस्थ बीज का अंकुरानुत्पादकत्व सहकारियों के न होने के कारण है तो क्षेत्रस्थ बीज की अंकुरोत्पादकता सहकारिसाकल्य के कारण है।

मू. एतेन "यद्यत्करोति तत्तदुत्पन्नमात्रम्, यथा कर्मविभागम्, यदुत्पन्नमात्रं यन्न करोति तन्न कदाचिदपि, यथा शिलाशकलमङ्कुरमिति"—निरस्तम्। अत्रापि पूर्ववदनेकान्तान्यथासिद्धिदोषाविति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उक्त अनुमान के समान ही क्षणिकत्व-साधक अन्य अनुमान भी सदोष होंगे। जैसे जो वस्तु कोई कार्य करती है वह उत्पन्न होते ही करती है; कर्म जैसे उत्पन्न होते ही विभाग का उत्पादन करता है। जो वस्तु उत्पन्न होते कोई कार्य नहीं करती वह कदापि उसे नहीं करती। उदाहरणार्थ, पत्थर अंकुर को उत्पन्न होते ही नहीं निर्माण करता अतः वह उसे कदापि नहीं निर्माण करता। यह अनुमान पहले अनुमान के जैसे ही व्यभिचार और अन्यथासिद्धि दोषों से ग्रस्त है।

मू. नापि तृतीयः; कृतकत्वानित्यत्वादेरपि परस्पराभाववत्तामात्रेण विरोध-प्रसङ्गादिति।

पीछे कारित्व और अकारित्व के विरोध के स्वरूप के संबंध में तीन विकल्प प्रस्तुत किये गये थे। उनमें परस्पराभावरूपत्व, परस्पराभावव्याप्यत्व इन दो विकल्पों का खण्डन अबतक चलता रहा। तीसरा विकल्प "परस्परात्यंताभाववत्व" यह है। इसका भी खण्डन करते हुए नैयायिक कहते हैं कि कृतकत्व में नियत्व का और नित्यत्व में कृतकत्व का अभाव है लेकिन इन दोनों में कोई विरोध नहीं है।

मू. "अस्तु तर्हि तस्यैव तेनैव सहकारिणा सह सम्बन्धोऽसम्बन्धश्चेति विरोधः"। न, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि—सम्बन्धिनः सम्बन्ध्यन्तरे स्वभाव-स्वाभाव्यं वा विरुध्येत, अभावप्रतियोगित्वं वा, तदैवेति सहितं तत्रैनेति सहितं वा, उभयसहितं वा, तथैवेविसहितं वा? इति।

कारित्व-अकारित्व के विरोध का एक नये ढंग से समर्थन करने का उपक्रम बौद्ध कर रहे हैं। कार्योत्पत्ति के लिए अपेक्षित जो सहकारी हैं उनमें एक सहकारी दूसरे सहकारी (से भिन्न होने के कारण) के अभाव रूप ही होगा। अतः सहकारियों का समवधान तथा असमवधान ये दोनों बातें किसी कारण में सहचरित नहीं होंगी। भाव और अभाव का साहचर्य होने लगे तो इनका विरोध ही समाप्त हो जायगा। यह प्रतिवाद अभाव अपने आधार से अभिन्न होता है इस मत के आधार से किया जा रहा है। एक ही वस्तु दूसरी वस्तू से सम्बद्ध होने पर उससे असबद्ध भी नहीं हो सकती। 'असंबंध' का अर्थ है संबंधाभाव और इसे अपने आधार से अभिन्न मानना होगा। ऐसा मानने पर सम्बन्ध को ही संबंधाभावरूप मानना पड़ जायेगा। 'असमवधान' का दूसरा अर्थ 'अभावप्रतियोगित्व' ऐसा किया जा सकता है। किन्तु सत्कार्यवाद का पुरस्कार किया जाय तो कोई भी सत् वस्तु असत् न होने के कारण अभावप्रतियोगिता सद्वस्तु में कभी आ नहीं सकती। सत्कार्यवाद न मानने पर सत्पदार्थ कभी न कभी असत् होता है यह बात स्वीकार्य हो सकती है किन्तु 'असमवधान' का अर्थ जब समवधान है उसी समय उसका न होना यह समझा जाय तो समवधान और असमवधान के विरोध का समर्थन संभव है। इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विरोध को और भी सुस्पष्ट करना हो तो जिस समय और जहाँ समवधान है उसी समय और वहीं उसका न होना असमवधान का अर्थ लिया जा सकता है। विरोध को और भी तीव्र माना जाय तो जिस समय, जहाँ और जिस प्रकार का समवधान है उसी समय, वहीं और उसी प्रकार का समवधान न होना 'असमवधान' समझा जा सकता है। इस प्रकार समवधान-असमधान-विरोध के कुछ छः तरीके सभाव्य हैं। इनकी क्रमशः अग्रिम परिच्छेद में चर्चा की जायेगी।

मू. न प्रथमः, अनभ्युपगमात्। न द्वितीयः, सत्कार्यप्रतिषेधात्। न तृतीयः, प्राक्प्रध्वंसाभावयोर्भावसमानकालत्वानभ्युपगामत्। न चतुर्थः, सहि न तावत् स्थिति-यौगपद्यनियमेन सम्बन्धिनोः, तदसिद्धेः। इत एव तत्सिद्धावितरेतराश्रयत्वम्-नियमसिद्धौ हि विरोधसिद्धिस्तत्सिद्धौ च भेदे सति नियमसिद्धिरिति। न चान्यतस्त त्सिद्धिः, तदभावात्, अनियतोपसर्पणासर्पणकारणप्रयुक्तत्वाच्च संबंधासम्बन्धयोः। नापि विनाशस्याहेतुकत्वादयं विरोधोऽर्थात् सिध्यति, तस्याप्यसिद्धेः। ध्रुवभावित्वे तु वक्ष्यामः। नापि पञ्चमः, नही तदैव तत्रैव स एव सहकार्यस्ति नास्ति चेत्यभ्युपग-गच्छामः।

उक्त पांच विकल्पों में से पहला विकल्प ग्राह्य नहीं। अभाव को अधिकरण-रूप स्वीकार करने पर ही संबंधी और असंबंधी एक होंगे जिससे समवधान और असमवधान परस्परविरुद्ध मानने होंगे। लेकिन अभाव की अधिकरणात्मकता का पुरस्कार नैयायिक नहीं करते। सत्कार्यवाद पर आधारित दूसरा विकल्प भी ग्राह्य नहीं क्योंकि सत्कार्यवाद भी नैयायिकों के लिये भी स्वीकार्य नहीं है। 'एकही समय समवधान का एक ही वस्तु में घटित न होना' यह विरोध का तिसरा अर्थ भी स्वीकाराहं नहीं। प्रागभाव (वस्तु की उत्पत्ति के पूर्व जो उसका अभाव होता है वह) और ध्वंस (विनाश) जिस वस्तु के हों उसके साथ (एकही समय) घटित नहीं होते। किन्तु अत्यन्ताभाव अपने प्रतियोगी के साथ स्थान-भेद से एकही समय विद्यमान होने में कोई हर्ज नहीं। 'एक ही देश में समवधान और असमवधान सहकारियों में न होना' यह चौथा विकल्प भी स्वीकाराहं नहीं। सब सहकारी एकसाथ रहते ही हैं ऐसा नियम हो तो उक्त विरोध संभाव्य है। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है। उक्त विरोध को वास्तविक मान कर यदि इस नियम की स्थापन की जाय तो अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होगा क्योंकि नियम माने बिना विरोध प्रस्थापित नहीं होता और विरोध प्रस्थापित होने पर क्षणभङ्ग सिद्ध होगा (क्योंकि परस्पर-विरुद्ध समवधान और असमवधान एक वस्तु में सहावस्थित न हो सकने से वस्तु को क्षणभङ्गुर मानना आवश्यक होगा।) और उसके आधार पर ही समवधान नियम भी सिद्ध होगा। इस पर यह प्रतिवाद उपयुक्त नहीं कि समवधान नियम क

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बाधक कोई अन्य प्रमाण ही हो सकता है। ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है सब सहकारी सब समय सहकृत इसलिए नहीं होते कि उनकी उपस्थिति उनके एक स्थान में सम्मिलित होने पर निर्भर है और यह बात अनिश्चित ही होगी कि कब कौनसा सहकारी स्थानविशेष में उपस्थित होगा। यह भी प्रतिवाद उपर्युक्त कथन पर नहीं हो सकता कि विनाश वस्तुमात्र के लिये स्वाभाविक होने के कारण प्रत्येक वस्तु का अपनी उत्पत्ति के अनन्तर क्षण में ही विनाश अवश्यं-भावी होगा और तब क्षणिक सहकारियों के सहकृत होने पर ही कोई भी कार्य (क्षणिक) उत्पन्न होना संभव है। इस बात पर से सहकारि-समवधान-नियम अपने आप सिद्ध हो जाता है। विनाश अहेतुक या स्वाभाविक होने की बात ही अस्वी-काराई होने से उक्त प्रतिवाद में कोई तथ्य नहीं रह जाता। विनाश अवश्यंभावी अवश्य है किन्तु वह अहेतुक है ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। ऊपर बतलाया गया पाँचवा विकल्प अब विचारणीय रह जाता है। एक काल में एक सहकारी एक ही स्थान में एक ही प्रकार से विद्यमान होता है और अविद्यमान भी ऐसा कोई नहीं मानेगा। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर समवधान का साहचर्य ही कैसे हो पायेगा जिससे इनके विरोध की बात चलायी जाय।

म. "ननु समवधानं नाम सहकरिणां धर्मः संयोगो भवद्भिरिष्यते, स च तेभ्योऽतिरिक्तोऽव्याप्यवृत्तिश्चेत्यपि, तथा च स एव तदैव तत्रैवास्ति नास्ति चेति। अनतिरेके स्थिरवादिनो व्यस्तान्यपि बीजवारिधरणिधामानि तान्येवेति तेभ्योऽपि कार्योत्पत्तिप्रङ्गः। व्याप्यवृत्तित्वे च सर्वत्र रक्तादिविभ्रमः शब्दादिकार्योत्पत्ति-प्रसङ्गश्च। तस्मादसंयुक्तेभ्योऽन्ये एव संयुक्तस्वभावाः परमाणवो जाता इत्येव न्यायः।" नैतदेवम्, क्षणिकपरमाणावप्यस्य विरोधस्य दुर्वारत्वात्। तथाहि—पूर्वं दिगवस्थितः परमाणुर्यथा परदिगवस्थितेन परमाणुनाऽपरदिगवच्छेदेनावृतरूप उत्पन्नाः तथैव किं पूर्वदिगच्छेदेनापि, न वा, उभयथा वा। आद्ये उभयतोऽप्युनपलब्धि प्रसङ्गः। द्वितीये तूभयतोऽप्युपलम्भापत्तिः। तृतीये पुनः स एव दुरात्मा विरोधः, स एव तेनैव तदैवावृतोऽनावृतश्चेति।

अब पूर्वोक्त विकल्पों में से छठे विकल्प की चर्चा करने के उद्देश से 'समवधान' के स्वरूप का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं। बौद्ध प्रतिप्रश्न करते हैं कि सहकारियों का परस्पर संयोग ही 'समवधान' है; यह संयोग सहकारियों से भिन्न (उनके विशेषणभूत गुणरूप) तथा 'अव्याप्यवृत्ति' है। 'अव्याप्यवृत्ति' का अर्थ 'वस्तु के अंशमात्र में या कालविशेष में वस्तु में रहने वाला और काल विशेष में न रहने वाला' ऐसा होता है। ऐसे अव्याप्यवृत्ति संयोग से युक्त तथा रहित सहकारी एक ही होने चाहिए। ऐसी अवस्था में परस्पर-समवहित बीज, पृथ्वी, पानी आदि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और एक दूसरे से अलग पड़े हुए यही पदार्थ अभिन्न होने के कारण ये पदार्थ अलग अलग अङ्कुरोत्पादन-समर्थ होने चाहिए। यदि संयोग, शब्द आदि को व्याप्यवृत्ति माना जाय तो कहीं एक स्थान में शब्द उत्पन्न होने पर सर्वत्र शब्दोत्पत्ति होनी पड़ेगी। शब्द-कारण भेरी जैसे साधन का आकाश के एक अंश से संयोग होने के कारण संपूर्ण विश्व में व्याप्त आकाश के साथ भी यह संयोग घटित हो जाएगा और तब संपूर्ण विश्व में भेरी के आघात का शब्द सुना जाना चाहिए। यही नहीं, रक्त, पीत आदि वर्ण भी व्याप्यवृत्ति मानने होंगे जिससे किसी वस्तु का एक अंश रक्त या पीत होने पर वह वस्तु पूर्णतया उस वर्ण की हो जानी चाहिए। अतः परस्पर-संयुक्त परमाणुओं से अन्य ही परस्पर-संयुक्त परमाणु-पुञ्जरूप सहकारी होते हैं ऐसा मानना आवश्यक होगा। बौद्ध स्थूल अवयवी की सत्ता स्वीकार नहीं करते। अवयवी परमाणु-पुञ्जरूप है ऐसा उनका मत है। इस प्रकार समवधान और असमवधान के विरोध का जो समर्थन बौद्ध प्रस्तुत करते हैं उसका अब नैयायिक खंडन करते हुए कहते हैं कि क्षणिक परमाणु में भी समवधान और असमवधान के विरोध के समान आन्तरिक विरोध की उपस्थिति सिद्ध की जा सकती है। उदाहरणतः, पूर्वदिशा में अवस्थित कोई परमाणु उसकी विपरीत दिशा में अवस्थित किसी अन्य परमाणु से आवृत होने योग्य हो कर जैसे उत्पन्न होता है वैसे ही पूर्व दिशा में अवस्थित किसी परमाणु से आवरण-योग्य होता है या किसी भी दिशा के परमाणु उसका आवरण नहीं कर पाते ? या एक दिशा में आवृत होते हुए विपरीत दिशा के परमाणु से वह अनावृत ही रहता है ? ऐसा प्रश्न पूछा जाय तो उसका कोई भी उत्तर परमाणुओं के अन्तर्विरोध को ही प्रकट करेगा। पहला विकल्प स्वीकार करने पर कोई परमाणु कहीं भी दिखाई नहीं पड़ेगा। (क्योंकि अपनी दिशा में स्थित अन्य परमाणु से भी वह आवृत हो जायेगा।) दूसरा विकल्प मानने पर किसी भी स्थान में परमाणु उपलंभ-योग्य मानना पड़ जायेगा। (उसका आवरक कोई न हो सकने के कारण) तीसरा विकल्प सीधे परमाणु के अन्तर्विरोध की ओर ले जाता है। एक ही परमाणु दूसरे परमाणु से एक ही समय में आवृत है और अनावृत भी ऐसा मानना परमाणु-स्वरूप के अन्तर्विरोध का ही द्योतक है।

मू. "प्रकारभेदमुपादायाविरोध इति चेत्"। कः पुनरसौ? दिगन्तरावच्छेदः। "यदि हि यद्दिगवच्छेदेनैव संयुक्तस्तद्दिगवच्छेदेनैवासंयुक्तोऽपि ततो विरोधो स्यात् इह तु नैवमिति चेत्"। हन्त, संयोगसंयोगिनोर्भेदपक्षेऽपि यद्ययं सिद्धान्तवृत्तान्तः स्यात्कोदृषो दोष इति। एतेन व्यतिरेकपक्षोऽपि निरस्तः।

उक्त विरोध-संभावना के परिहार के लिये बौद्ध कहते हैं कि दिशाभेद से एकही परमाणु का दूसरे परमाणु से आवृत तथा अनावृत होना संभव है। जिस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दिशा में एक परमाणु दूसरे परमाणु से संयुक्त हो उसी दिशा में वह उसी परमाणु से असंयुक्त भी माना जाय (अतः अनावृत भी) तब तो विरोध उत्पन्न होगा। किन्तु ऐसी बात नहीं है। इसपर नैयायिक विस्मयाकुल होकर प्रतिवाद करते है कि जैसे परमाणुओं के विरोध-परिहार की बात की जा सकती हैं वैसे ही समवधान और असमवधान के संभाव्य विरोध के परिहार की भी बात संभव है। संयोग, संयोगी सहकारियों से भिन्न होने पर भी एक ही सहकारी विभिन्न प्रदेशों के संबंध से अन्य सहकारियों के साथ संयुक्त तथा असंयुक्त दोनों हो सकता है। (एक प्रदेश में संयुक्त होकर भी अन्य प्रदेश में असंयुक्त रहना एक ही वस्तु के लिए असंभव नहीं।)

इस प्रकार सत्व तथा क्षणिकत्व के बीच अन्वयव्याप्ति संभव नहीं यह विस्तार के साथ प्रदर्शित कर अन्वयव्याति पर आधारित व्यतिरेकव्याप्ति भी (उनके बीच) संभव नही ऐसा निष्कर्ष नैयायिक प्रस्तुत करते हैं। व्यतिरेक व्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार होगा : जो क्रमशः या सहकारिसमवहित हो कर कार्योत्पाद नहीं करता वह सत् नहीं होता, जैसे शशविषाण। स्थिर समझी जाने वाली वस्तु उक्त दोनों तरीकों से कार्योत्पादन-समर्थ नहीं प्रतीत होती। अतः वह सत् नहीं।

मू. अधिकश्च तत्राश्रयहेतुदृष्टान्तासिद्धौ प्रमाणाभावः, अवस्तुनि प्रमाणाप्रवृत्तेः प्रमाणप्रवृत्तावलीकत्वानुपत्तेः। "एवन्तर्ह्यव्यवहारे स्ववचनविरोधः स्यादिति चेत्" तत्किं स्ववचनविरोधेन तेषु प्रमाणमुपदर्शितं भवेत्, व्यवहारनिषेधव्यवहारोऽपि वा खण्डितः स्यात्, अप्रामाणिकोऽयं व्यवहारोऽवश्याभ्युपगन्तव्य इति वा भवेत्।

उक्त व्यतिरेक-व्याप्ति में आश्रयासिद्धि, हेत्वसिद्धि और दृष्टान्तासिद्धि जैसे दोष भी प्रतीत होते हैं। 'जो क्रमशः या युगपत् (समवहित होकर) कार्य नहीं करता वह सत् नहीं, जैसे 'शशविषाण' इस व्याप्ति-वचन में आश्रय या पक्ष वाचक पद 'क्रमशः या युगपत् कार्य न करने वाला' यह है। बौद्ध मतानुसार ऐसी कोई वस्तु हो नहीं सकती। हेतु-वाचक पद 'सत् न होना' यह है। कोई भी वस्तु असत् नहीं होती। दृष्टान्त 'शशविषाण' भी असत् ही है। इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति पूर्णतया सदोष सिद्ध होती है। जो असत् है उसके संबंध में कोई भी प्रमाण कोई भी—विधि या निषेधरूप—प्रक्रिया कार्यान्वित नही कर सकता। यदि ऐसी प्रक्रिया अवस्तु के संबंध में घटित हो तो वह अवस्तु नहीं रह सकती। कोई पूछ सकता है कि अवस्तु को 'अवस्तु' कहना भी एक व्यवहार ही है। किन्तु ऐसा निर्देश करने से अवस्तु की अवस्तुता जाती रहेगी क्या? इस प्रश्न पर कुछ प्रति- प्रश्न पूछे जा सकते हैं जिनका उत्तर अपेक्षित है। जैसे, 'अवस्तु' को 'अवस्तु' कहने से क्या उसकी प्रामाणिकता प्रस्थापित होती है? अथवा ऐसा करने से उसके संबंध में व्यवहार-निषेध (अव्यावहारिकता) की जो बात कही गयी थी भीवह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

खण्डित हो जाती है) जिससे 'अवस्तु' के संबंध में कुछ भी कथन करना अनुपयुक्त सिद्ध हो। या अवस्तुत्व-व्यवहार अप्रामाणिक होते हुए भी टाला नहीं जा सकता। तात्पर्य यह है कि 'असत् को 'असत्' कहना भी उसे प्रमाण-विषय मानने जैसा है जिससे उक्त विसंगतियाँ पैदा होती हैं।

मू. न तावत्प्रथमः, नहि विरोधसहस्रेणापि स्थिरे तस्य क्रमादिविरहे वा शशशृंगे वा प्रत्यक्षमनुमानं वा दर्शयितुं शक्यम्, तथात्वे वा कृतं भीतकलहेन। द्वितीयस्त्विष्यत एव प्रामाणिकैः। "अवचनमेव तर्हि तत्र प्राप्तम्" किं कुर्मो यत्र वचनं सर्वथैवानुपपन्नं तत्रावचनेन श्रेयः, त्वमपि परिभावय तावत् निष्प्रामाणिकेऽर्थे मूकवावदूकयोः कतरः श्रेयान् ?

पूर्वोक्त तीन विकल्पों में पहले विकल्प के अनुसार 'अवस्तु'त्व व्यवहार के आधार पर अवस्तु की वस्तुता या प्रामाणिकता सिद्ध करना उचित नहीं क्योंकि क्रम-यौगपद्य रहितत्व, शशशृंग आदि जो पद असत्व-साधक अनुमान में अन्तर्भूत हैं उनके प्रत्यक्ष या अनुमान से कोई ज्ञान प्राप्य नहीं है। अतः इन अलोक वस्तुओं के संबंध में विधि या निषेध दोनों संभव नहीं हैं। हाँ, यदि कोई प्रमाण इनके समर्थनार्थ प्रस्तुत किया जाता है तो उसकी चर्चा की जा सकती है। उस परिस्थिति में निरर्थक वाद-विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। दूसरे विकल्प के अनुसार अलोक के संबंध में व्यवहार-निषेध का व्यवहार भी उपयुक्त नहीं। यह बात समझदार लोगों को स्वीकार्य ही होनी चाहिये। कोई पूछेगा कि क्या अलीक के बारे में कुछ बोला ही न जाय ? उत्तर होगा, हाँ, मौनधारण के सिवा उस सबंध में कोई उपाय ही नहीं रह जाता। बौद्ध भी सोचने पर जान सकते हैं कि अप्रामाणिक बात के संबंध में मौन स्वीकार करना योग्य है या निरर्थक प्रलाप करते रहना।

मू. एवं विदुषापि भवता न मूकीभूय स्थितम्, अपि तु व्यवहारः प्रतिषिद्ध एवासीति चेत्"। सत्यम्, यथा अप्रामाणिकः स्ववचनविरुद्धोऽर्थो मा प्रसाङ्क्षीदिति मन्यमानेन त्वया च अप्रामाणिक एवासति व्यवहारः स्वीकृतस्तथास्माभिरपि प्रमाणचिन्तायामप्रामाणिको व्यवहारो मा प्रसाङ्क्षीदिति मन्यमानैरप्रामाणिक एव स्ववचनविरोधः स्वीक्रियते। यदि तूभयत्रापि भवान् समानदृष्टिः स्यादस्माभिरपि तदा न किञ्चिदुच्यत इति।

पुनः बौद्ध पूछते हैं कि अप्रामाणिक बात के संबंध में मौन-धारण ही उचित है ऐसा कहते हुए भी नैयायिक अप्रामाणिक को व्यवहार्य कह कर अपनी ही बात क्यों करते हैं ? नैयायिक इस पर उत्तर देते हैं कि बौद्धों को भी अप्रामाणिक शशविषाणादि के सम्बन्ध में व्यवहार करना ही पड़ता है। शशविषाणादि क्षणिक न होने से सत् भी नहीं हैं ऐसा प्रतिपादन बौद्ध न करें तो इन अवस्तुओं की सत्ता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के बारे में सम्भ्रम पैदा हो सकता है। अतः 'ये अप्रामाणिक हैं' ऐसा व्यवहार किये बिना बौद्धों का काम नहीं चल सकता। उसी प्रकार प्रमात्मक अनुमित्यादि के लिये प्रमात्मक लिंगपरामर्शादि ही कारण होने हैं, अप्रमात्मक नहीं यह बात समझाने के लिये अप्रमाण या असत् के विषय में अप्रामाण्य व्यवहार नैयायिक करें तो उसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इतना स्व-वचन-विरोध अपरिहार्य हैं। बौद्ध क्षणिकत्व और सत्व की व्यतिरेक-व्याप्ति के उदाहरण के रूप में शश-विषाणादि अलीक वस्तुओं का निर्देश न कर अलीक सम्बन्धी अप्रमाण्य-व्यवहार के प्रश्न को नहीं उठाते तो नैयायिक भी इस व्यतिरेक-व्याप्ति के खंडन के लिये प्रयत्नशील नहीं होंगे। इस चर्चा का मन्तव्य यह है कि अलीक-साध्य, पक्ष, दृष्टान्तयुक्त व्याप्ति के द्वारा बौद्ध क्षणिकत्व सिद्ध करने में सफल नहीं हो सकते। नैयायिक या अन्य लोग इन्हें अलीक कहते हैं इसीसे इनकी सत्ता सिद्ध नहीं हो जाती।

म. तृतीये तु अप्रामाणिकश्चाप्यवश्याभ्युपगन्तव्यश्चेति कस्येयमाज्ञेति भवानेव प्रष्टव्यः। 'व्यवहारस्य सुदृढनिरूढत्वादिति चेत्'। अप्रामाणिकश्च सुदृढनिरूढश्चेति व्याघातः। "कथञ्चिदपि व्यवस्थितत्वादिति चेत्"। अप्रामाणिकश्चेन्न कथञ्चिदपि व्यवतिष्ठते, प्रामाणिकश्चेत् तदेवोच्यतामिति वादे व्यवस्था।

उक्त तीसरे विकल्प के अनुसार कोई बात अप्रामाणिक होते हुए भी अवश्य स्वीकार्य होनी चाहिये। लेकिन क्या ऐसा मानने का कोई आदेश भी दे सकता है? यदि कहा जाय कि 'स्वीकार या व्यवहार के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं, असत्ख्याति पर आधारित निश्चय से भी व्यवहार घटित हो सकता है' तो उसका प्रतिवाद यह होगा कि जो निश्चय यथार्थ नहीं वह अप्रामाणिक होने से व्यवहार का कारण नहीं हो पायेगा। अप्रमा-मूलक व्यवहार सम्भव अवश्य है किन्तु वह पुरस्कारार्ह नहीं हो सकता। यदि प्रमाणाधारित व्यवहार है तब कोई आपत्ति नहीं। किन्तु तब इस व्यवहाराधारभूत प्रमाण को उद्धृत करना होगा। उसके बिना काम नहीं चलेगा। कम से कम वादविवाद में–जिसका लक्ष्य सत्य की ही खोज है–प्रमाण के आधार पर ही विचार आगे बढ़ सकता है।

—नारायणशास्त्री द्राविड

आचार्य एवं अध्यक्ष,
दर्शन विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैनधर्म में प्रतिपादित पुण्य–पाप : एक विश्लेषण

जैन धर्मसम्मत कर्मवाद की यह मान्यता नहीं है कि संसार का प्रत्येक कार्य अथवा जगत् की प्रत्येक घटना कर्मजन्य है। विश्व में होने वाले कार्यों एवं घटनाओं के विविध कारण होते हैं। कुछ घटनाएँ भौतिक होती हैं, कुछ कालजन्य, कुछ स्वाभाविक, कुछ आकस्मिक या संयोगवश एवं कुछ वैयक्तिक अथवा सामाजिक प्रयत्नजन्य होती हैं। जैन कर्मवाद विशुद्ध व्यक्तिवादी है। जिस प्रकार जैन तत्त्ववाद आत्मा को स्वदेहपरिणाम मानता है उसी प्रकार जैन कर्मवाद कर्म को स्वशरीर परिमाण मान कर उसे व्यक्ति तक ही सीमित रखता है। जैसे जीव अपने शरीर में बद्ध रह कर ही अपना कार्य करता है वैसे ही कर्म भी अपने शरीर की सीमा में रह कर ही अपना काम करता है। जैसे आत्मा सर्वव्यापक नहीं है वैसे ही कर्म भी सर्वव्यापक नहीं है। चूंकि आत्मा एवं कर्म के कार्य अथवा गुण अपनी देह तक ही सीमित हैं अतः तदाधारभूत आत्मा एवं कर्म भी स्वदेह तक ही परिमित है। वस्तुतः आत्मा और कर्म के मिश्रित रूप का नाम ही देह है। जैन कर्मवादी नैयायिकों की भांति कार्यमात्र के प्रति कर्म को कारण नहीं मानते। नैयायिक ईश्वर और कर्म को कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण मानते हैं।

कर्म दो प्रकार के हैं : शुभ और अशुभ। शुभ कर्म का दूसरा नाम पुण्य है और अशुभ कर्म का दूसरा नाम पाप। इस प्रकार पुण्य एवं पाप शुभ एवं अशुभ कर्मों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चूंकि शुभ और अशुभ इन दोनों प्रकार के कर्मों का सम्बन्ध प्राणी के शरीर से है अतः तद्रूप पुण्य और पाप इन दोनों का सम्बन्ध भी उस शरीर से ही है। जब यह कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति पुण्यवान् है तो जैन कर्मवाद की दृष्टि से इस कथन का तात्पर्य यह होता है कि उस व्यक्ति का शरीर शुभ कर्मोदययुक्त है अर्थात् उस व्यक्ति के शरीर से सम्बद्ध इन्द्रियां, वाणी, मन आदि एवं उनकी प्रवृत्तियां यानी मन-वचन-काय की क्रियाएँ शुभ अर्थात् सुखद हैं। दूसरे शब्दों में, वह व्यक्ति सब प्रकार से अथवा सामान्य तौर से अथवा अधिकांशतः सुखी है। इसी तरह जो व्यक्ति पापी होता है वह सब प्रकार से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यावत् अधिकांशतः दुःखी होता है। इस प्रकार पुण्य और पाप का फल सुख और दुःख है। सुख एवं दुःख व्यक्ति के व्यक्तित्व अर्थात् शारीरिक एवं मानसिक गठन पर अवलम्बित हैं जिसका निर्माण पुण्य और पाप अर्थात् शुभ और अशुभ कर्मों के आधार पर होता है।

यदि पाप-पुण्य से ही दुःख-सुख होता है तो बाह्य पदार्थों की क्या आवश्यकता है ? यदि पाप-पुण्य दुःख-सुख की उत्पत्ति का ही कारण है तो बाह्य पदार्थों की प्राप्ति किन कारणों से होती है ? दूसरे शब्दों में, सुख-दुःख की उत्पत्ति में बाह्य पदार्थों का क्या योगदान है तथा उनकी प्राप्ति के क्या कारण हैं ? ये दो प्रश्न इस प्रसंग में स्वाभाविकतया पैदा होते हैं।

बाह्य वस्तुएं एवं परिस्थितियाँ सुख-दुःख की उत्पत्ती में अवश्य सहायक बनती हैं किन्तु उन्हीं को सुख-दुःख का मूल कारण मानना अयुक्तिसंगत है। जिस व्यक्ति में सुख दुःख की उत्पत्ति की शक्ति या योग्यता विद्यमान रहती है अर्थात् जिसमें पुण्य एवं पाप की सत्ता होती है उसी में बाह्य पदार्थ सुख एवं दुःख उत्पन्न कर सकते हैं। जो व्यक्ति अमुक प्रकार के सुख अथवा दुःख से परे है अर्थात् जिसमें अमुक प्रकार का सुख-दुःख उत्पन्न नहीं हो सकता उसे उस सीमा तक बाह्य पदार्थ प्रभावित नहीं करते। तात्पर्य यह है कि बाह्य पदार्थ किसी व्यक्ति को उसी सीमा तक प्रभावित करते हैं जिस सीमा तक उसका व्यक्तित्व उनसे प्रभावित हो सकता है। कोई भी पदार्थ अथवा वातावरण सबको समान रूप से प्रभावित नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न प्रकार का है अर्थात् हरेक के पुण्य-पाप की संचिति यानि सुख-दुःख का अनुभव करने की योग्यता अलग-अलग तरह की है। बाह्य वस्तुएँ एवं परिस्थितियाँ व्यक्ति में विद्यमान योग्यता के अनुसार ही सुख-दुःख उत्पन्न करने में सहायक कारण के रूप में कार्य करती हैं। सुख-दुःख का मूल कारण तो व्यक्ति में ही मौजूद होता है जो पुण्य-पाप के संग्रह के रूप में रहता है। इस प्रकार सुख-दुःख का उपादान-कारण अर्थात् मूल कारण स्वयं व्यक्ति है, जबकि बाह्य पदार्थ निमित्त-कारण अर्थात् सहायक कारण के रूप में हैं। इस दृष्टि से बाह्य वस्तुओं एवं परिस्थितियों का भी महत्त्व स्वीकार करना होगा क्योंकि किसी भी कार्य की उत्पत्ति में उपादान कारण की प्रधानता होते हुए भी निमित्त-कारण का भी योगदान होता है। उपादान-कारण की समानता होते हुए भी निमित्त-कारण की भिन्नता के कारण कार्य में कुछ भिन्नता आ ही जाती है। इसी प्रकार सुख-दुःख का अनुभव करने की शक्ति अर्थात् पुण्य-पाप के संचय की समानता होते हुए भी बाह्य पदार्थों तथा परिस्थितियों की असमानता के कारण सुख-दुःख की अनुभूति में कुछ अन्तर आना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अस्वाभाविक नहीं है। जैसे बाह्य वस्तुओं की अभिन्नता अथवा समानता होने पर भी व्यक्तित्व की असमानता के कारण सुख-दुःख की अनुभूति में अन्तर आ जाता है वैसे ही व्यक्तित्व की अभिन्नता अथवा समानता होने पर भी बाह्य परिस्थितियों की असमानता के कारण सुख-दुःख के अनुभव में भिन्नता आना स्वाभाविक है।

बाह्य पदार्थों अथवा साधनों की प्राप्ति के कई कारण हैं। उन सब कारणों को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं: अपने पुरुषार्थ अर्थात् प्रयत्न द्वारा पदार्थ की प्राप्ति और स्वतः अर्थात् बिना किसी प्रयत्न के वस्तु की उपलब्धि। प्रयत्न द्वारा वस्तु की प्राप्ति में अनेक बाह्य कारणों के साथ ही साथ पुण्य-पाप रूप आन्तरिक कारण भी अपना यथोचित योगदान करता है। व्यक्ति का किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना उसकी बुद्धि, शक्ति, विचारधारा, विश्वास आदि पर निर्भर करता है। ये सब गुण व्यक्ति के पुण्य-पापपुंज के अनुसार होते हैं अर्थात् जिस समय व्यक्ति के व्यक्तित्व का जैसा रूप होता है उस समय वह उसी के अनुरूप बुद्धि आदि के द्वारा बाह्य परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्रयत्न करता है। उसके पुण्य-पाप से सर्वथा असम्बद्ध बाह्य परिस्थितियों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता की स्थिति में फलप्राप्ति में अन्तर आना अर्थात् कभी इच्छित फल की प्राप्ति होना, कभी इच्छित फल की प्राप्ति न होना, कभी अधिक फल की प्राप्ति होना, कभी कम फल की प्राप्ति होना इत्यादि उसके पुण्य-पाप पर निर्भर नहीं है। इसके लिए न उसके पुण्य की प्रशंसा करनी चाहिए, न उसके पाप की निन्दा। जहाँ तक उसकी बुद्धि, शक्ति, श्रमशीलता आदि का फलप्राप्ति से सम्बन्ध हो वहीं तक उसके पुण्य-पाप को सहरना-कोसना चाहिए। संयोगवशात् अल्प प्रयत्न करने पर भी अधिक लाभ हो सकता है तथा प्रचुर पुरुषार्थ करने पर भी पर्याप्त लाभ नहीं हो सकता। इतना ही नहीं कभी-कभी पुरुषार्थ के अभाव में ही अकस्मात् भारी लाभ हो जाता है तथा इसके विपरीत कभी-कभी अथक प्रयत्न करने पर भी कुछ भी प्राप्त नहीं होता। इन सब दशाओं का पुण्य-पाप से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। किसी व्यक्ति का पुण्य-पाप उसके व्यक्तित्व को संचालित एवं प्रभावित करता है, उसके नियन्त्रण के अन्दर की परिस्थितियों को नियन्त्रित एवं निर्मित करता है। जो परिस्थितियाँ अथवा घटनाएँ उसके नियन्त्रण के बाहर हैं उसके लिए वह उत्तरदायी नहीं है, उनसे उसके पुण्य-पाप का कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी परिस्थितियाँ एवं घटनाएं अपने-अपने विशिष्ट कारणों से उत्पन्न होती हैं जिनका उस व्यक्ति से साक्षात् या असाक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं होता। संयोग-वशात् या अकस्मात् वे परस्थितियाँ तथा घटनाएँ उस व्यक्ति के सुख-दुःख का कारण बन जाती हैं। हाँ, उन परिस्थितियों एवं घटनाओं से प्रभावित होने की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

योग्यता उसकी अपनी होती है–उसके पुण्य-पाप की देन होती है।

बाह्य साधन अर्थात् धनादि की उपलब्धि पुण्य से ही होती है, ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है। पुण्यशालियों अर्थात् सदाचारियों की भांति पापी अर्थात् दुराचारी एवं भ्रष्टाचारी भी समृद्धि प्राप्त करते देखे जाते हैं। इतना ही नहीं, बहुधा पापी लोग समृद्धि में पुण्यात्माओं से आगे बढ़े हुए दिखाई देते हैं। इसका जो भी कारण हो, इतना निश्चित है कि पापपूर्ण आचरण से भी धनादि की प्राप्ति हो सकती है अर्थात् पापी भी समृद्धिशाली हो सकते हैं। समृद्धि हो या न हो, सुख-दुःख का अनुभव प्रधानतया आन्तरिक कारणों अर्थात् पुण्य-पाप के आधार पर होता है। समृद्धिशाली भी दुःखी देखे जाते हैं, जब कि निर्धन व्यक्ति भी सुख का अनुभव करने वाले होते हैं। विपुल संग्रह करने वाले भी दुःखी पाये जाते हैं जब कि अकिंचन भी सुखी दिखाई देते हैं। जैसे ऐसा नियम नहीं है कि धनादि की उपलब्धि पुण्य से ही होती है वैसे ही ऐसा भी नियम नहीं है कि पुण्य से धनादि की प्राप्ति होती ही है। पुण्यपूर्ण कृत्य हो अथवा पापपूर्ण कृत्य, परिस्थितियों की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता के अनुसार धनादि की प्राप्ति हो भी सकती है और नहीं भी जिस प्रकार धनादि की प्राप्ति पुण्ययुक्त एवं पापयुक्त अर्थात् अच्छे और बूरे दोनों प्रकार के कार्यों से हो सकती है उसी प्रकार धनादि का उपयोग भी पुण्यमय और पापमय दोनों प्रकार के कामों में किया जा सकता है। पुण्यमय अर्थात् सत्कार्य में किया जानेवाला धनोपयोग शुभकर्मों का उपार्जन करने वाला होने के कारण सुखद होता है, जब कि पापमय अर्थात् असत्कार्य में किया जाने वाला धनोपयोग अशुभ कर्मों का उपार्जन करने वाला होने के कारण दुःखद होता है। यही बात पुण्ययुक्त एवं पापयुक्त धनोपार्जन के विषय में भी समझनी चाहिए।

पुरुषार्थ द्वारा होने वाली अर्थात् प्रत्यत्नजन्य किसी वस्तु की प्राप्ति पुण्य-पाप से सम्बद्ध हो सकती है किन्तु बिना किसी प्रकार के पुरुषार्थ के अर्थात् स्वतः होने वाली धनादि की प्राप्ति का पुण्य-पाप से कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। जो साधन-सामग्री किसी के जन्म के पूर्व ही कहीं मौजूद हो और उसे संयोगवश बिना किसी प्रकार का पुरुषार्थ किये ही प्राप्त हो जाय तो इसमें उसके पुण्य का हाथ कैसे हो सकता है।? उसके जन्म के पूर्व तो उसका पुण्य वहाँ है ही नहीं अतः उस साधन-सामग्री के उपार्जन से उसका संबंध होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अनुभव तो यही बताता है कि उस सामग्री का उपार्जन किसी अन्य के पुरुषार्थ द्वारा ही हुआ है। वह तो संयोगवशात् उसका स्वामी बन गया है। उसने उस सामग्री के उपार्जन में किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं किया है। ऐसी स्थिति में वह साधन-सामग्री उसके पुण्य से कैसे सम्बद्ध हो सकती है? हाँ, उस सामग्री

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के निमित्त से होने वाला सुख-दुःख अवश्य उस व्यक्ति के पुण्य-पाप से सम्बद्ध होती है। यही बात संयोगजन्य साधन-सामग्री की अप्राप्ति के विषय में भी समझनी चाहिए अर्थात् स्वतः प्राप्त निर्धनता पाप का परिणाम नहीं है। अपितु उस निर्धनता से होने वाला सुख-दुःख पुण्य-पाप का परिणाम है। इस प्रकार पुण्य-पाप का फल अमीरी-गरीबी नहीं अपितु सुख-दुःख है। चूंकि शुभाशुभ कर्मों का सम्बन्ध शरीर से है अतः पुण्य पाप और तत्परिणामरूप सुख दुःख भी शरीर से ही सम्बद्ध है। बाह्य पदार्थ सुख-दुःख की उत्पत्ति में निमित्त-कारण हो सकते हैं। सुख-दुःख का उपादान-कारण तो शुभाशुभ कर्मरूप पुण्य पाप ही है।

— मोहनलाल मेहता

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिक्रियाएँ

१

'कविता और अर्थ' (परामर्श (हिन्दी), सितंबर ८१) में जगदीश शर्मा ने निष्कर्ष निकाला है कि "कला का सरोकार 'रचना' से उत्पन्न काव्यानुभव से है, अर्थ से नहीं" (पृ. ३७४) और यह अनुभव सर्जनात्मक वैभव के आस्वाद में निहित रहता है। किन्तु यह वही रसवादी, कलावादी या मज़ावादी दृष्टि है जो राजकला के दौरान उदित हुई और सामंतकाल में पल्लवित एवं पुष्पित हुई। उसका आधार वही आदर्शवादी चिन्तन है जिसने आत्मा अथवा चेतना को एक निरपेक्ष सत्ता के रूप में प्रस्थापित किया। वास्तविकता यह है कि चेतना व्यक्ति के सामाजिक होने की देन है। सामाजिकता के अभाव में व्यक्ति अनुभव-प्रलाप, एकालाप एवं चीख़ से अधिक कुछ नहीं है। यह रचनाकार की सामाजिकता ही है जो इन्द्रियानुभूति को सृजन में बदलती है। रचना का आशय उसमें सन्निहित रहता है। यह तो लेखक भी मानता है कि आशय को सर्जनात्मक वैभव के मध्य ही ग्रहण किया जा सकता है। पर, यह विकल्प नहीं, अनिवार्यता है। आशय को गौण वे ही मानेंगे, जो रेलगाड़ी में सफर कर रहे हैं और अपना पाथेय लिये हैं; जिस क्षण पाथेय चुरेगा व्यक्तिवादी चीखेगा, अन्यथा आत्मरक्षा में अन्य यात्रियों से संवाद की स्थिति में आना होगा। चीख़ में कोई सर्जनात्मक वैशिष्ट्य कैसे माना जा सकता है ? अतः बुनियादी बात यह है कि आशय को रचना से दुहना नहीं होता, वह तो रचनाकार की अनुभूति में निहित रहता है। कभी उसको खराद कर अधिक पैना बनाती है; अनुभव को गहरा करती है। खरीदे जाने का वैशिष्ट्य तो है, किन्तु क्या खरीदा गया है, किस शक्ल में यह उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। वही संवेदना की चरम परिणति है। जो खरीद से बना वही आशय हुआ। खरीद अनुभव चमत्कृत भले ही करे लेकिन रचनामूल तक नहीं ले जाता। सर्जनात्मक वैभव को कथ्य से अलग नहीं कर सकते हैं। रचना का संश्लिष्ट वैभव ही काव्यानुभव देता है। उसमें वस्तु की 'अनाटॉमी' पहले है, सुडौलता-मांसलता बाद की चीज है। इसलिए अनुभव को चीख होने से बचाने के लिये रचनाकार अपने संवाद में वस्तु से जितना अधिक जूडा होता है उतनी महान् कला होती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्जनात्मक वैशिष्टच तो सम्मान मात्र है–अपूर्व सम्मान। महत्व तो कथ्य का रहता है। प्रयोजन-सिद्धि के लिये ही कला का जन्म हुआ है।

– गोविंद प्रसाद

११८।२, बलदेव पार्क
कृष्णनगर, दिल्ली–११००५१

(२)

श्री गोविन्द प्रसाद की प्रतिक्रिया पढ़ कर मुझे ऐसा लगा कि मेरे लेख के कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर उन्होंने समुचित ध्यान नहीं दिया है। कुछ ऐसी बातों की कल्पना उन्होंने अपनी ओर से कर ली है जो मैंने नहीं कही हैं। कहीं-कहीं उनके अपने विचारों के अंतर्विरोध भी उनकी प्रतिक्रिया में झलक रहे हैं।

मेरे लेख में पृष्ठ ३६६ पर कहा गया है कि "अधिकांशतः कविता में कवि का आशय व्यक्त होता है।" इससे स्पष्ट है कि मैंने कविता में अर्थ की सत्ता स्वीकार की है। मैंने निषेध उस दृष्टिकोण का किया है जो कविता को विघटित करके उससे निचोड़े हुए अर्थ के अधार पर रचना का कलात्मक मूल्य निर्धारित करता है। पृष्ठ ३६७ पर मेरे इन वाक्यों पर ध्यान देने की आवश्यकता है: "काव्य का अर्थ-ग्रहण आपत्तिजनक नहीं है, लेकिन काव्यानुभव के मूल्य पर— दूसरे शब्दों में कविता को विघटित करके— प्राप्त किया गया अर्थ कला की ओर पीठ किए रहता है। इसलिए उसका कोई कलात्मक मूल्य नहीं होता।" जब मैं यह कहता हूँ कि "किसी रचना का आशय कलात्मक दृष्टि से तभी मूल्यवान् हो सकता है, जब उसके सर्जनात्मक वैभव की चेतना के मध्य वह ग्रहण किया गया हो" तो मैं इसे विकल्प नहीं, अनिर्वायता ही मानता हूँ, जैसा कि इस वाक्य में 'तभी' शब्द के प्रयोग के स्पष्ट है। यदि मैं इसे अनिवार्यता नहीं मानता तो सर्जनात्म वैभव से अलगाये हुए अर्थ का कलात्मक मूल्य क्यों अस्वीकार करता?

सर्जनात्मक वैभव के मध्य अर्थ की स्वीकृति रचना-कर्म के सामाजिक आयामों की स्वीकृति है। लेकिन उक्त लेख का यह प्रकृत विषय नहीं है। पृष्ठ ३६५ पर मैंने लिखा है, "काव्य-भाषा में कल्पना-शक्ति समाई रहती है।" कल्पना-शक्ति 'चीख' नहीं होती; उसके मूल में कलाकार की आत्म-चेतना और सामाजिक परिवेश की अंतःक्रिया सक्रिय रहती है। लेख में यह बात इसलिए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं कही गई कि यह समस्या उस संदर्भ में अवधान का केन्द्र नहीं है। 'चीख' की कल्पना मेरी नहीं, प्रतिक्रियाकार की है।

कथ्य का अपना मूल्य कला-मूल्य नहीं हो सकता, यह बात मुक्तिबोध जैसे मार्क्सवादी साहित्य-मर्मज्ञ के समीक्षा कर्म में दोनों के मध्य किए गए अन्तर से स्पष्ट है, जिसकी चर्चा मैंने अपने लेख में की है।

जिसे मैं रचना की 'मांसलता' कहता हूँ, वह माध्यम में समाई हुई कल्पना का साक्षात्कार है। काव्य-भाषा को द्वितीय संकेत व्यवस्था मानने के विरुद्ध विभावन पर मैंने इसीलिए जोर दिया है (पृ. ३६४)। कल्पना के भीतर समाज-चेतना, संस्कृति, विचारधारा आदि बहुत सी चीजें घुली रहती हैं। इस प्रकार 'मांसलता' वही है जिसे श्री गोविन्द प्रसाद ने 'रचना का संश्लिष्ट वैभव' कहा है। इस संदर्भ में 'खराद' के सादृश्य का प्रयोग असंगत लगता है। 'खराद' ऊपर से की गई सँवार होती है जब कि 'संश्लिष्टता' से 'सामग्री' और सँवार का द्वैध न होकर रचना की अंतरंग एवं आवयविक समग्रता सूचित होती है।

सर्जन के सामाजिक आयामों और वस्तु और रूप के सम्बन्धों पर अलग से विचार करने की आवश्यकता है। 'सर्जन का अभिप्राय' और 'रूप तथा रूपवाद' शीर्षक दो लेखों में मैंने क्रमशः इन दो विषयों पर थोड़ा-बहुत विचार किया है। इन लेखों के प्रकाशित होने पर इस सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण, शायद, और स्पष्ट हो सके।

— जगदीश शर्मा

५६, गोल्फ कोर्स,
जोधपुर–३४२००१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रंथ-समीक्षाएँ

१

भगवत् गीता : इन दि लाइट आफ श्री अरविन्द, अनुवादक और संपादक डॉ ह. माहेश्वरी, प्रकाशक-लेखक स्वयं, वितरक–शब्द श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरि, मूल्य–२०–०० ।

भगवत् गीता पर असंख्य भाष्य और टीकाएँ लिखी गयी हैं और आगे भी लिखी जाती रहेंगी, क्योंकि इसमें जीवन के एक ऐसे मौलिक प्रश्न को उठाया गया है जिसका उत्तर देने का अर्थ है व्यवहार और परमार्थ विषयक सभी प्रश्नों का समाधान पा लेना। इसी से इसका कोई भी उत्तर असंख्य संभाव्य उत्तरों में से एक ही हो सकता है। किन्तु गीता अपना उत्तर इस प्रकार प्रस्तुत करती है जैसे मानो वह सभी संभव समाधानों का एक-साथ आकलन कर रही हो और तब भी एक संगत व्यवस्था दे रही हो। वास्तव में असंगतियाँ और विरोध विकल्प-बुद्धि के ग्रहण-व्यापार के क्रम में ही उत्पन्न होते हैं, सत् तो सब विरोधों की अविरुद्ध और आत्मसंगत स्थिति है। जो दृष्टि विकल्पों का अतिक्रमण कर अपने को सत् की सुर-धुन के साथ मिला देती है वह भी इसी प्रकार की व्यवस्था प्रकट करती है—जिसमें विरुद्ध विकल्प अविरुद्ध भाव में स्थिति पाते हैं। गीता की ऐसी ही दृष्टि है। किन्तु गीता के अन्यान्य भाष्यकारों ने उसमें अपनी वैकल्पिक व्यवस्थाएँ खोजने का प्रयत्न किया है, जैसे हम सत् में भी खोजने का प्रयत्न करते हैं। यही स्वभाविक भी है। किन्तु श्री अरविन्द इन सब भाष्यकारों से भिन्न हैं, वे गीता के और उसमें उठाये गए मूल प्रश्न के प्रति किसी सिद्धान्त के माध्यम से प्रस्तुत नहीं हो कर खुले : निर्विकल्प भाव से प्रस्तुत होते हैं। वास्तव में यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि उनका भाष्य इस दृष्टि से गीता के अनुरूप है कि वह भी सैद्धान्तिक आग्रह से मुक्त हो कर उस अनुभव और अर्थ का अवगाहन करता है जिसका साक्षात्कार गीता ने किया है, किन्तु यह भिन्नता भी है कि वह गीता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की दृष्टि का आधुनिक मानस् में अवधारण कर उसे आधुनिक पदावली में प्रस्तुत करता है। इसी से गीता पर उनका भाष्य अन्य सब भाष्यों से भिन्न प्रकार का है।

किन्तु श्री अरविन्द ने गीता का भाष्य एक-एक श्लोक की व्याख्या करते हुए नहीं किया, उन्होंने उसको समग्रतः ग्रहण कर उसके तात्पर्य के विभिन्न अवयवों को आधुनिक पदावली में प्रस्तुत किया है। किन्तु इसकी भी आवश्यकता थी कि गीता के प्रत्येक श्लोक को आधुनिक मानस् के लिए आधुनिक पदावली में प्रस्तुत किया जाय। माहेश्वरी जी ने अपनी इस पुस्तक में यही अवशिष्ट कार्य बहुत उत्तम रूप में किया है।

माहेश्वरी जी से दर्शन के सभी विद्यार्थी परिचित हैं, क्योंकि उन्होंने वर्षों तक दर्शन का अध्यापन किया है और अपने जीवन से अनेकों को प्रेरणा दी है। पिछले लगभग १२ वर्षों से वे श्री अरविन्द आश्रम में ही जा बसे हैं और श्री अरविन्द की जीवन-दृष्टि के अनुसार अपने जीवन को साधने में निरत हैं। इस प्रकार श्री अरविन्द की दृष्टि उनके लिए केवल पढ़ने-पढ़ाने की, या कहें जानकारी पाने और देने की वस्तु नहीं है बल्कि वह स्थिति है जो साध्य है, जो जीवन का अर्थ और तत्त्व है। इसलिए **गीता : श्री अरविन्द के प्रकाश में** का लेखन उनके लिए वास्तव में आत्मसाधना का ही एक पर्व कहा जा सकता है।

माहेश्वरी जी ने प्रत्येक श्लोक का अनुवाद करते हुए श्री अरविन्द की कृति एस्सेज आन गीता— में से ऐसे स्थल उनके साथ उद्धृत किये हैं जो श्री अरविन्द द्वारा उन श्लोकों को दृष्टि में रखकर लिए गए हैं। इस प्रकार माहेश्वरी जी ने भाष्य या व्याख्या के रूप में स्वयं कुछ नहीं लिख कर श्री अरविन्द को ही प्रस्तुत किया है, जो वास्तव में बहुत महत्वपूर्ण कार्य है। इसके अतिरिक्त, यह उनकी इस दंभ-हीनता का द्योतक भी है कि वे अधिकारी चिन्तकों, साधकों या द्रष्टाओं से आगे कुछ कह सकते हैं—जिस दंभ से हम लोग प्रायः ही ग्रस्त हैं। उन्होंने अपना कार्य केवल श्लोकों का अंग्रेजी में अनुवाद करने तक सीमित रखा है। किन्तु अनुवाद अनुवादक के कृतित्व को कम व्यक्त नहीं करता. विशेषतः तब जब वह किसी काव्य-कृति का हो। फिर गीता तो केवल काव्य-कृति ही नहीं है, न वह मात्र दार्शनिक कृति है. वह एकसाथ दोनों ही है और दोनों से कई अधिक है, वह एक ऐसे तत्त्वदर्शी की कृति है जो पूरी संस्कृति का मुख बन कर बोल रहा है। ऐसी कृति का अनुवाद उतना ही सफल हो सकता है जितना अनुवादक स्वयं उस दृष्टि से तादात्म्य सिद्ध कर सकता है। माहेश्वरी जी के अनुवाद में मूल के गौरव, विपुलता, व्यञ्जकता, और मार्मिकता की पूर्ण रक्षा हुई है। इतना नहीं, मूल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की भाषा में जो प्रसाद गुण है उसकी भी अनुवाद में न केवल रक्षा हुई है बल्कि यहाँ वह हमें और भी अधिक मिलता है। पुस्तक का मुद्रण और सज्जा भी, श्री अरविन्द मुद्रणालय के द्वारा मुद्रित अन्य प्रकाशकों के अनुरूप ही अत्युत्कृष्ट है।

— यशदेव शल्य

डी-५९
बापुनगर
जयपुर-४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दिनकर के पत्र– सं. कन्हैयालाल फूलफगर; प्रका.–दिनकर शोध संस्थान ८२/२ई, विधान सरणी, कलकत्ता–७००००४; पृ. डिमाई ३२ + २८० = ३१२; सजिल्द; मूल्य–४०/–

आत्मकथा और पत्र, दो ऐसे माध्यम हैं जिससे उनके लेखक को संपूर्णता में जाना और पकड़ा जा सकता है। सचाई इन दोनों का प्राणतत्त्व है। पर आत्मकथा के लेखक को फिर भी गोपन का अवसर रहता है। किन्ही विशेष क्षणों की सहज प्रतिक्रिया का जैसा निश्छल भाव पत्रों में रहता है, आत्मकथा में वैसी त्वरित क्रिया न होने से कथयिता की आत्मसजगता कुछ अधिक होती है और वह चयन और गोपन के आन्तरिक आग्रह के दबाव में भी काम कर सकता है। पत्र, विशेषत: आत्मीय जनों को लिखे गये पत्र, मनुष्य के अन्तर्तम की अभिव्यक्ति होते हैं और मनुष्य बाहर-भीतर जैसा है उसे सीधे-सहज रूप में प्रस्तुत करते हैं। कुशल राजनीतिज्ञों के व्यवहार-प्रधान पत्रों की स्थिति भले ही अलग हो, उक्त प्रकार के पत्रों के माध्यम से उनके लेखक की अन्तरात्मा में सरलता से गहरे तक उतरा जा सकता है, और उनके आधार पर उसके चरित्र और व्यक्तित्व का प्रामाणिक आकलन किया जा सकता है। इस दृष्टि से साहित्यकारों के ऐसे पत्रों का प्रकाशन बड़ा महत्वपूर्ण होता है।

श्री फूलफगर ने दिनकर शोध संस्थान की ओर से स्व रामधारी सिंह 'दिनकर' के पत्रों को संकलित करके इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। संकलन में ७१ से अधिक मित्रों तथा स्वजनों को लिखे गये बहुसंख्य पत्रों को सम्मिलित किया है। सन् १९३४ से लेकर १९७४ में दिनकर जी के देहावसान तक ४० वर्षों की दीर्घ अवधि में लिखे गए ये पत्र दिनकर के संघर्षमय जीवन की साक्षी देते हैं। परिवार, साहित्य और राजनीति के विविध स्तरों से जुड़े इन पत्रों में मात्र व्यक्तिगत सूचनाएँ नहीं हैं। इनमें व्यक्ति, लेखक और राजनीति के दबाव को भोगते रचनाकार के त्रिविध व्यक्तित्व का समाहार है। दिनकर की पारिवारिक कठिनाइयाँ, उनसे उत्पन्न उनकी बेचैनी, बात को सुलझाने का सद्-भावपूर्ण प्रयत्न जैसे इन पत्रों में मुखर है, वैसे ही लेखन के क्षेत्र में अपने पैर जमाने की सजग आकांक्षा, उसके लिए मित्रों की सदाशयता को प्राप्त करने की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तत्परता और लेखन, प्रकाशन तथा विक्रय की योजना की संतत चिंता भी व्यक्त हुई है और दिनकर को उनकी समग्र संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करती है। दिनकर अपनी समस्याओं से जूझते हुए भी मित्रों या संपर्क में आये व्यक्तियों के हितचिन्तन के लिए तत्पर रखते हैं। दूसरों की योग्यता के अनुकूल उन्हें सन्मान या अधिकार-पद मिले, इसकी चिन्ता उनके कई पत्रों से सहज उजागर होती है। कुंवर चद्रप्रकाश सिंह, डॉ प्रेमस्वरूप गुप्त, रामजी पाण्डेय, वीरेन्द्रकुमार जैन के विषय में उनकी तत्परता डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' तथा स्वयं वीरेन्द्रकुमार जैन को लिखे पत्रों से स्पष्ट होती है। पौत्र-पौत्री के विवाह की चिन्ता और उससे उत्पन्न मानसिक तनाव उनके अनेक पत्रों में गहराया हुआ दीखता है। समाज की वर्तमान स्थिति का कटु अनुभव और जातिवाद के फैलते विष के मारक प्रभाव को दिनकर ने गहरी पीड़ा के साथ भोगा है। उनकी आत्मा उससे निरंतर युद्ध-रत रहती है, यह उनके पत्रों से साफ़ प्रकट है। कवि और लेखक के रूप में वे अपने कर्तृत्व के प्रति जितने आत्मसजग हैं, अपने आलोचना के प्रति उतने ही तटस्थ और अप्रभावीत भी। रचना-कर्म उनके लिए एक अनिवार्य धर्म था, जिसका पालन करने के लिए वे स्वयं ही नहीं ललरते रहे या अवकाश न मिलने पर पीड़ित होते रहे, बल्कि कवि-मित्रों को उत्साहित और प्रेरित भी करते रहे। उसके लिए उनकी छटपटाहट उनके अनेक पत्रों में व्यक्त हुई है। इसी प्रकार, अपने लिए दूसरों का अहित करके चलना उन्होंने नहीं सीखा। सुधांशु जी के प्रति आदरभाव और उनके अस्वास्थ्य के समय की आवश्यकता का अनुभव करके ही उन्होंने हिंदी-ग्रंथ अकादमी का अध्यक्ष पद स्वीकार नहीं किया। दिनकर अपने कर्मशील जीवन में मनुष्य-धर्म का निर्वाह करते विषय स्थितियों से जूझते रहे और अन्ततः छीजते-छीजते समाप्त हो गये। पुत्र की ओर से मिले कष्ट ने उन्हें तोड़ डाला, पर वे अपने कर्तव्य से विरत नहीं हुए। अपनी मानसिक पीड़ा को उन्होने आचार्य किशोरीदास वाजपेयी को एक पत्र में व्यक्त करते हुए कहा है–"दिमाग के भीतर खंजर घूमता रहता है। बड़ी मुश्किल से उसे रोक पाता हूं। मै जीवन में चारों ओर से घिर गया हूं। मृत्यु और वैराग्य के सिवा तीसरा दरवाजा दिखायी नहीं देता हैं।" सघन पीड़ा और आत्ममंथन के संत्रास को भोगते जीवन की इससे बढ़कर सहज अभिव्यक्ति और क्या हो सकती है? सरस्वती और लक्ष्मी के बैर को बुझाने की कोशिश में उन्होंने बड़ी कटुता से अनुभव किया था–"हम जिस समाज में जी रहे हैं, उसके प्रोप्रायटर राजनीतिज्ञ हैं मैनेजर अफसर हैं, बुद्धिजीवी मजदूर हैं। बूढ़ा मजदूर भर-पेट मजदूरी नहीं कमा सकता, वही मेरा हाल है।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दिनकर के पत्र उनके हृदय की भाषा हैं। सादगी और सहज अभिव्यक्ति उनकी प्रकृत विशेषताएँ हैं। अपनी सहजता में जैसे वे जबतब अँग्रेज़ी शब्दों, वाक्यों और उद्धरणों का प्रयोग करने लगते हैं; वैसे ही भावावेग में कविता की पंक्तियाँ भी, चाहे वे अपनी हों या दूसरों की, चाहे हिंदी की या उर्दू की; उनके कथनों में रंग भर लाती हैं। अपने चारों ओर के प्रति उनकी सजगता, इन पत्रों में उतनी ही मूर्त और मुखर है जितनी अपने व्यक्तिगत जीवन के प्रति है। छोटे-बड़े पत्रों में उनकी कर्म-तत्परता, विरोध सहन करने की तटस्थतापूर्ण क्षमता और संवेदनशीलता से पाठक का निरंतर साक्षात्कार होता रहा है।

श्री फूलफगर ने इन्हें एकत्र करके व्यक्ति-क्रम से व्यवस्थाबद्ध किया है। इस कार्य की कठिनाई से परिचित पाठक उनके कठिन श्रम का अनुमान कर सकते हैं। श्री फूलफगर इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए बधाई के पात्र हैं। इतना अवश्य है कि इस व्यवस्थापन में पाठक को तिथियों का ध्यान रखते हुए सभी पत्रों के बीच से दिनकर के जीवन की घटनाओं का क्रम जोड़कर उनके संपूर्ण व्यक्तित्व का रूप संजोने का श्रम स्वयं ही करना पड़ेगा, क्योंकि पत्रों में व्यक्तिशः तिथियों का बिखराव आ गया है। पुस्तक में डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन' द्वारा लिखित 'आमुख' अपने-आप में पत्र-साहित्य के परिचय का एक महत्त्वपूर्ण विवरण-पत्र भी है और दिनकर के समग्र व्यक्तित्व का उनके पत्रों के आधार पर प्रस्तुत एक सच्चा चित्र भी है। स्वयं फूलफगर जी की 'अपनी बात' से कई परिचित परिचित तथ्यों के सूत्र हाथ आते हैं। उनका श्रम सराहनीय है, सफल भी।

—आनंद प्रकाश दीक्षित

३

शोध—(पत्रिका)- प्रकाशन—नागरी प्रचारिणी सभा, आरा (भोजपुर, बिहार) सं—डॉ. बनारसीप्रसाद भोजपुरी तथा डॉ. राजाराम जैन.

'शोध' आरा की नागरी प्रचारिणी सभा की साहित्य तथा संस्कृति की गवेषणापूर्ण पत्रिका है, जिसका प्रथमांक (२०३६ विक्रमाब्द : १९७९ खृष्टाब्द) हमारे हाथों में है। शोध के क्षेत्र में आरा की इस सभा ने पुस्तक रूप में कुछ प्रकाशन इसके पूर्व प्रस्तुत किये हैं, किन्तु पत्रिका के प्रकाशन के रूप में यह इसका पहला प्रयास है। पत्रिका का उद्देश्य भोजपुर के साहित्य, वहाँ की संस्कृति और लोक-जीवन को प्रकाश में लाना, उन पर नवीन शोध के लिए लेखकों को प्रेरित करना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और राष्ट्रलिपि के रूप में नागरी को स्वीकार करते हुए उन शोध के परिणामों को प्रकाशित करना है। अपने इस उद्देश्य को सम्पादक द्वयने अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में सुस्पष्टतया प्रस्तुन किया है। उन्होंने अपने प्रदेश की साहित्यिक विभूतियों का ससम्मान उल्लेख करते हुए शोध कर्ताओं को आह्वान किया है कि वे उनके साहित्य के अनुशीलन, प्रचार-प्रसार पर ध्यान दें। इन रचनाकारों में जहाँ प्रतिष्ठित लेखखों के नाम परिगणित हैं, वहाँ शाहाबाद जिले के प्रगतिशील रचनाकारों का भी ससम्मान उल्लेख है। साहित्य को पीढ़ियों या वर्गों में बाँटकर देखने की संकुचित दृष्टि से बचकर सम्पादक द्वयने अपने प्रदेश की अस्मिता को जगाने का एक संगठनात्मक कार्य आरंभ करना चाहा है। इस क्रम में उन्होंने प्रदेश की मित्र साहित्यिक प्रवृत्तियों का परिचय भी दिया है।

हिंदी में सभा और सम्मेलन या परिषद् से प्रकाशित की जानेवाली शोध-पत्रिकाओं का विषयक्षेत्र विस्तृत रहा है। उनकी तुलना में 'शोध' प्रादेशिक जागरण का स्वर लेकर उपस्थित है और हिंदी में इस क्षेत्र के योगदान का आकलन करना चाहती है। यह इसकी विशिष्टता है; सीमा और संकोच न बन जाय–यह अपेक्षित है।

वर्तमान अंक में संकलित लेखों में पर्याप्त वैविध्य है और उसकी सीमा रेखा में भोजपुरी लोकसाहित्य, आधुनिक हिंदी-साहित्य-सेवा जैसे लेखों के अतिरिक्त भोजपुर के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक महत्व को उजागर करनेवाले, आर्य-संस्कृति में बिहार की भूमिका निश्चित करनेवाले अथवा प्राचीन साहित्य में भोजपुरी भाषा के मूल रूप को खोजने अथवा उस क्षेत्र के विस्मृत किंतु महत्वपूर्ण कवि और लोक-गायक का विस्तृत परिचय देनेवाले लेख तो हैं ही, कन्नड के आदिकवि पम्प पर भी एक लेख प्रस्तुत है जिसे कन्नड-साहित्य के महारथी विद्वान पं. के. भुजबली शास्त्री ने कन्नड़ लिपि में प्रस्तुत किया था। इसका नागरी-लिप्यंतरण श्री. एस. राजरत्नम् ने तथा हिंदी शब्दानुवाद श्री. एस. रामचंद्रन् ने किया है। अन्तिम लेख में आरा नागरी प्रचारिणी सभा का इतिहास और उसकी विकास कथा भी दी गयी है।

९० पृष्ठ की इस पत्रिका ने अपने उद्देश्य के अनुरूप प्रस्तुत अंक में महत्त्व-पूर्ण सामग्री सामने लाने का प्रयास किया है और शोध के क्षेत्र में क्षेत्रीयता की दृष्टि से पहल की है। हिंदी का विशाल वाङ्मय इस प्रकार के प्रयासों से उसके इतिहास में नये पन्ने जोड़ सकता है। हिंदी को अपने व्यापक रूप को पहनानने और अपने गौरव की अभिवृद्धि करने में इस प्रकार के कार्य से सहकार मिले;

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह शुभ ही है। हम 'शोधं' का 'परामर्श' परिवार की ओर से हार्दिक स्वागत करते हैं और उसकी स्तरीयता के प्रति प्रसन्नता व्यक्त करते हैं।

—आनंद प्रकाश दीक्षित

४

बाइबिल के हिंदी अनुवादों की भाषा —ले. डॉ. मैथ्यु वेच्चुर ; प्रका. संत पौलुस प्रकाशन, चैथम लाइन्स, इलाहाबाद–२; पृ.–८०; अजिल्द;–१२ रु.

प्रस्तुत पुस्तिका डॉ. वेच्चुर के डी. फिल्. के शोध प्रबंध " १९ वीं शताब्दी के बाइबिल के हिंदी अनुवादों की भाषा " की भूमिका है। खड़ी बोली हिंदी गद्य में ईसाइयों ने अपने धर्मग्रंथ बाइबिल के अनेक अनुवाद प्रकाशित किये। हिंदी-भाषा और साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने अन्य कार्य भी किये। उससे उनके धर्म प्रचार को भले ही बल मिला हो, हिंदी को भी अपने प्रचार-प्रसार में सहायता मिली और उसकी उपयोगिता भी सिद्ध हुई। हिंदी में शोधकर्ताओं ने इन क्षेत्रो में किये गये कार्यों का शोध करके कई प्रबंधों की रचना की है : डॉ. वेच्चुर के प्रस्तुत प्रबंध का विषय बाइबिल के अनुवादों तक सीमित है किन्तु चूंकि उनका अध्येय भाषा है और अकेले 'नया नियम' के ही ३० अनुदित संस्करण मूलतः प्रकाशित हो चुके हैं तथा उनके परवर्ती संस्कारणों की संख्या कहीं अधिक है, अतः अपनी सीमा में भी यह अध्ययन काफी विस्तृत और रोचक है। डॉ. वेच्चुर ने अपने अध्ययन का विषय छोटी-छोटी अनुदित उन पुस्तिआओं को नहीं बनाया है जो प्रतिवर्ष मुक्त बाँटी जाती है और जिनकी संख्या, उनकी दृष्टि में, लाखों है। इस विपुल सामग्री को देखकर डॉ. वेच्चुर १९ वीं शती को 'बाइबिल युग' ही कहना पसंद करते हैं। इन अनुवादों की भाषा में ग्रामीण शब्दों का भण्डार हिंदी की शक्ति है। डॉ. वेच्चुर ने इस बात को लक्षित करते हुए बाइबिल के अनुवादों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन किया है और प्रस्तुत भूमिका में बाइबिल के अनुवादों का एक-एक नमुना, प्रभु-प्रार्थना, देकर उसका कुछ परिचय पाठक को करा दिया है। संपूर्ण भूमिका निष्कर्ष सहित ६ शीर्षकों में विभाजित है। ये शीर्षक हैं—१ बाइबिल का सामान्य परिचय, २ बाइबिल की मूल भाषा और अनुवाद, ३ बाइबिल के हिंदी अनुवाद ४ अनुवाद, ५ बाइबिल के अनुवादों की भाषा एवं सामयिक हिंदी तथा ६ निष्कर्ष।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

डॉ वेच्चुर ने सामान्य परिचय में इस बात को स्पष्ट किया है कि बाइबिल की हस्तलिखित प्रतियां ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ही प्राप्त होती है और संसार की १९०० भाषाओं में संपूर्ण बाइबिल का अनुवाद मिलता है तथा अनेक भाषाओं और बोलियों में यह आंशिक रूप से अनुदित है। बाइबिल के ग्रंथों का नामोल्लेख करते हुए डॉ. वेच्चुर ने कहीं-कहीं उनके क्रम का ध्यान नहीं रखा है, साथ ही 'न्यू टेस्टामेंट' शब्द को लॅटिन से व्युत्पन्न बताते हुए भी उसकी व्युत्पत्ति कहीं नहीं बताई है। 'नया नियम' के सत्ताइस ग्रथों को 'सर्वसामान्य' कहकर डॉ. वेच्चुर वस्तुतः क्या कहना चाहते हैं यह स्पष्ट नहीं होता। इसी प्रकार 'मृतक संस्करण' जैसे प्रयोग से भी उनका अभिप्राय स्पष्ट समझ में नहीं आता।

डॉ. वेच्चूर ने बड़े परिश्रमपूर्वक तथा वैज्ञानिकरीति से अपनी सामग्री जुटायी तथा उसका व्यवस्थापन किया है। अनेक विद्वानों के ग्रंथों का अध्ययन करते और मूल सामग्री को देखते हुए उन्होंने प्रामाणिकता की रक्षा की है। उनकी धारणा है कि डॉ. वार्ष्णेय के द्वारा प्रतिपादित यह मत कि 'सर्वप्रथम हिंदी अनुवाद फोर्ट विलियम कालेज से संस्कृत और हिंदू धर्मशास्त्र के अध्यापक तथा कलकत्ता बेंच के प्रधान हेनरी टामस कोलब्रुक ने किया' ठीक नहीं है क्योंकि "वास्तव में यह अनुवाद और उसका प्रकाशन कभी हुआ ही नहीं।" अतः उनकी सम्मति है कि "विलियम मेरी का १८११ का अनुवाद ही हिंदी का पहला अनुवाद है"

डॉ वेच्चुर की इस भूमिका से अन्याय हिंदी अनुवादों का इतिहास तथा उनकी भाषा की जानकारी तो होती ही है उन्होंने अन्यान्य हिंदी बोलियों, भारतीय भाषाओं तथा हिंदी अनुवादों और संस्करणों की प्रकाशन वर्ष, अनुवादक के नाम तथा प्रकाशन स्थान सहित तालिकायें देकर पाठकों तथा शोधकर्ताओं का विशेष उपकार किया है। अन्यान्य हिंदी तथा विदेशी साहित्यकारों के विचारों के विमर्श के आधार पर तैयार की गयी यह भूमिका रूप पुस्तक इस विषय की मूल्यवान् सामग्री प्रस्तुत करती है। पुस्तक पठनीय है।

—आनंद प्रकाश दीक्षित

५

भक्तिमीमांसा—सं. एवं व्याख्याकार—डॉ. विश्वनाथ शुक्ल; प्रका.—विवेक पब्लिकेशन्स समद रोड़, अलीगढ़ (उ. प्र.) सजिल्द; पृ. २४+४० = ६४; मूल्य—३० रु.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भक्ति के स्वरूप का निर्वचन करनेवाले सूत्र-ग्रंथों में 'नारद भक्तिसूत्र' तथा 'शाडिल्य भक्तिसूत्र' का नाम प्रसिद्ध है। 'भक्तिमीमांसा' भी सूत्र ग्रंथ ही है; किंतु इसके रचियता और रचनाकाल का कुछ पता नहीं है, अतएव यह इनसे सूत्र संख्या में बड़ा होकर भी वैसी ख्याति न प्राप्त कर सका। इस ग्रंथ का पहली बार संपादन, कुछ और भक्तिसूत्रों के साथ १९२३ ई. में डॉ. गोपीनाथ कविराजने 'सरस्वती भवन स्टडीज' में किया था। उक्त अंग्रेज़ी शोधपत्रिका में कविराज ने 'ए न्यू भक्तिसूत्र' नामक भूमिका दी थी और मूल सूत्रों के साथ ग्रंथ के थोड़े से प्रारंभिक भाग पर संस्कृत में टिप्पणी की थी। डॉ. विश्वनाथ शुक्ल ने प्रस्तुत संस्कारण में मूल संस्कृत सूत्र, हिन्दी व्याखया तथा परिशिष्ट में सूत्र सूची, पराभक्तिसूत्र (ले. हरिहरारण्य स्वामी) एवं उनका हिन्दी अनुवाद तथा भक्ति की कतिपय परिभाषाएँ देने के अतिरिक्त २४ पृ. की विस्तृत भूमिका देकर ग्रंथ को हिंदी पाठकों के लिए विशेष उपयोगी बना दिया है। 'प्राक्कथन' लेखक डॉ. रामसुरेश त्रिपाठी ने उनकी इस व्याख्या और गंभीर अध्ययन का बहुमान करते हुए उनके कार्य को इस साहित्य को लोकजीवन में प्रसार की दृष्टि से आगे बढाने-वाला माना है।

डॉ. शुक्ल ने एक ही जिल्द में भक्तिमीमांसासूत्र के साथ-साथ पराभक्तिसूत्र को भी हिंदी व्याख्या सहित प्रस्तुत करके पाठकों को दुहरा लाभ प्रदान किया है। हिंदी में उनका यह कार्य पहला होने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। अपनी विस्तृत भूमिका में डॉ. शुक्ल ने बड़े परिश्रमपूर्वक भक्तिमीमांसासूत्र के महत्व को प्रतिपादित करते हुए उसे श्रीमत्भागवत की परम्परा से जोड़ा है और सप्रमाण सिद्ध किया है कि उसका लेखक श्री. बोपदेव के 'मुक्ताफल' नामक संग्रहग्रंथ का अनुसर्ता है। इसी आधार पर उन्होंने उसका रचनाकाल १३ वीं शती ई. का उत्तरार्ध और १६ वीं शती के उत्तरार्ध के बीच माना है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से 'मुक्ताफल' के अनुसरण के साथ-साथ डॉ. शुक्ल उसे शांडिल्य भक्तिसूत्र की अपेक्षा नारदभक्तिसूत्र के अधिक निकट मानते हैं। उन्होंने लक्षित किया है कि भक्ति को ही परमपुरुषार्थ माननेवाले इस ग्रंथ की इतर ऐसे ग्रंथों से भिन्न परंपरा है जो मोक्ष को भक्तिद्वारा साध्य मानते हैं और उसे परमपुरुषार्थ कहते है। साथही यह सूत्रग्रथ भक्ति की प्रतिष्ठा भावरूप में नहीं रसरूप में करता है। व्यावहारिक दृष्टि से इसमें भक्ति को निर्गुण तथा सगुण द्विविध रूपात्मक माना गया है और सगुणभक्ति के अनेक भेदों पर प्रकाश डाला गया है। दो-दो पाद के चार अध्यायों और कुल १०२ सूत्रों में समाप्त इस भक्तिमीमांसासूत्र का अध्ययन इन सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण होगा और भक्ति के अध्यात्म तथा उसके काव्य-शास्त्रीय रूप को ग्रहण करने में इस ग्रंथ से विशेष सहायता प्राप्त होगी। डॉ.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शुक्ल ने अपनी व्याख्या में अधिकाधिक स्पष्टता के लिए विशेष शब्दों की व्युत्पत्ति करते हुए उनके अर्थ के निदर्शन का भी यथावश्यक प्रयोग किया है तथा भागवतादि ग्रंथों से सूत्र की पुष्टि के प्रमाण भी एकत्र किये हैं। इससे उनकी व्याख्या अत्यन्त उपयोगी बन गयी है। हमारी दृष्टि में एकाध स्थल ऐसा भी है जहाँ व्याख्या पर थोड़ा और ध्यान दिया जाना चाहिए था। यथा, तीसरे अध्याय के प्रथम पाद में ३१ वे और ३५ वें सूत्र में मेल बैठाने और पुनरुक्ति से बचने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसी प्रकार दूसरे पाद में ५० वें सूत्र की कुछ अधिक स्पष्ट व्याख्या अपेक्षित है।

सारतः, डॉ. शुक्ल का यह कार्य भूमिका और व्याख्या दोनों दृष्टियों से ही मौलिक तथा परमोपयोगी है और एक अल्पज्ञात किंतु महत्त्वपूर्ण ग्रंथ को हिंदी पाठकों की पहुँच में ले आने के लिए डॉ. शुक्ल बधाई के पात्र हैं।

—आनंद प्रकाश दीक्षित

आचार्य एव अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे (महाराष्ट्र)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आजीवन सदस्य (संस्था)

१. भुसावल आर्ट्स्, साइन्स तथा कामर्स कॉलेज
भुसावल, जि. जलगाँव (महाराष्ट्र)

२. कर्नाटक विश्वविद्यालय
पावटे नगर, धारवाड–३ (कर्नाटक)

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

(१८) प्रा. नागोराव ल. कुंभार
दर्शन विभाग
महात्मा बसवेश्वर महाविद्यालय
लातूर, जिला– उस्मानाबाद (महाराष्ट्र)

(१९) डॉ. ज. वा. जोशी
'लक्ष्मी' फ्लॉट नं. ९,
एल्. आई. सी कॉलोनी, पुणे–४११ ०

(२०) डॉ. (श्रीमती) पवनकुमारी
रिसर्च एसोसिएट
संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–११०००७

(२१) डॉ. नारायणशास्त्री द्राविड
आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर–४४००१०

(२२) डॉ. विजयकुमार भारद्वाज
दर्शन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–११०००७

(२३) प्रोफेसर एस्. पी. कनाल
५७०, डबल स्टोरी,
न्यू राजेंद्रनगर, दिल्ली–११००६०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साभार अभिस्वीकृति

शल्य, यशदेव; संस्कृति: मानव-कर्तृत्व की व्याख्या; राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९८१; पृ. १४३; मू. रुपये ६-००

वेच्चुर, (डॉ,) मैथ्यु; बाइबिल के हिन्दी अनुवादों की भाषा; सन्त पॉल्स प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८१; पृ. ८०

चतुर्वेदी, बनारसीदास (संपा.); लोक-क्रान्ति-पाथेय; सर्व सेवा संघ प्रकाशन, दिल्ली, १९८०; रु. ७०

Tondon, Vishvanath; Selections From Vinoba; Sarva Seva Sangha, Delhi, 1981; Rs. 50

०००

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए
क सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे
निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस
नसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित
फाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

रामर्श वैचारिक पत्रिका है अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा।
ह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों
संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यक-
नुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

नी विश्वविद्यालय के तत्त्वज्ञान एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र
मलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा
भा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

परामर्श (हिन्दी)

विभूतिसिंह यादव	वेदान्त में अस्तित्व और मरण
सुधाकर दीक्षित	श्री अरविन्द की उदात्त कल्पनाओं के सन्दर्भ में आचार्य शंकर
हिरेन्द्र प्रसाद साह	जगत् मिथ्या : एक आलोचना
नंदकिशोर आचार्य	संस्कृति के अन्तर्विरोध : भारतीय सन्दर्भ
नारायणशास्त्री द्राविड	आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (५)
मोहनलाल मेहता	जैन धर्म में प्रतिपादित पुण्य-पाप : एक विश्लेष
	प्रतिक्रियाएँ
	ग्रंथ-समीक्षाएँ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection